इकाई–1 : अणुव्रत दर्शन

संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 अणुव्रत दर्शन
1.3 अनन्त धर्मात्मक वस्तु
1.4 स्यादवाद
1.5 व्रत एवं तप
1.6 भारतीय परम्परा में व्रत एवं तप चिन्तन
1.7 जैन परम्परा की दृष्टि
1.8 व्रत अणु क्यों
1.9 अणुव्रत : स्वरूप
1.10 गुणव्रत, शिक्षाव्रत
1.11 व्रतों को भाषा और भावना
1.12 व्रत और अप्रमाद
1.13 व्रत का आधार
1.14 अणुव्रत रचनात्मक या निषेधात्मक
1.15 अणुव्रत और प्रतिरोधात्मक शक्ति
1.16 अणुव्रत की प्रेरणा
1.17 व्रत साधना : सामाजिक मूल्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.0 प्रस्तावना

अणुव्रत दर्शन, व्रत अणुव्रतों क्यों, व्रतों की भाषा और भावना, व्रत और अत्रमाद, व्रत का आधार, अणुव्रत रचनात्मक या निषेधात्मक, अणुव्रत और प्रतिरोधात्मक शक्ति, अणुव्रत की प्रेरणा, व्रत साधना : सामाजिक मूल्य समाज के विकास के साथ ही सामाजिक विकृतियां, दुष्टवृत्तियाँ एवं विकास के उन्मूलन की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो गई थी। आधुनिक युग में भी इस तरह के प्रयासों को गति मिली है, भारतीय परम्परा में अध्यकाल से हो सामाजिक सुधार हेतु अनगिनत प्रयास हुए हैं। जहाँ भारतीय परम्परा में न प्रयासों का स्वरूप आत्मपरक रहा वही पाश्चात्य प्रयासों में मुख्यत: वस्तुपरक दृष्टिकोण की दृष्टिगोचर होता है। अणुव्रत आन्दोलन ऐसे ही प्रयासों की श्रृंखला की ऐसी कड़ी है, जिसने आत्मपरक स्वरूप के उन्नयन से ही वस्तुपरक स्वरूप के उन्नयन को परिकल्पना की है।

1.1 उद्देश्य

व्यक्तिगत सुधारों से समष्ठिगत सुधारों को प्राप्त करने का विचार अणुव्रत आन्दोलन की अपनी विशेष मौलिकता है। इस इकाई के अन्तर्गत अणुव्रत–दर्शन को अच्छी तरह से समझा जा सकेगा।

1.2 अणुव्रत दर्शन

आचार दर्शन भारतीय दर्शन का आधार स्तम्भ है। व्यक्ति पुरूषार्थ के अन्तिम बिन्दु मोक्ष की प्राप्ति श्रेष्ठ आचार दर्शन को अपना कर ही कर सकता है। आचार दर्शन की दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में अधिकाधिक समानता है। जैन दर्शन आचार दर्शन का श्रेष्ठतम उदाहरण है। इसमें सन्यास मार्ग और गृहस्थ मार्ग के पथिकों के लिए अलग–अलग प्रकार की आचार संहिता का वर्णन है। आधार सहिंता व्रत प्रधान है। व्रतों का उनकी समग्रता में पालन करना महाव्रत कहलाता है और उनका खण्डश: पालन करना अणुव्रत कहलाता है। संन्यास पथ के पथियों के लिए महाव्रतों का तथा गृहस्थों के लिए अणुव्रतों का विधान किया गया है।

अणुव्रत–चर्या के संचालनकर्त्ता भगवान महावीर के समय वातावरण में अनैतिकता व्याप्त थी। अमानवीय दृष्टिकोण ने सामाजिक व्यवस्था को खोखला कर दिया था। समाज का अन्तिम वर्ग दीनता की स्थिति में जी रहा था। इस समय सामाजिक कुरीतियों का प्राधान्य था। जातिवाद, दास प्रथा, हिंसक यज्ञ अनुष्ठान, भेदभाव, असहिष्णुता, हिंसा इत्यादि के कारण व्यक्ति और समाज संत्रस्त था। समाज में नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने तथा व्यक्ति को आदर्श नैतिक व्यक्ति बनाने के लिए भगवान महावीर ने पंच अणुव्रतों का उद्घोष किया। ये हैं :– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। इन व्रतों का सर्वदेश (निःसीम) पालन सन्यासी करते हैं जबकि गृहस्थ इनका एक देश (ससीम) पालन करता है। निवृत्ति मार्गी के लिए यह महाव्रत हैं जबकि प्रवृत्ति मार्गी के लिए ये अणुव्रत हैं। इन अणुव्रतों का मन, वचन और काय से पालन करना आवश्यक है। इनके पालन के आधार पर इन्हें उत्कृष्ट अणुव्रती और मध्यम अणुव्रती की संज्ञा दी गई हैं। उत्कृष्ट अणुव्रती इन अणुव्रतों का मन, वचन, काय योग से कृत, कारित और अनुमोदना द्वारा पालन करता है जबकि मध्यम अणुव्रती मन–वचन–काय से कृत और कारित द्वारा ही इन अणुव्रतों का पालन करता है।

अनेकांतिक दृष्टिकोण के द्वारा जैन दर्शन ने व्रतों की मीमांसा अलग–अलग ढंग से की है। चूंकि प्रायः सभी दार्शनिक सम्प्रदाय मुख्य रूप से मोक्ष परक हैं। और इस नाते ये सभी किसी न किसी रूप में तत्वमीमांसा को ही मुख्य आधार बनाते हैं। इस दृष्टि से प्रायः सभी भारतीय दर्शनों की ज्ञान मीमांसा व आचार मीमांसा उनके अपने तत्वमीमांसीय आधार पर आश्रित होती है। जैन दर्शन की आचार मीमांसा भी उनके अपने तत्वमीमांसीय सिद्धान्त अनेकान्तवाद पर आधारित हैं। अनेकान्तवाद ही जैन दर्शन के उदार ज्ञान मीमांसा एवं आचार मीमांसा का प्रेरक तत्व है। अणुव्रत की परिकल्पना अनेकान्तवाद से ही अनुप्राणित होती है। अनेकान्तवाद–एकान्तवाद, आग्रहवाद, दृढ़तावाद इत्यादि का विरोधी है। यह संकीर्ण विचारधारा को असत्य मानता है तथा वैचारिक सहिष्णुता को प्राधान्य देता है। वस्तु के अनन्त धर्मों को सत्य मानता है। वस्तु के शाश्वत गुण और परिवर्तनशील पर्याय होते हैं। अतः गुण और पर्याय की अपेक्षा दृष्टि से वैचारिक विभिन्नता भी होती है। लेकिन जो अनेकांतवाद का समर्थक है वह इन वैचारिक विभिन्नता में भी सामंजस्य बैठा लेता है। वह अपेक्षा भाव के आधार पर वैचारिक विभिन्नता को आंशिक सत्य मानता है।

अनेकान्तवाद–एकान्तवाद से अनेकान्तवाद, आग्रहवाद से अनाग्रहवाद, दृढ़तावाद से सहिष्णुता की ओर ले जाने वाला कारक है। अतः यह अणुव्रत आन्दोलन का तात्विक आधार है। अणुव्रत आन्दोलन के प्रस्तुतकर्त्ता आचार्य तुलसी हैं। उन्होंने अपनी अनेकान्त दृष्टि में अणुव्रतों को वर्तमान समय में ध्यान में रखकर नवीन रूप प्रदान किया। उन्होंने चिन्तन किया कि तत्कालीन भौतिकवादी युग में इन अणुव्रतों का एक साथ पालन कर पाना संभव नहीं है अतः उन्होंने इन अणुव्रतों का अंशतः पालन करने पर बल दिया। इसी प्रकार उन्होंने समाज के अलग–अलग वर्गों के लिए अलग–अलग व्रतों का विधान किया। अतः अणुव्रत आन्दोलन के तात्विक आधार तथा कार्यक्रमों में अनेकान्ति दृष्टि दिखाई देती हैं, अतः आवश्यक है अनेकान्त के स्वरूप पर प्रकाश डाल कर विषय को स्पष्ट किया जाए।

1.3 अनन्त धर्मात्मक वस्तु :

जैन दर्शन वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का एक साथ समावेश मानता है। वस्तु से आशय द्रव्य और सत से है। अतः वस्तु, द्रव्य और सत् एकाधर्म शब्द हैं। अनन्त धर्मों से आशय वस्तु के स्वपर्याय और परपर्याय से तथा गुण और पर्याय से है। इन अनन्त धर्मों का ज्ञान सर्वज्ञ पुरुष ज्ञान से युक्त ही कर सकता है। साधारण मनुष्य द्रव्य के कुछ ही धर्मों (पक्षों) को जान पाता है। अतः उसे सापेक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है जिसे नय (आंशिक ज्ञान और परामर्श) कहा गया है। आधुनिक दृष्टिकोण ने भी इस का समर्थन किया है। विज्ञान ने इस तथ्य को भली प्रकार सिद्ध किया है कि जिस पदार्थ को स्थिर नित्य और ठोस समझते हैं, वह पदार्थ बड़े वेग से गतिशील है, न केवल गतिशील है वरन् परिवर्तनशील भी है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्सटीन ने कहा कि ''हम तो केवल सापेक्षिक सत्यों को जान सकते हैं, पूर्ण या निरपेक्ष सत्य को कोई पूर्ण दृष्टा ही जान सकेगा। जब मनुष्य सापेक्ष ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता को ही ज्ञान प्राप्ति की सर्वोच्च सीमा समझ लेता है तब वह सापेक्ष ज्ञान को ही निरपेक्ष ज्ञान मान लेता है और उसकी स्थापना हेतु तर्कवितर्क, चिंता, छल इत्यादि का सहारा लेता है। वह वस्तु के जिन पक्षों (धर्मों) की उपेक्षा करता है उनका अनस्तित्व मान लेता है। ऐसा करके वह तत्वमीमांसा को अपनी ज्ञान क्षमता के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा करता है। यह प्रवृत्ति एकांतवादी है और वैचारिक विभिन्नता और कट्टरतावाद को प्रोत्साहन देती है जो बौद्धिक हिंसा का कारक है।

एकांतवाद से आशय है किसी वस्तु के एक ही दृष्टिकोण को सर्वोपरि मानकर अन्य दृष्टिकोणों की अवहेलना करना। जैन दर्शन बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद को और वेदान्त दर्शन के शाश्वतवाद को एकान्तिक मत मानता है। वेदान्त दर्शन सत्ता की नित्यता को स्वीकार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करता है, जबकि बौद्ध दर्शन सत्ता की अनित्यता (पर्याय अनित्य होते हैं) को स्वीकार करते हैं। अद्वेत वेदान्त के अनुसार उपादान कारण (ब्रह्म की सत्ता) सत् है जबकि उसका व्यक्त-रूप मिथ्या (आभास मात्र) है। बौद्ध दर्शन केवल गुणों को स्वीकार करता है। द्रव्य की नित्यता स्वीकार करने पर उसके प्रति मोह उत्पन्न होगा जो अज्ञान एवं बंधन का कारण है। अत: सत्ता की नित्यता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जैन दर्शन तत्वमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में अनेकान्तवाद को स्वीकार करता है और एकान्तिक मतों को भी सापेक्ष सत्य के रूप में स्वीकार करता है। वह द्रव्य को गुण और पर्याय से युक्त मानता है। गुण स्थायी एवं अपरिवर्तनशील होते हैं और द्रव्य के साथ सदैव समवाय संबंध से युक्त रहते हैं जबकि पर्याय नित्य और परिवर्तनशील हैं तथा द्रव्य के साथ संयोग संबंध से युक्त होते हैं। जैन दर्शन द्रव्य के गुण और पर्याय के आधार पर बौद्ध व वेदान्त दर्शन के उपर्युक्त एकान्तिक मतों की सापेक्ष सत्यता को सिद्ध करता है। बौद्ध दर्शन द्रव्य के पर्याय पक्ष को प्रधान मानकर क्षणिकवाद का प्रतिपादन करता है। पर्याय धर्म के उत्पत्ति और विनाश दोनों होते हैं। वेदान्त दर्शन द्रव्य के गुण धर्म को प्रधानता प्रदान करके शाश्वतवाद का प्रतिपादन करता है।

जैन दर्शन ने एकांतवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने हेतु हाथी और कुछ अन्धे व्यक्ति का उदाहरण दिया है। ये व्यक्ति हाथी का आकार जानना चाहते हैं। कोई उसका पेट, कोई कान, कोई पूंछ तथा कोई उसकी सूंड पकड़ता है। इसका फल यह होता है कि उन अंधों में हाथी के आकार के संबंध में मतभेद हो जाता है। प्रत्येक अंधा अपने ज्ञान को ही सत्य मानता है। कोई उसे स्तम्भ के समान बताता है तो कोई उसे पंखे के समान बताता है तो कोई उसे रस्सी के समान। इस प्रकार उनके मध्य हाथी के आकार के संबंध में पूरा मतभेद उत्पन्न हो जाता है। जब उन्हें यह विश्वास दिलाया जाता है कि उनमें से प्रत्येक ने हाथी के एक-एक अंग का ही स्पर्श किया है तो उनका मतभेद दूर हो जाता इसी एकांतवादी दृष्टिकोण के कारण दार्शनिक एवं धर्मज्ञों के मध्य मतभेद बने रहते हैं। इन मतभेदों का सम्यक् रूप से निवारण अनेकान्तवाद द्वारा ही सम्भव है।

अनेकान्तवाद सत्ता के अनन्त धर्म मानता हैं, इन धर्मों के परस्पर विरोधी धर्म भी होते हैं और इनका ज्ञान प्राप्त करने के लिए विविध दृष्टिकोणों का सहारा लेना होता है ताकि सत्ता की सम्यक् अभिव्यक्ति हो सके। अत: अनेकान्तवाद से आशय है सभी दृष्टिकोणों की सत्यता से आस्था रख कर उन्हें तथ्य की विशेषाभिव्यक्ति मानना। यह दृष्टिकोण आग्रह और ऐकान्तिकता से अनाग्रह और समन्वयवाद की ओर प्रवृत्त होता है। सापेक्ष सत्यों के परस्पर विरोधी निष्कर्षों में अपेक्षा भाव से समन्वय स्थापित करके वह निरपेक्ष सत्यों की ओर प्रवृत्त करता है। वह व्यक्ति को वैचारिक संकीर्णतावाद से उभारकर उदारतावाद की ओर ले जाता है। जैन दर्शन के अनेकान्तवाद के समकक्ष ही आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक हेगेल के द्वन्दात्मक विचार माने जा सकते हैं, विरूद्ध धर्मात्मकता ही संसार का मूल है। किसी वस्तु का यथार्थ वर्णन के लिए हमें उस वस्तु संबंधी सम्पूर्ण सत्य कहने के साथ उस वस्तु के विरूद्ध धर्मों का किस प्रकार समन्वय हो सकता है, यह प्रतिपादन करना चाहिये।

अनेकान्तवाद सापेक्ष सत्य की अभिव्यक्ति स्याद्वाद के द्वारा करता है। स्यात् से आशय है ''कथन्चित्'' अर्थात् अपेक्षा भाव या विशेष दृष्टिकोण। स्याद्वाद् किसी विचारधारा अथवा निष्कर्ष को सापेक्ष सत्य मानता है अर्थात् किसी विशेष दृष्टिकोण या विशेष सन्दर्भ में उसकी सत्यता और उसके विपरीत दृष्टिकोण या सन्दर्भ में उसकी असत्यता को सिद्ध करता है। अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के मध्य भेद को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ''अनेकान्तवाद एवं विचार पद्धति है, एक-एक दृष्टिकोण या मनोवृत्ति है, जबकि इस मनोवृत्ति की निर्दोष अभिव्यक्ति स्याद्वाद है। अनेकान्त सिद्धान्त पक्ष है और स्याद्वाद् उसका व्यवहार पक्ष है, उसका अभ्यास है, उसकी क्रियान्विति है।

1.4 स्याद्वाद्

स्याद्वाद् पदार्थों के जानने की एक दृष्टि मात्र है। यह स्वयं अन्तिम सत्य नहीं है। यह एक ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त है और मनुष्य की ज्ञान प्राप्ति की सीमितता को प्रदर्शित करता है। यह हमें अन्तिम सत्य तक पहुँचाने के लिए केवल मार्गदर्शक का काम करता है। स्याद्वाद् से केवल व्यवहार सत्य को जानने में उपस्थित होने वाले विरोधों का ही समन्वय किया जा सकता है, इसीलिए जैन दर्शनकारों ने स्याद्वाद् का व्यवहार सत्य माना है। व्यवहार सत्य के आगे भी जैन सिद्धान्त में निरपेक्ष सत्य माना गया है, जिसे जैन परिभाषित शब्दों में केवल ज्ञान के नाम से कहा जाता है। स्याद्वाद् में सम्पूर्ण पदार्थों का क्रम-क्रम से ज्ञान होता है, परन्तु केवल ज्ञान सत्यप्राप्ति की वह उत्कृष्ट दशा है जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ और उन पदार्थों की अनन्त पर्यायों का एक साथ ज्ञान होता है। स्याद्वाद् परोक्ष ज्ञान में गर्भित होता है, इसलिए स्याद्वाद से केवल इन्द्रियजन्य पदार्थ ही जाने जा सकते हैं किन्तु केवल ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यय है, अत: केवल ज्ञान में भूत, भविष्य और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वर्तमान सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। अत: हमें केवल जैसे-तैसे अर्ध-सत्यों को ही पूर्ण सत्य मान लेने के लिए बाध्य नहीं करता किन्तु वह सत्य का दर्शन करने के लिए अनेक मार्गों की खोज करता है। स्याद्वाद् के मतानुयायियों का कहना है कि साधारण मनुष्य की शक्ति सीमित है, इसीलिए वह अपेक्षित सत्य को ही जान सकता है। पहले हमें व्यावहारिक विरोधों का समन्वय करके अपेक्षित सत्य को प्राप्त करना चाहिए। अपेक्षित सत्य को जानने के बाद हम पूर्ण सत्य (केवल ज्ञान) का साक्षात्कार करने के अधिकारी हैं।

स्याद्वाद् को संभावनावाद, कदाचित्वाद, किंचितवाद और संशयवाद नहीं कहा जा सकता जैसे कि कुछ भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने माना है। यह तो एक सापेक्ष निश्चयवाद है जो कि सापेक्ष दृष्टि से निश्चित सत्यों को प्रदर्शित करता है। यह (स्याद्वाद्) किसी एक ही दृष्टिकोण का दिग्दर्शन करता, वह तो अनन्त बिन्दुओं का निष्पक्ष और तटस्थ संग्राहक है। स्याद्वाद् एक तटस्थतावाद का अथवा निष्पक्षतावाद का सिद्धान्त है। यह सत्य और असत्य को समान दृष्टि से नहीं देखता। इसका पक्ष केवल शुद्ध न्याय की ओर होता है। असत्य और अन्याय का यह विरोधी है। असत्य स्याद्वाद् की दृष्टि में एकांत है, सत्य को वह अनेकान्त मानता है। अनेकान्तवाद-स्याद्वाद् के द्वारा आंशिक सत्यों की अभिव्यक्ति करता है। स्याद्वाद् एक ज्ञान मीमांसीय सिद्धान्त है जो व्यावहारिक सत्यों में व्याप्त विरोधाभासों में समन्वय करता है। यह मनुष्य की ज्ञानमीमांसीय सीमाओं का भी आकलन करता है तथा देश, काल, भाव, क्षेत्र से सीमित सत्यों को प्रदर्शित करने में स्यात् शब्द का प्रयोग करता है। स्याद्वाद् हमें आंशिक सत्यों को अज्ञानवश पूर्ण सत्य मानने से रोकता है।

अनेकान्तवाद का विकास तत्वमीमांसा, ज्ञान मीमांसा और आचार मीमांसा (अहिंसा) में हुआ है। अणुव्रत आन्दोलन के अध्ययन का उद्देश्य अहिंसा शास्त्र की दृष्टि से इनके अहिंसक स्वरूप को प्रकाश में लाना है अत: अहिंसा व अन्य आधारों से अणुव्रतों की तात्विक चर्चा प्राय: प्रासंगिक होगी।

1.5 व्रत एवं तप

भारतीय सांस्कृतिक-आध्यात्मिक परम्परा में तप एवं व्रत के महत्त्व को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। तप साधना का ओज है, तेज है और शक्ति है। तप शून्य साधना निष्प्राण है। साधना का भव्य प्रसाद तप की सुदृढ़ नींव पर आधारित है। साधना-प्रणाली, चाहे वह पूर्व में विकसित हुई हो अथवा पश्चिम में फली और फूली हो, उसके अन्तस्तल में तप किसी न किसी रूप में रहा हुआ है। तप में त्याग की भावना प्रमुख रहती है, और उसी से प्रेरित होकर साधक प्रयास करता है।

सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में तप एवं व्रत के स्वर झंकृत हुए हैं किन्तु साधना-पद्धतियों में इनके लक्ष्य और स्वरूप के संबंध में कुछ विचार भेद अवश्य रहा है। श्री भरतसिंह उपाध्याय का यह अभिमत है कि ''जो कुछ भी शाश्वत है जो कुछ भी उदात्त और महत्त्वपूर्ण है, वह सब तपस्या से ही संभव है।'' प्रत्येक साधना प्रणाली चाहे वह आध्यात्मिक हो, चाहे भौतिक हो, सभी तपस्या की साधना से अनुप्राणित हैं। तप एवं व्रत के संबंध में अनुचिन्तन करते हुए सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक काका कालेलकर ने लिखा है- ''बुद्धकालीन भिक्षुओं की तपस्या के परिणाम स्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और मौर्यकालीन संस्कृति का विस्तार हो पाया। शंकराचार्य की तपश्चर्या से हिन्दु धर्म का अवतरण हुआ। महावीर की तपस्या से अहिंसा धर्म का प्रसार हुआ और चैतन्य महाप्रभु के तप से बंगाल में वैष्णव संस्कृति विकसित हुई। और महात्मा गांधी के तप के फलस्वरूप ही भारत स्वतन्त्र हुआ है।

भगवान महावीर स्वयं उग्र व्रती एवं तपस्वी थे। अत: उनका शिष्य वर्ग इनसे अछूता कैसे रह सकता था? वह भी उग्र तपस्वी था। जैन तप-विधि की यह विशेषता रही है कि वह आत्म परिशोधन-प्रधान है। देहदण्ड किया नहीं जाता, वह सहज होता है। जैसे-स्वर्ण की विशुद्धि के लिए उसमें रहे हुए विकृत तत्वों को तपाते हैं, पात्र को नहीं, वैसे ही आत्मशुद्धि के लिए आत्म-विकारों को तपाया जाता है न कि शरीर को। शरीर तो आत्मा का साधन है, इसलिए वह तप जाता है, तपाया नहीं जाता। तप में पीड़ा हो सकती है किन्तु पीड़ा की अनुभूति नहीं होनी चाहिए। पीड़ा शरीर से संबंधित है और अनुभूति आत्मा से। अत: वह करता हुआ भी साधक दु:खी न होकर आल्हादित होता है।

आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध मनोविश्लेषण फ्रायड ने (दमन) की कटु आलोचना की है। उसने दर्शन को सभ्य समाज का सबसे बड़ा अभिशाप कहा है। उसका अभिमत है कि सभ्य संसार में जितनी भी विकृतियां है मानसिक और शारीरिक बीमारियां है, जितनी हत्यायें और आत्महत्यायें होती है, जितने लोग पागल और पाखण्डी बनते हैं, उसमें मुख्य कारण इच्छाओं का दमन है। इच्छाओं से अन्तर्द्वन्द्व पैदा होता है, जिससे मानव रूग्ण, विक्षिप्त और भ्रष्ट बन जाता है, इसलिए फ्रायड ने दमन का निषेध किया है। उसने उन्मुक्त भोग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का उपाय बताया है। पर उसका सिद्धान्त भारतीय आचार में स्वीकृत नहीं हैं। वह तो उस दवा के समान है जो सामान्य रोग को मिटाकर भंयकर रोग पैदा करती है। यह सत्य है कि इच्छाओं का दमन हानिकारक है पर उससे कहीं अधिक हानिकारक और घातक है उन्मुक्तता। उन्मुक्त भोग का परिणाम विकसित व विकासशील देशों में बढ़ती हुई घातक बीमारियां एड्स आदि विक्षिप्तता और आत्म हत्याओं के रूप में देखा जा सकता है।

1.6 भारतीय परम्परा में व्रत एवं तप चिन्तन

भारतीय आचार पद्धत्तियों में इच्छाओं की मुक्ति के लिए दमन के स्थान पर विराग की आवश्यकता बताई गयी है। विषयों के प्रति जितना राग होगा उतनी ही इच्छाएं प्रबल होगी। अन्तर्मानस में उद्दाम इच्छाएं पनप रही हो और फिर दमन किया जाए तो हानि की सम्भावना है पर जब इच्छाएं निर्मूल समाप्त हो जाएं तो दमन का प्रश्न ही कहां? और फिर उससे उत्पन्न होने वाली हानि को अवकाश कहां हैं? फ्रायड विशुद्ध भौतिकवादी या देहमनोवादी थे। वे मानव को मूल प्रवृत्तियों और संवेगों का केवल पुतला मानते थे। उनके मन और मस्तिष्क में आध्यात्मिक उच्च स्वरूप की कल्पना नहीं थी, अत: वे यह स्वीकार नहीं कर सकते थे कि इच्छाएं कभी समाप्त भी हो सकती है। उनका यह अभिमत था– मानव सागर में प्रतिपल प्रतिक्षण इच्छाएं समुत्पन्न होती हैं और उन इच्छाओं की तृप्ति आवश्यक है। पर भारतीय तत्वचिन्तकों ने यह उद्घोषणा की कि इच्छाएं आत्मा का स्वरूप नहीं, विकृति स्वरूप है। वह मोहजनित हैं। इसलिए विराग से उन्हें नष्ट करना निर्मूल बना देना सुख–शान्ति की प्राप्ति के लिए हितकर हैं। ऐसा करने से ही सच्ची–स्वाभाविक शांति उत्पन्न हो सकती है।

जैन आचार शास्त्र में दमन का भी यत्र तत्र विधान हुआ है। ''देहेदुक्खं महाफल'' के स्वर झंकृत हुए हैं। संयम संवर और निर्जरा का विधान है। वहां ''शम और दम'' दोनों आये हैं। शम का संबंध विषय–विराग से है। और दम का संबंध इन्द्रिय–निग्रह से है। दूसरे शब्दों में शम और दम के स्थान पर मनोविजय और इन्द्रिय–विजय अथवा कषाय–विजय और इन्द्रिय विजय शब्द भी व्यवहत हुए हैं। स्वामी कुमार ने कार्तियानुप्रेक्षा में ''मन–इंदियाण विजई'' और ''इंदिय–कसायविजई'' शब्दों का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ है, मनोविजय और इन्द्रियनिग्रह और इन्द्रिय निग्रह अथवा ''कषाय विजय'' और ''इन्द्रिय निग्रह'' निर्जरा के लिए आवश्यक है।

दमन का विधान इन्द्रियों के लिए है और मनोगत विषय–वासना के लिए शम और विरक्ति पर बल दिया है। जब मन विषय–विरक्त हो जायेगा। तो इच्छाएं स्वत: समाप्त हो जायेंगी। विषयों के प्रति जो अनुरक्ति है, वह ज्ञान से नष्ट होती है और इन्द्रियां जो स्नायविक हैं, उन्हें अभ्यास से बदलना चाहिए। यदि वे विकारों में प्रवृत्त होती हो तो वैराग्यभावना से उनका विरोध करना चाहिए। दमन शब्द खतरनाक नहीं है। व्यसनजन्य इच्छाओं से मुक्ति पाने के लिए इन्द्रिय–दमन आवश्यक है। इन्द्रिय व दमन का अर्थ इन्द्रियों को नष्ट करना नहीं अपितु दृढ़ संकल्प से इन्द्रियों की विषय प्रवृत्ति को रोकना है। यह आत्मपरिणाम दृढ़ संकल्प रूप होता है। व्यसन जन्य इच्छाओं का दमन हानिकारक नहीं किन्तु स्वस्थता के लिए आवश्यक है। इच्छायें प्राकृतिक नहीं, अप्राकृतिक हैं। यह दमन प्रकृति–विरूद्ध नहीं किन्तु प्रकृति संगत है। इन्द्रियों की खतरनाक प्रवृत्ति को रोकना इन्द्रियानुशासन है और यह जैन दृष्टि से तप का सही उद्देश्य है। इसीलिए जैन दृष्टि से आगम–साहित्य में बाह्य और आभ्यन्तर तप का उल्लेख किया है। आभ्यन्तर तप के बिना बाह्य तप कभी–कभी ताप बन जाता है।

वैदिक साधना पद्धत्ति के सम्बन्ध में यदि हम चिन्तन करें तो यह स्पष्ट होगा, वह प्रारम्भ में तप–प्रधान नहीं थी। श्रमण संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित होकर इसमें भी तप के स्वर मुखरित हुए और वैदिक ऋषियों की हृदतंत्रियाँ झंकृत हुई है। तप से ही वेद उत्पन्न हुए हैं। तप से ही सत् और सत्य समुत्पन्न हुए हैं। तप से ही ब्रह्म को खोजा जाता है। तप से ही मृत्यु पर विजय वैजयन्ती फहरा कर ब्रह्म लोक (अमरत्व) प्राप्त किया जाता है। जो कुछ भी दुर्लभ और दुष्कर है, वह सभी तप से साध्य है। तप की शक्ति अजेय है। तप का लक्ष्य आत्मा या ब्रह्म की उपलब्धि है। तप से ब्रह्म की अन्वेषणा की जाती है। तप से ही ब्रह्म को जाना जाता है। यह आत्मा तप और सत्य के द्वारा ही जाना जा सकता है। महर्षि पंतजलि के शब्दों में कहा जाए तो तप से अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है।

जिस प्रकार जैन साधना पद्धति में बाह्य और आभ्यन्तर ये दो तप के प्रकार बताये हैं, वैसे ही गीता में भी तप का वर्गीकरण किया गया है। स्वरूप की दृष्टि से तप के शारीरिक तप, वाचिक तप और मानसिक तप ये भेद प्रतिपादित किये हैं। शारीरिक तप से तात्पर्य है– देव, दिज, गुरूजन और ज्ञानी जनों का सत्कार करना। शरीर को आचरण से पवित्र बनाना, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना, यह शारीरिक तप है। वाचिक तप है– क्रोध का अभाव, प्रिय, हितकारी और यथार्थ संभाषण, स्वाध्याय और अध्ययन आदि। मानसिक तप वह हैं, जिसमें मन की प्रसन्नता, शांतता, मौन और मनोनिग्रह से भाव की शुद्धि हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जो तप श्रद्धापूर्वक, फल की आकांक्षा रहित होकर किया जाता है वही सात्विक तप कहलाता है। जो तप सत्कार, मान, प्रतिष्ठा के लिए अथवा प्रदर्शन के लिए किया जाता है, वह राजस तप है। जो तप अज्ञानतापूर्वक अपने आपको भी कष्ट देता है और दूसरों को भी दु:खी करता है, वह तामस तप है। गीता में अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह आर्जव प्रवृत्ति को तप के अन्तर्गत माना है, जबकि जैन दृष्टि से वे महाव्रत और श्रमण धर्म के अन्तर्गत आते हैं। गीता में जैन-धर्म-मान्य बाह्य तपों पर चिन्तन नहीं हुआ है। और आभ्यन्तर तप में से केवल स्वाध्याय को तप की कोटि में रखा है। ध्यान और कायोत्सर्ग को योग साधना के अन्तर्गत लिया है। वैयावृत्य, विनय आदि को गुण माना है और प्रायश्चित का वर्णन शरणागति के रूप में हुआ है। महानारायणोपनिषद में अनशन तप का महत्त्व यहां तक प्रतिपादित किया गया है कि अनशन तप से बढ़कर कोई तप नहीं है, जबकि गीता में अवमौदर्य तप को अनशन से भी अधिक श्रेष्ठ माना है। इसका यह स्पष्ट अभिमत-योग अधिक भोजन करने वालों के लिए सम्भव नहीं है और न निराहार रहने वालों के लिए सम्भव है किन्तु जो युक्त आहार-विहार करता है, उसी के लिए योग-साधना सरल है।

बौद्ध साधनापद्धति में भी तप का विधान है। वहां तप का अर्थ प्रतिपल-प्रतिक्षण चित्त शुद्धि का प्रयास करना है। महामंगलसुत्त में बुद्ध ने कहा- ब्रह्मचर्य व्रत आर्य सत्यों का दर्शन है और निर्वाण का साक्षात्कार है। काशी भारद्वाज सुत्त में बुद्ध ने कहा- मैं श्रद्धा का बीज वपन करता हूँ। उस पर व्रत की दृष्टि होती है। तन और वचन से संयम रखता हूं। आहार को नियमित कर सत्य के द्वारा मन के दोषों का परिष्कार करता हूँ। दिठ्ठिवज्ज सूत्र में उन्होंने कहा- तप या व्रतों को ग्रहण करने से कुशल धर्मों की वृद्धि हो जायेगी और अकुशल धर्मों की हानि होगी। अत: तप अवश्य करना चाहिए। बुद्ध ने अपने आप को तपस्वी कहा। उनके साधना-काल का वर्णन और पूर्व जन्मों के वर्णन में उत्कृष्ट तप का उल्लेख हुआ। उन्होंने सारिपुत्त के सामने अपनी उग्र तपस्या का निरूपण किया। सम्राट बिम्बसार ने कहा- 'मैं अब तपश्चर्या के लिए जा रहा हूँ। मेरा मन उस साधना में रमता है। यह पूर्ण सत्य है कि बुद्ध केवल देह दण्ड को निर्वाण के लिए उपयोगी नहीं मानते थे। ज्ञानयुक्तता को ही उन्होंने महत्त्व दिया था। डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है- ''बुद्ध ने कठोर तपश्चर्या की आलोचना की, तथापि यह आश्चर्य है कि बौद्ध श्रमणों का अनुशासन किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित अनुशासन (तपश्चर्या) से कम कठोर नहीं है। यद्यपि शुद्ध सैद्धांतिक दृष्टि से वे निर्वाण की उपलब्धि तपश्चर्या के अभाव में भी संभव मानते हैं, फिर भी व्यवहार में तप उनके अनुसार आवश्यक सा प्रतीत होता है।' बौद्ध दृष्टि से तप का उद्देश्य है- अकुशल कर्मों को नष्ट करना। पापकारक अकुशल धर्मों को तपाया जाये, जिससे पाप कारक अकुशल धर्म गल जाएं, नष्ट हो जाएं और वे पुन: उत्पन्न नहीं हो। जैन धर्म की तरह बौद्ध धर्म में तप का जैसा चाहिए वैसा वर्गीकरण नहीं है। जैन आगमों में आया तपों- वर्णन अपने आप में मौलिकता और विलक्षणता को लिए हुए हैं। प्रतारणा (प्रायश्चित), विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, कार्यात्सर्ग इन सभी को जीवन में आचरण करने की बुद्ध ने प्रेरणा दी।

1.7 जैन परम्परा की दृष्टि

जैन धर्म श्रमण परम्परा के अन्तर्गत आता है। श्रमण संस्कृति तप-प्रधान मानी जाती है। श्रमण शब्द स्वयं में महान तपस्वी साधु का द्योतक है। इसलिए जैन साहित्य में श्रमण शब्द की परिभाषा के विषय में कहा है कि जो आत्मा की साधना के लिए श्रम करता है अर्थात् तप: साधना से शरीर को खेदखिन्न करता है वह श्रमण कहा जाता है। तप के स्वरूप प्रसंग में आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा है कि 'पंचेन्द्रिय विषय और क्रोधादि चार कषाय-इनका निग्रह करके ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मचिन्तन करना तप है।' भगवती आराधना के अनुसार अकर्तव्य के त्यागरूप चारित्र में जो उद्योग और उपयोग किया जाता है वह तप है। धवला में कहा है 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग' चारित्र रूप रत्नत्रय को प्रकट करने के लिए इच्छा का निरोध तप है। भर्तृ अकलंकदेव के अनुसार भी कर्मक्षय के लिए जो तपा जाए वह तप है। मूलाचारवृत्ति में भी इसी तरह कहा है कि कर्मक्षय के लिए शरीर और इन्द्रियों को तप्त करना तप है। जयसेनाचार्य के अनुसार- रागादि समस्त भाव-इच्छाओं के त्याग से स्व स्वरूप में प्रतपनविजयन करना तप है।

इस प्रकार जैन दृष्टिकोण से तप की विभिन्न परिभाषाएं हैं। वस्तुत: तप के समग्र रूप को किसी भी एक परिभाषा में आबद्ध करना अत्यधिक कठिन है। क्योंकि तप अन्तर्मुखी वृत्ति की साधना है। मुक्ति व शान्ति प्राप्ति की साधना में तप की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इससे आत्मिक सुख की सीढ़ी कह सकते हैं और वह अन्तस्तत्व के चिन्तन, मन के मन्थन तथा चित्तवृत्तियों के ग्रन्थन से ही संभव है। तप का महत्त्व भी भावशुद्धि पर अवलंबित है। तप के द्वारा समस्त अपवित्रता, सम्पूर्ण कल्मष एवं समग्र अशांति -इन सबको भस्मसात किया जा सकता है। ऐसे ही, तप से मन शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल बनाया जा सकता है। दशवैकालिक में कहा है कि अहिंसा, संयम और तप लक्षण वाला धर्म उत्कृष्ट मंगल है। जिसका मन सदा इस प्रकार के धर्म में रचा रहता है उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रमण जीवन की आचार और ज्ञान-प्रधान साधना, तपोमय है। इतना ही नहीं अपितु श्रमण के सम्पूर्ण जीवन में तप का इतना व्यापक क्षेत्र है कि स्वाध्याय, अध्ययन, प्रायश्चित, वैयावृत्ति, सेवावृत्ति आदि श्रमण जीवन की समस्त मूलभूत क्रियाओं को भी तप कह देते हैं। तप को मुख्य उद्देश्य भी जीवन के अन्तरतम का शोधन है। इसीलिए काषायिक वासनाओं को समाप्त करने तथा कर्मक्षय के द्वारा परिपूर्ण आत्मिक विकास की साधना के लिए मन, इन्द्रिय तथा शरीर को जिन सम्यक् विधियों से तपाया जाए वे सभी तप रूप ही है। उमास्वाति ने कहा है तप कर्मो के संवर का उपाय तो है ही निर्जरा का भी वह प्रमुख कारण है। मूलाचारकार ने तप को नगर की उपमा देते हुए कहा है : धैर्य, उत्साह और निश्चित-मति उस तपरूपी नगर के प्राकार (परकोटा) हैं, चारित्र उसके उत्तुंगगोपुर, क्षमा और सुकृत (धर्म) उसके फाटक तथा संयम रक्षक (कोतवाल) के समान हैं। तपरूप इसे नगर को लूटने के लिए राग, द्वेष, मोह और इन्द्रिय रूपी चार सदा उद्यत रहते हैं किन्तु सत्पुरुषों के द्वारा सुरक्षित इन नगर को वे लूटने या विनाश करने में समर्थ नहीं हो पाते।

श्रम, तप और त्याग प्रधान श्रमण संस्कृति में आध्यात्मिक मूल्यों की गहरी प्रतिष्ठा है। आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष को निरन्तर गतिशील बनाये रखने के लिए व्रत, नियम आदि के पालन और मर्यादा से अपने विचार को संवारना आवश्यक है। व्रत ग्रहण के पहले व्यक्ति को पदनुकूल भूमिका बनाकर उनके पालन की सामर्थ्य प्राप्त करना परम आवश्यक है। क्योंकि व्रत बीज की तरह है। व्रत रूपी बीजों को फलित करने के लिए अपने हृदय रूपी भूमि को उर्वर बनाना आवश्यक है, अन्यथा व्रत फलीभूत नहीं होगें।

व्रत से तात्पर्य है हिंसा, अनृत (झूठ) स्तेय (चोरी), अब्रह्म (मैथुन या कुशील) तथा परिग्रह - इनसे विरति (निवृत्ति) होना, विरति अर्थात् जानकर और प्राप्त करके इन कार्यों को न करना। प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह भी व्रत है। अथवा वह करने योग्य हैं और यह नहीं करने योग्य है- इस प्रकार नियम करना भी व्रत है। इस प्रकार हिंसा आदि पांच पापों के दोषों को जानकर आत्मोत्कर्ष के उद्देश्य से इनके त्याग या इनसे विरति की प्रतिज्ञा लेकर पुनः कभी उनका सेवन न करने को व्रत कहते हैं। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति- ये सभी एक ही अर्थ के वाचक हैं।

हिंसा आदि उपर्युक्त पांच असत्य प्रवृत्तियों का त्याग व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार तो कर सकता है किन्तु सब प्राणी इनका सार्वत्रिक और सार्वकालिक त्याग एक समान नहीं कर सकते। अतः इन असत्प्रवृत्तियों से एक देश निवृत्ति को अणुव्रत तथा सर्वदेश निवृत्ति को महाव्रत कहा जाता है। जिन व्रतों में जाति, देश, काल आदि का अपवाद नहीं रहता वे महाव्रत हैं। वस्तुतः व्रत अपने आप में अणु या महत् नहीं होते, यह विभाजन और ये विशेषण तो व्रत के साथ पालन करने वाले की क्षमता या सामर्थ्य पर आश्रित है। जब साधक अपने आत्मबल से सर्वदेश रूप में व्रतों के धारण और निरतिचार पालन में पूर्ण समर्थ हो जाता है तब उसके व्रत महाव्रत एवं वह महाव्रती- श्रमण कहा जाता है, व एकदेश पालनकर्त्ता अणुव्रती कहा जाता है।

1.8 व्रत अणु क्यों ?

जैन धर्म में श्रमणोपासक या श्रावक के व्रत-स्वीकार का क्रम भी बड़ा वैज्ञानिक है। वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह को स्वीकार तो करता है पर सीमित रूप में। अर्थात् अपने में जितना आत्मबल और सामर्थ्य संजो पाता है, तदनुरूप कुछ अपवादों के साथ वह इन व्रतों को ग्रहण करता है। यों श्रावक द्वारा स्वीकार किये जाने वाले व्रत श्रमण के व्रतों से परिपालन की दृष्टि से न्यून या छोटे होते हैं, इसलिए उन्हें अणुव्रत कहा जाता है। व्रत अपने आप में महत् या अणु नहीं होता। महत् या अणु विशेषण व्रत के साथ पालक की क्षमता या सामर्थ्य के कारण लगते हैं। जहां साधक अपने आत्मबल में कमी या न्यूनता नहीं देखता, वह सम्पूर्ण रूप में, सर्वथा व्रत-पालन में उद्यत रहता है। वहां उसके व्रत महाव्रत की संज्ञा पा लेते हैं। सीमा और अपवादों के साथ जहाँ साधक व्रत का पालन करता है, वहां उसके द्वारा व्रत का पालन, अनुसरण न्यून या छोटा है, उस कारण व्रत के साथ अणु जुड़ जाता है।

एक बहुत बड़ी विशेषता जैन धर्म की यह है कि श्रावकों के व्रतों में अपवादों का कोई एक रूप नहीं है। एक ही अहिंसा व्रत अनेक आराधकों द्वारा अनेक प्रकार के अपवादों के साथ स्वीकार किया जा सकता है। विभिन्न व्यक्तियों की क्षमताएं, सामर्थ्य विविध प्रकार की होती है। उत्साह, आत्मबल, पराक्रम एक जैसा नहीं होता। अनगिनत व्यक्तियों में वह अपने-अपने क्षयोपशम के अनुरूप अनगिनत प्रकार का हो सकता है। अतएवं अपवाद स्वीकार करने में व्यक्ति का अपना स्वातन्त्र्य है। उस पर अपवाद बलात् आरोपित नहीं किये जा सकते। इससे कम, अधिक सभी तरह की शक्ति वाले साधनोत्सुक व्यक्तियों को साधना में आने का अवसर मिल जाता है। फिर धीरे-धीरे साधक अपनी भक्ति शक्ति को बढ़ाता हुआ आगे बढ़ता जाता है। अपवादों को कम करता जाता है। वैसा करते-करते वह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रमणोपासक की भूमिका में श्रमण भूत-श्रमणसदृश तक बन सकता है। यह गहरा मनोवैज्ञानिक तथ्य है। आगे बढ़ना, प्रगति करना जैसा अप्रतिबद्ध और निर्द्वन्द मानस से सधता है, वैसा प्रतिबद्ध और निगृहीत मानस से नहीं सध सकता। यह अतिशयोक्ति नहीं है कि गृही की साधना में जैन धर्म की यह पद्धति नि:सन्देह बेजोड़ है। अतिचार-वर्जन आदि द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिकता और गहरी हो जाती है, जिससे व्रती जीवन का एक सार्वजनिक पवित्र रूप निखार पाता है।

1.9 अणुव्रत : स्वरूप

श्रावक के बारह व्रत, पांच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रत के रूप में विभाजित है। अणुव्रत मूल व्रत हैं। शिक्षाव्रत उनके पोषण, संवर्धन एवं विकास के लिए हैं। शिक्षा का अर्थ अभ्यास है। वे व्रत अणुव्रतों के अभ्यास या साधना में स्थिरता लाने में विशेष उपयोगी हैं। शब्दिक भेद से इन सात (शिक्षा) व्रतों का विभाजन दो प्रकार से किया जाता रहा है। इन बातों को शिक्षाव्रत तो कहा ही जाता है, जैसा पहले उल्लेख हुआ है, उनमें तीन अनर्थदण्ड विरमण, दिग्व्रत तथा उपभोग परिभोग परिमाण गुणव्रत और अन्तिम चार-सामायिक, देशावकाशिक, पोषधोपवास एवं अतिथिसंविभाग, शिक्षाव्रत कहे गये हैं। गुणव्रत कहे जाने के पीछे साधारणतया यही भाव है कि ये अणुव्रतों के गुणात्मक विकास में सहायक हैं अथवा साधक के चरित्रमूलक गुणों की वृद्धि करते हैं। अगले चार मुख्यत: अभ्यासपरक है, इसलिए उनके साथ ''शिक्षा'' शब्द विशेषणात्मक दृष्टि से सहजतया संगत है। वैसा सामान्य रूप में गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत दोनों ही अणुव्रतों के अभ्यास में सहायक है, इसलिए स्थूल रूप में सातों को जो शिक्षाव्रत कहा जाता है, उपर्युक्त ही है। सात शिक्षाव्रतों का जो क्रम औपपातिक सूत्र आदि में हैं, उसका यहां उल्लेख किया गया है। आचार्य उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र में क्रम कुछ भिन्न है। तत्वार्थसूत्र में इन व्रतों का क्रम दिग्, देश, अनर्थ-दंड-विरति् सामायिक, पोषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाण तथा अतिथि संविभाग के रूप में है। वहां इन्हें शिक्षाव्रत न कह कर केवल यही कहा गया है कि श्रावक इन व्रतों से भी सम्पन्न होता है। किन्तु क्रम में किंचित् अन्तर होने पर भी तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। जैन धर्म और दर्शन में अहिंसा व्रत को परम धर्म और परम व्रत की संज्ञा दी गई है, और इसे अन्य सभी व्रतों का मूल माना गया है। शेष चार व्रत तो इस अहिंसा व्रत के संरक्षण मात्र है। जैन धर्म के मतानुसार अहिंसा व्रत का पालन करना श्रेष्ठ नैतिक आचार संहिता है। इनके पालन मात्र से शेष चार व्रतों का पालन स्वत: हो जाता है। अत: अहिंसा को साध्य और शेष व्रतों को साधन की संज्ञा भी दी गई है।

1.9.1 अहिंसा व्रत

महाव्रती के लिए अहिंसा व्रत का अर्थ है- मन-वचन-काय योग से कृत (करना), कारित (प्रेरित करना) और अनुमोदना (समर्थन करना) द्वारा त्रस और स्थावर सभी प्रकार के जीवों की हिंसा न करना। जबकि अणुव्रती के लिए अहिंसा व्रत का आशय है :- त्रय जीवों की मन-वचन काय योग से कृत, कारित और अनुमोदना द्वारा हिंसा न करना। गृहस्थ जीवन-यापन में व्रती के लिए यह संभव नहीं है कि वह स्थावर व सूक्ष्म जीवों की भी रक्षा कर सके। अणुव्रती के लिए तीन और प्रकार की आवश्यक हिंसा (अनावश्यक नहीं) का विधान किया गया हैं उद्योगी, आरम्भी और विरोधी हिंसा। संकल्पी हिंसा का त्याग अणुव्रती और महाव्रती दोनों के लिए आवश्यक है। इसी प्रकार हिंसा को भी परिभाषित किया गया है। रागादि परिणामों के द्वारा आत्म स्वभाव का हनन करना ही हिंसा है। आत्म स्वभाव से आशय अनन्त चतुष्टय (अनन्त ज्ञान, आनन्द, वीर्य और वैराग्य) से है। व्यक्ति स्वभावत: अहिंसक होता है लेकिन जब उसके आत्मस्वभाव का नाश हो जाता है, तब वह हिंसक बन जाता है। जैन दर्शन में हिंसा और अहिंसा का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म ढंग से किया गया है। प्रमादावस्था और रागादि आवेश से प्रेरित होकर की गई हिंसा को हिंसा माना गया है।

अहिंसाणुव्रत से आशय है मन, वचन, काय योग से कृत कारित और अनुमोदना द्वारा स्थूल हिंसा (त्रसजीव) से विरमण इसमें व्रती का कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) से रहित होना आवश्यक है ताकि वह भावहिंसा से भी बच सके। इस व्रत में राग-द्वेष, प्रमाद और कषायों का त्याग करने का आह्वान किया गया है। ये तत्व हिंसा के कारण है और जीव को आत्म-स्वभाव, जीओ और जीने दो के मार्ग से च्युत करने वाले हैं। हिंसा के कारण न केवल अहिंसा व्रत में अतिचार हो जाता है बल्कि शेष चारों व्रत भी नष्ट हो जाते हैं और जीव का अनन्त चतुष्टय स्वरूप भी परिमित हो जाता है। अत: आत्म स्वरूप की रक्षा करने तथा इसमें निरन्तर रत रहने के लिए जीव अहिंसा को साधन के रूप में अपनाता है। यह जाति, धर्म, लिंग, सम्प्रदाय, राष्ट्र इत्यादि के बन्धनों को तोड़कर मानव अस्तित्व में विश्वास करता है तथा उनके साथ राग-द्वेष, कषाय और प्रमाद रहित भाव से व्यवहार करता है। वह मानव और पशु-पक्षी में भी किसी प्रकार का अन्तर नहीं समझता बल्कि जीव दया और समता को अपने आचरण में महत्त्व देता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसाव्रत का पालन करने से जाति प्रथा, अस्पृश्यता, ऊंच-नीच, दास-प्रथा, पशु-यज्ञ प्रथा, रंग भेद, भाषा इत्यादि सामाजिक समस्याओं का स्वत: परिमार्जन हो जाता है। इससे अलगावाद, आतंकवाद, धर्मान्धता, वैचारिक असहिष्णुता इत्यादि समस्याओं से स्वत: छुटकारा मिल जाता है। पशु-पक्षी और वनस्पति आदि प्रजातियों की रक्षा करने से पर्यावरण संतुलन बना रहता है।

अहिंसाणुव्रत को न्यूनाधिक रूप से लगभग सभी धर्मों, दर्शनों, और विचारकों ने स्वीकार किया है। अहिंसाव्रत के दर्शन प्राचीन युग से लेकर आज तक हो रहे हैं। अहिंसा प्रधान संस्कृति को तिलांजलि देकर हिंसा प्रधान संस्कृति को अपनाने के कारण ही हमें वातावरण प्रदूषण, पारिस्थितिकीय असन्तुलन इत्यादि की समस्याओं से सामना करना पड़ रहा है।

अहिंसा की अनन्त शक्ति में विश्वास व्यक्त करके हिंसा को पराजित कर सकते हैं और हिंसा जनित समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। महात्मा गांधी की अहिंसात्मक नीति, पं. नेहरू का अहिंसा आधारित पंचशील सिद्धान्त तथा मिखाइल गोर्वप्योव की शान्ति व अहिंसा की नीति ने विश्व में शान्ति, गुट निरपेक्षता व नि:शस्त्रीकरण करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

1.9.2 सत्यव्रत

जैन दर्शन ने अनेकान्त मत द्वारा सत्य व्रत का भी विवेचन किया है। सत्य से आशय वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करना मात्र नहीं हैं बल्कि ऐसे कथन हिंसात्मक, भ्रमोत्पादक, भयोत्पादक और कषाययुक्त भी नहीं होने चाहिए। हिंसा की संभावना से युक्त सत्य वचनों को भी सत्य वचन की श्रेणी में सम्मिलित नहीं किया गया है। अत: सत्य वचन वह है जो स्वपर हितकारी, कर्णप्रिय, संक्षिप्त, मृदु और यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक हो। इसी प्रकार महाव्रतधारी सत्य का सर्वदेश पालन करता है जबकि अणुव्रतधारी इस व्रत का एक देश पालन करता है।

यह व्रत अनेकान्त मत को ही सत्य मानता है, एकांत मत को असत्य। एकांत मत सत्यांशस की अभिव्वयक्ति मात्र है। जबकि अनेकान्त दर्शन तथ्यों के विभिन्न एंकागी मतों का परस्पर समन्वय कर देता है। वह व्रत आग्रह से अनाग्रह, भेद से अभेद तथा हठवाद और उपेक्षा भाव से समन्वयवाद और अपेक्षा भाव की ओर प्रवृत्त होता है।

जैन दर्शन सत्य और असत्य की परिभाषा भी अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से करता है। सत्य अणुव्रत वह है जो मन-वचन-काय योग से तथा कृत, कारित और अनुमोदना द्वारा स्थूल झूठ न बोला गया हो, न ही ऐसा करने के लिए अन्यों को प्रेरित और अनुमोदित किया गया हो। इसी प्रकार असत्य वचन वह है जो प्रमाद या कषाय युक्त हो। इसी प्रकार अप्रिय वचन भी असत्य वचन कहलाते हैं। अप्रीतिकारक, भय जनक, खेद उत्पादक, वैर वर्धक, शोक और कलह-कारक वचन अप्रिय वचन है। मर्द्धित और सावद्य वचन भी असत्य वचन कहलाते हैं।

सत्याणुव्रत को सभी धर्मों, दर्शनों और चिन्तकों ने स्वीकार किया है। मनुस्मृति ने सत्य को सनातन धर्म की संज्ञा दी है तो औपनिषदिक विचारधारा ने सर्वदा सत्य बोलने तथाा सत्य के प्रति प्रमाद न करने का आह्वान किया है। महात्मा गांधी ने तो सत्य को तात्विक रूप प्रदान करते हुए उसे ईश्वर में एकरूप मान लिया है। सत्याणुव्रत की प्रासंगिकता जीवन के विविध क्षेत्रों में स्वीकार की गई है।

1.9.3 अस्तेय व्रत

ब्राह्य पदार्थ को अनात्म तत्व मानते हुए भी यह दर्शन उन पर व्यक्तिगत और सामूहिक स्वामित्व के सिद्धान्त को मानता है तथा स्वामित्वहरण को जीवन के बाह्य प्राणों के अपहरण की संज्ञा देता है। महाव्रती का अस्तेय व्रत से आशय है : आत्मा का आत्म-स्वभाव में रत रहना। अनात्म तत्व में रत रहना अथवा पर द्रव्य-ग्रहण करना स्तेय है जबकि अणुव्रती के लिए अस्तेय व्रत से आशय है :- बिना दिये हुए पदार्थ को ग्रहण करना, पर पदार्थ को बिना आज्ञा ग्रहण करना अथवा स्वामित्वहीन सम्पत्ति को ग्रहण करना। इसी प्रकार अणुव्रत दर्शन ने राज्य निषिद्ध वस्तुओं का व्यापार करना, कम-तौल करना, मिलावट करना तथा चोरी के माल का क्रय-विक्रय करना भी चौर्य वृत्ति में सम्मिलित किया है। अस्तेय वृत्ति को हृदयंगम करके हम तस्करी, कालाबाजारी, कालेधन इत्यादि समस्याओं से मुक्त हो सकते हैं।

अस्तेयाणुव्रत का जैन दर्शन में बहुत ही सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया है। यह सम्पत्ति को व्यक्ति का बाह्य प्राण मानता है। यह सम्पत्ति पर व्यक्तिगत और सामूहिक स्वाामित्व भी स्वीकार करता है। पर-द्रव्य को बिना आज्ञा ग्रहण करना चोरी कहलाता है। चेतन व अचेतन पदार्थों का स्वामित्व हरण करना चौर्यवृत्ति कहलाती है। जल और मिट्टी पर सबका स्वामित्व माना गया है। अस्तेय व्रत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को सभी दर्शनों ने नैतिक मूल्य माना है। महात्मा गांधी ने तो अनावश्यक सम्पत्ति संग्रह को भी चौर्य-वृत्ति में सम्मिलित किया है। गीता ने भी चौर्य वृत्ति का निषेध किया है। अस्तेय व्रत का पालन करने से चौर्य जनित समस्याओं से समाज मुक्ति पा सकता है। सामाजिक व वैयक्तिक सम्पत्ति में अभिवृद्धि हो जाती है।

1.9.4 अपरिग्रह व्रत

महाव्रती के लिए अनात्म पदार्थों का संग्रह करना परिग्रह कहलाता है जबकि अणुव्रती अपनी आवश्यकता तथा अन्य कारणों को ध्यान में रखकर सीमित मात्रा में अनात्म पदार्थों का परिग्रह कर सकता है। अणुव्रती का यह कार्य अपरिग्रह की श्रेणी में आता है। भगवान महावीर ने मूर्च्छा, आसक्ति, मोह को भी परिग्रह माना है। महाव्रती इसका सर्वदेश त्याग करता है जबकि अणुव्रती इसका अंशतः त्याग करता है। महाव्रती चौदह आंतरिक व नौ बाह्य परिग्रह का त्याग करता है, जबकि अणुव्रती अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनका त्याग करता है। इस व्रत का पालन करने से दहेज प्रथा, मृत्यु-भोज, वैवाहिक भोज, कन्या-वर विक्रय प्रथा इत्यादि कुरीतियों से छुटकारा मिल सकता है।

जैन दर्शन में मूर्च्छा या आसक्ति को ही परिग्रह माना गया है। विषयासक्ति ही परिग्रह है। अनात्म पदार्थों के संग्रह को भी परिग्रह कहा गया है। आत्मतत्व में रत रहना ही अपरिग्रह है। बाह्य पदार्थ और कषाय अनात्म तत्व है। इनके संग्रह से आसक्ति में अभिवृद्धि होती है। इस दर्शन में परिग्रह का सूक्ष्म विवेचन किया गया है तथा इसके प्रकारों में भाव परिग्रह (आंतरिक) व द्रव्य परिग्रह (बाह्य) को स्वीकार करता है। आंतरिक परिग्रह के अन्तर्गत चौदह प्रकार के आंतरिक मनोभाव आते हैं :- मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुसक वेद। बाह्य परिग्रह के नौ प्रकार जैसे- क्षेत्र, वस्तु, सोना, चांदी, धन, अन्न, द्विपद, चतुष्पद, कुप्य इत्यादि।

अन्य दार्शनिकों ने भी अपरिग्रह को अपनाने की बात कही है। बौद्ध दर्शन आसक्ति को दु:ख का मूल कारण मानता है। सुकरात ने आवश्यकताओं का दास न होना ही देवत्व का लक्षण माना है। मार्टिन लूथर किंग ने भी अपरिग्रह को ईश्वरीय उपस्थिति के अनुभव का कारक माना है। वाल्तेयर ने भी भाग्यवान उसे माना है, जिसका धन गुलाम है और भाग्यहीन वह है जो धन का गुलाम है। ईस्लाम धर्म में भी अपरिग्रह को महत्त्वपूण माना है। महात्मा गांधी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त और आचार्य विनोबा भावे का भूदान आन्दोलन भी अपरिग्रह सिद्धान्त पर आधारित है।

1.9.5 ब्रह्मचर्य व्रत

महाव्रत के पुजारी ब्रह्मचर्य व्रत का पूर्णतः पालन करते हैं। उनकी दृष्टि विकार रहित होती है। वे नारी जाति के प्रति मां, बेटी, बहन का दृष्टिकोण अपनाते हैं। महाव्रती इंद्रियों पर पूर्णतः संयम रखते हैं। जबकि अणुव्रत धारी इस व्रत का अशंतः पालन करते हैं। वे अपनी स्त्री को छोड़कर शेष समस्त स्त्रियों के प्रति मां, बेटी, बहन का दृष्टिकोण अपनाते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत के पालन से समाज स्वछदं योनाचार, हिप्पीवाद, गर्भपात, भ्रूण हत्यायें, अनाथ सन्तान, परस्त्रीगमन, वैश्यावृत्ति इत्यादि बुराईयों से बच सकता है।

ब्रह्मचर्य व्रत के संबंध में विभिन्न दर्शनों में समालोचनात्मक टिप्पणियां की गई हैं। मुण्डकोपनिषद में भी परमतत्व के साक्षात्कार हेतु ब्रह्मचर्य को आवश्यक माना है। वैदिक दर्शन में भी ब्रह्मचर्य को प्रथम आश्रम माना गया है। बाईबल में भी व्यभिचार का निषेध किया गया है। का. मौण्टेगजा ने ब्रह्मचर्य को स्वास्थ्य के लिए उत्तम माना है। मूल्य निर्वाहण के लिए ब्रह्मचर्य को सुकरात ने अत्यन्त आवश्यक बताया है। अणुव्रत के संबंध में यदि ब्रह्मचर्य को अकाम की संज्ञा दी गई होती तो शायद अधिक उपयुक्त होता। अकाम की अवस्था ही मनुष्य के मस्तिष्क को निर्मल रख पायेगी और अपनी स्त्री/ पुरुष के अतिरिक्त अन्य के साथ संबंध बनाने में अवरोधक का कार्य करेगी। ब्रह्मचर्य का पालन श्रेष्ठतर मनुष्य भी अपने आचरण में नहीं कर सकते, साधारण मनुष्य की तो बात क्या? आत्मानुशासन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य है। व्यक्ति आत्मा-अनुशासित होकर ही सकारात्मक कार्य कर पाता हैं। अथवा अपना सक्रिय योगदान दे पाता है। समय रहते ब्रह्मचर्य का महत्त्व, उसकी मर्यादा और उपयोगिता समझनी आवश्यक है, नहीं तो मानव जाति ब्रह्मचर्य के बिना पतन के गर्त में डूब जायेगी।

जो लोग पूर्णता के कठोर मार्ग को नहीं अपना सकते, जिनके प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम नहीं हुआ अथवा विषयोपभोग के साधनों एवं लौकिक कार्यकलापों से जिनकी आसक्ति, ममता पूरी तरह से हटी नहीं है, फिर भी जो मुक्ति रूप परम ध्येय की ओर बढ़ना चाहते हैं, उनके लिए शस्त्रकारों ने पांच अणुव्रतों का विधान किया है, और उस आंशिक त्याग मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दी है। किन्तु ऐसे आंशिक त्यागी को भी उसी ध्येय को प्राप्त करने के लिए धीरे-धीरे बढ़ने के लिए उन्हें अकेले अणुव्रतों का सहारा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर्याप्त नहीं होता। गृहस्थ जीवन में उनके सामने अनेक अड़चने आकर खड़ी हो जाती हैं कि सहसा उन्हें मार्ग नहीं मिल पाता, अथवा गृहस्थ जीवन में कई प्रलोभन एवं मोहाकर्षण आ सकते हैं, जो उन्हें ध्येय की ओर बढ़ने ही नहीं देते। अणुव्रतों के अंगीकार करने के बावजूद उनकी गति-मति वहीं हो जाती है, वहां से एक कदम भी आगे बढ़ नहीं पाती इस स्थिति में परिवर्तन लाने, गृहस्थ श्रावक को इन कठिनाईयों से बचाने और उसकी स्थगित गति-मति में शक्ति का संचार करके आगे बढ़ाने के लिए शास्त्रकारों ने अणुव्रतों के साथ तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों की योजना की। इन गुणव्रतों के अपनाने पर अणुव्रतों के कारण ठप्प हुई प्रगति अब तीव्रता से होने लगती है और गृहस्थ श्रावक भी महाव्रती साधु की तरह जीवन जीने का कभी-कभी अभ्यास करके मुक्ति रूपी ध्येय तक पहुंच जाता है।

पांच अणुव्रत तो मूलव्रत हैं। गुणव्रत अणुव्रतों में विशेषता पैदा करने वाले हैं। अणुव्रत सोना है तो गुणव्रत उस सोने की चमक-दमक बढ़ाने के लिए पालिश के समान हैं। अणुव्रत पुस्तके है तो गुणव्रत उन पर जिल्द बांधकर और कवर लगाकर उनमें सुदृढ़ता स्थायित्व, और चमक पैदा करने वाले हैं। तीन गुणव्रत पांच अणुव्रतों में शक्ति का संचार करते हैं, उनमें विशेषता पैदा करते हैं, उनके परिपालन में होने वाली कठिनाइयों को दूर करते हैं। मूल अणुव्रतों को स्वच्छ रखते हैं। कुछ आचार्यों ने इन 7 उपव्रतों को ''शीलव्रत'' कहा है। उनका कहना है कि जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते हैं, वैसे ही शीलव्रत अणुव्रतों की रक्षा करते हैं।

अणुव्रतों की सहायता के लिए तीन गुणव्रत बताये गये हैं- दिशा-परिमाण व्रत, परिभोग, परिमाणव्रत और अनर्थ दण्ड विरमणव्रत। इन तीनों गुणव्रतों द्वारा अणुव्रतों की सीमा में रही हुई मर्यादा में और संकोच किया जाता है। जैसे गुणव्रतों में अमुक मर्यादा में तो हिंसा आदि के त्याग किये जाने के कारण हिंसा आदि पापों का आशिंक त्याग हो जाता है, किन्तु शेष बहुलांश में सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में हिंसादि पाप के द्वार खुले हैं। उन हिंसादि आश्रव-द्वारों को अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से बन्द करने में ये गुणव्रत सहायक होते हैं।

1.10 गुण एवं शिक्षाव्रत

1.10.1 दिशापरिमाणव्रत

प्राचीन काल में विज्ञान इतना विकसित नहीं हुआ था। आज विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मनुष्य के लोभ में भी प्रगति हुई है। वर्तमान युग के मानव ने अपने जीवन के वास्तविक ध्येय को भुलाकर प्राय: भौतिक सुख-सुविधा की सामग्री जुटाकर और उसका अधिकाधिक उपभोग करके इन्द्रिय जन्य सुखों को प्राप्त करना ही अपना ध्येय बना लिया है। इस भौतिक सुख की दौड़ में मनुष्य किसी प्रकार की सीमा बांधे बिना, कोई मर्यादा रेखा नीचे खीचे बिना दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक बेतहाशा भागा जा रहा है।

वस्तुत: श्रावक जो पांच अणुव्रत स्वीकार करता है, व्रतों में स्थिर रहते हुए ध्येय की ओर आगे बढ़ना ही उसका लक्ष्य बिन्दु होता है, परन्तु चित्त में शान्ति न हो तो ध्येय मार्ग में स्थिर रहा नहीं जा सकता, फिर आगे बढ़ना बहुत दूर की बात है। चित्त-शांति तभी हो सकती है, जब वृत्ति में संकोच हो। जब तक वृत्ति में संकोच नहीं होता, तब तक साधक के चित्त में व्यग्रता एवं चंचलता रहती है। चंचलता एवं व्यग्रता के रहते, व्यक्ति का किसी स्थान या इन्द्रिय-विषयों या लोभ पोषक पदार्थों का उपभोग करने, उस स्थान को देखने, उस स्थान-विषयक अनुभव प्राप्त करने का विचार हो ही जाता है। जिसने वृत्ति संकोच नहीं किया है, उसके मन-मस्तिष्क में चंचलता के कारण गमनागमन होना भी स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति में त्याग भावना न रहकर विलासिता अपना अधिपत्य जमा लेती है। दिशा परिमाण व्रत में छहों दिशाओं में गमनागमन मर्यादा कर लेने से पहले जो सर्वत्र हिंसा, असत्य आदि अमुक अंश में खुले थे, वे इन छहों दिशाओं में गमन-मर्यादा करने से उक्त मर्यादा के बाहर गमन न करने से हिंसादिद्वार बन्द हो जाते हैं।

दिशापरिमाणव्रत के धारण करने और भली-भांति सावधानी पूर्वक पालन करने से वह आत्मबल और त्यागबल बढ़ाने के अतिरिक्त श्रावक के द्वारा गृहीत पांचों अणुव्रतों पर भी प्रभाव डालता है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं, ''दिशापरिमाणव्रत धारण करने वाले श्रावकों के द्वारा प्रत्येक दिशा में नियत मर्यादित भूमि के बाहर स्थूल-सूक्ष्म सभी पापों से निवृत्ति हो जाने के कारण उसके पांच अणुव्रत भी पंच महाव्रत के रूप में परिणत हो जाते हैं।''

दिशापरिमाणव्रत या दिग्परिमाण शब्द दिशा और परिमाण उन दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है...... दिशाओं का, दिशाओं में गमनागमन का, परिमाण या मर्यादा अथवा दिशाओं में गमनागमन यातायात करने के संबंध में जो मर्यादा की जाती है, स्वेच्छा से जो सीमा का निश्चय किया जाता है कि ''मैं अमुक स्थान, नदी, पर्वत, वृक्ष, समुद्र जनपद, ग्राम या नगर से अमुक-अमुक दिशा में या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सब दिशाओं में इतने योजन, (कोस, मील आदि) से या इतनी दूर अथवा अमुक नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष, ग्राम या नगर आदि तक जाऊंगा, उससे आगे गमनागमन नहीं करूंगा', इस प्रकार की मर्यादाबद्धता, स्वैच्छिक सीमा-प्रतिबन्ध या निश्चय को दिशा परिमाणव्रत कहते हैं।

दिशापरिमाणव्रत लोभवृत्ति और लोभवृत्ति के कारण होने वाली हिंसा (शारीरिक एवं मानसिक), असत्य, बेईमानी, चोरी, परिग्रह वृत्ति आदि पापों को, जो कि विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए थे, चाहे वे अणुव्रत के दायरे में ही थे, सीमित कर देता है। वह लोभ के बढ़ते हुए सागर को एक गागर में सीमित कर देता है। आचार्य हेमचन्द्र ने दिग्विरतिव्रत की महिमा बताते हुए कहा है, ''जिस मनुष्य ने दिग्विरतिव्रत अंगीकार कर लिया, उसने जगत पर आक्रमण करने के लिए अभिवृद्ध लोभरूपी समुद्र को आगे बढ़ने से रोक दिया।'' इस व्रत को धारण करने के पश्चात मनुष्य लोभ के कारण दूर-दूर देशों में अधिकाधिक व्यापार आदि करने के लिए जाने से रूक जाता है। उन्हीं के शब्दों में, ''जैसे तपाये हुए लोहे के गोले को कहीं पर भी रखने से जीवों की हिंसा होती है, वैसे ही मनुष्य के चलने-फिरने से (फिर चाहे वह उड़कर गमन करे या पानी पर तैर कर गमन करे) त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती रहती है। किन्तु दिग्परिमाणव्रत के कारण आवागमन मर्यादित हो जाने से जीवों का विनाश कम हो जाता है।

निष्कर्षत: तृष्णा को घटाने के लिए और अपरिग्रह की दृढ़ता के लिए तथा तृष्णा एवं लोभ के कारण होने वाले हिंसा आदि दोषों को कम करने के लिए इस व्रत की आवश्कता है।

1.10.2 अनर्थ-दण्ड-विरमण: व्रत

बिना किसी उद्देश्य के जो हिंसा की जाती है, उसका समावेश अनर्थदण्ड में होता है। यद्यपि हिंसा तो हिंसा ही है, पर जो लोकिक दृष्टि से आवश्यक या प्रयोजनवश की जाती है, उसमें तथा निरर्थक की जाने वाली हिंसा में बड़ा भेद है। आवश्यकता या प्रयोजनवश हिंसा करने को जब व्यक्ति बाध्य होता है, तो उसकी विवशता देखते हुए उसे व्यावहारिक दृष्टि से क्षम्य भी माना जा सकता है, पर जो प्रयोजन या मतलब के बिना हिंसा आदि का आचरण करता है, वह सर्वथा अनुचित है। इसीलिए उसे अनर्थ-दण्ड कहा जाता है।

वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरि ने धर्म, अर्थ तथा काम रूप प्रयोजन के बिना किये जाने वाले हिंसापूर्ण कार्यों को अनर्थदण्ड कहा है अनर्थदण्ड की व्याख्या के अनुसार पाँच आस्त्रवों से अनुप्राणित मन-वचन-काया से होने वाली अनर्थदण्ड रूप प्रवृत्तियों के चार आधारस्तम्भ शास्त्रकारों ने बताए हैं। वे इस प्रकार हैं-(1) अपध्यानाचरित, (2) प्रमादाचरित, (3) हिंस्त्रप्रदान (4) पापोपदेश। आचार्य समन्तभद्र आदि ने चार के बदले पाँच भागों में अनर्थदण्ड को विभक्त किया है (1) पापोपदेश, (2) हिंसादान, (3) अपययान, (4) प्रमादचर्या और (5) दु:श्रति। अनर्थदण्ड के अन्तर्गत लिये गये अपध्यानाचरित का अर्थ है दुश्चिन्तन। दुश्चिन्तन भी एक प्रकार से हिंसा ही है। वह आत्मगुणों का घात करता है। दुश्चिन्तन दो प्रकार है- आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान। अपेक्षित वस्तु जैसे धन-संपत्ति, संतति, स्वस्थता आदि प्राप्त न होने पर एवं दारिद्रय, रूग्णता, प्रियजन का विरह आदि अनिष्ट स्थितियों के होने पर मन में जो क्लेशपूर्ण विकृत चिन्तन होता है, वह अर्न्तध्यान है। क्रोधावेश, शत्रुभाव और वैमनस्य आदि में प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुंचाने आदि की बात सोचते रहना रौद्रध्यान है। इन दोनों तरह से होने वाले दुश्चिंतन अपध्यानाचरित रूप अनर्थदण्ड है।

प्रमादाचरित - अपने धर्म, दायित्व व कर्त्तव्य के प्रति अजागरूकता अथवा प्रमाद है। ऐसा प्रमादी व्यक्ति अक्सर अपना समय दूसरों की निन्दा करने में, गप्प मारने में, अपने बड़प्पन की शेखी बघारते रहने में अश्लील बातें करने में बिताता है। उनसे संबंधित मन, वचन तथा शरीर के विकार प्रमादाचरित में आते हैं। हिंसा प्रधान-हिंसा के कार्यों में साक्षात् सहयोग करना, जैसे चोर, डाकू तथा शिकारी आदि को हथियार देना, आश्रय देना तथा दूसरी तरह से सहायता करना, ऐसा करने से हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है, अत: यह अनर्थदण्ड है। पापकर्मोपदेश-औरों को पाप कार्य में प्रवृत्त होने में प्रेरणा, उपदेश या परामर्श देना। उदाहरणार्थ, किसी शिकारी को यह बतलाना कि अमुक स्थान पर शिकार योग्य पशु-पक्षी उसे बहुत प्राप्त होंगे, किसी व्यक्ति को दूसरों को तकलीफ देने के लिए उत्तेजित करना, पशु-पक्षियों को पीड़ित करने के लिए लोगों को दुष्प्रेरित करना-इन सबका पाप-कर्मोपदेश में समावेश है।

अनर्थदण्ड में लिये गये ये चारों प्रकार के दुष्कार्य ऐसे है, जिनका प्रत्येक धर्मनिष्ठ शिष्ट व सभ्य नागरिक को परित्याग करना चाहिए। अध्यात्म उत्कर्ष के साथ-साथ उत्तम ओर नैतिक नागरिक जीवन में भी यह बहुत ही आवश्यक है। अनर्थदण्ड विरमणव्रत से मन-वचन-काया से होने वाली समस्त प्रवृत्तियाँ शुद्ध होती है। वास्तव में अनर्थदण्ड का त्याग साधक को प्रवृत्ति के निकट लाता है,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्राकृतिक जीवन जीने की प्रेरणा देता है, जबकि अनर्थदण्ड के पुजारी भोग परायण भौतिकवादी लोग कृत्रिम जीवन जीना पसन्द करते हैं, जो उनके ही लिए अधिक दु:खदायक, अशांतिजनक और भयावह होता है। इसीलिए गृहस्थ श्रावक को इस व्रत के सभी पहलुओं पर विचार करके उत्साहपूर्वक उसका पालन करना चाहिए।

1.10.3 भोगोपभोग परिमाण

मनुष्य जीवन केवल संग्रह या उपभोग के लिए ही नहीं है। इसमें उपभोग के साथ त्याग भी अनिवार्य है। मनुष्य विवेकशील और सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसे अपने परिवार और समाज में दूसरों के लिए भी त्याग करना पड़ता है। इस त्याग में उसे कोई कष्ट नहीं होता, वह सहज स्वाभाविक रूप से होता रहता है। इसी प्रकार यदि वह अपने जीवन में स्थायी न बन कर अपने परिवार और समाज को और अधिकाधिक व्यापक मानकर चले और उनके लिए त्याग करता हुआ, अनिवार्य वस्तुओं का ही उपयोग करें तो उसका जीवन भी सुख-पूर्वक चल सकता है और उनके साथ-साथ अनेक लोगों का जीवन भी आनन्द से व्यतीत हो सकता है।

संसार में मुख्यत: लोग दो से जीवन जीते हैं। एक तो इन्द्रियजन्य विषयों की पूर्ति के लिए अन्धाधुन्ध, अविवेकपूर्वक पदार्थों का उपभोग करके और दूसरे विवेकपूर्वक शरीर-रक्षा के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक पदार्थों का उपयोग करके। यह एक सर्वविदित लक्ष्य है कि सुख का मूल आत्मशक्ति में है। पदार्थों के उपभोग से तो आत्मा की कर्तृत्वशक्ति क्षीण होगी ही साथ ही पदार्थों के प्रति पराधीनता या पदार्थों की अपेक्षा बढ़ने से आत्मा की शक्ति बढ़ेगी नहीं। आत्मशक्ति का सच्चा विकास पदार्थों के उपभोग से नहीं, त्याग में है। त्याग की शक्ति जितनी बढ़ेंगी, उतना ही पदार्थों की पराधीनता से छुटकारा मिलेगा और उतनी-उतनी आत्माशक्ति बढ़ेगी। गृहस्थ श्रावक का एक मनोरथ भी है सांसारिक पदार्थों (परिग्रह) तथा आरम्भ से सर्वथा मुक्त होना। अत: त्याग (पदार्थों के त्याग) द्वारा आत्मशक्ति बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय भोगोपभोग परिमाण व्रत है। भगवान महावीर ने कहा, ''जो कामभोगों से निवृत्त हो चुके हैं, तप ही जिनका धन है, जो संयम में या शीलगुणों में ही रत रहते हैं, उनको जो सुख है, वह सुख उन कामभोगों में नहीं है, जिसमें अज्ञानी लोग ही रमण करते हैं, जिनका परिमाण दु:ख ही है। भोग क्षण मात्र ही सुख कारक है, किन्तु बाद में बहुत काल तक दुखदायी है, ऐसा समझकर क्षणिक सुखदायी भोगों का त्याग ही श्रेष्यकर है। भोगों में डूबे हुए पश्चिम देश के विचार को भी भोगों की असारता एवं परिणाम में पीड़ाकारिता का अनुभव हुआ तो उन्होंने भी इस सन्दर्भ में विचार जगत् के समक्ष प्रस्तुत किये।

भोगवृत्ति जब प्रबल होती है, तब सद्गुणों का नाश हो जाता है। भोग जब जीवन में अपना आसन जमाता है, तब सद्गुणों का ह्रास होने लगता है। वैदिक धर्म में भी इसी प्रकार विचारों की क्रान्ति आई। यहां भी कामभोगों को, सांसारिक सुखभोगों की कामना को हेय समझा जाने लगा मन और इन्द्रियों को वश में रखकर भोगों का परित्याग करने को ही उत्तम जीवन का लक्षण माना गया। गीता में कहा गया है कि तब कोई मनोगत सभी कामभोगों की कामनाओं का त्याग कर देता है तथा अपने आप में तृप्त हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ-संयत कहलाता है।

इस प्रकार भोग की संस्कृति का प्राय: हर धर्म-दर्शन ने निषेध किया है, किन्तु जैन धर्म में इस निषेध को महत्त्वपूर्ण मान एक गुणव्रत के रूप में स्वीकार किया। इस व्रत के स्वीकार करने से मूल व्रतों का विकास होता है, वे देदीप्यमान होते हैं, सादगी से जीवन व्यतीत होता है, जनता में वह विश्वस्त एवं प्रतिष्ठित हो जाता है। वस्तुत: पाँच मूलव्रतों के धारक श्रावक को उन व्रतों की सुरक्षा एवं वृद्धि के उद्देश्य से वृत्ति का संकोच करना आवश्यक है। इसी हेतु से छठा द्विग्परिमाणव्रत लिया जाता है, लेकिन इस व्रत में मर्यादित क्षेत्र के बारह का क्षेत्र एवं वहां के पदार्थदि से तो श्रावक विरत हो जाता है, मगर मर्यादित क्षेत्र के अन्तर्गत भी पदार्थों का उपभोग-परिभोग की मर्यादा हो जाती है, वृत्ति-संकोच हो जाता है। इस प्रकार मूलव्रतों के स्वीकार करने पर जो अव्रत शेष रह जाता है, वह दिग्परिमाणव्रत धारण करने से क्षेत्र से और उपभोग-परिभोग परिमाण के स्वीकार से संकुचित-सीमित हो जाता है। मूलव्रत प्रशस्त हो जाते हैं। उनमें गुण उत्पन्न करके ये दोनों उन्हें दीप्त कर देते हैं।

भोगोपभोग परिमाणव्रत में भोग और उपभोग का परिमाण दो रूप में किया जाता है- एक विधि रूप से और दूसरा निषध रूप से। मैं इस भोग और उपभोग का इतने तक सेवन करूँगा, यह विधि रूप है और मैं इस इतने भोग और उपभोग का सेवन इतने समय तक नहीं करूंगा।' यह निषेध रूप है। इस व्रत का उद्देश्य शारीरिक आवश्कताओं को कम-से-कम करके श्रावक के जीवन को मर्यादित, विवेकसम्पन्न, सादा, संयमपोषक बनाना है। जिसकी शारीरिक आवश्यकताएँ जितनी अधिक होंगी, उसे उनकी पूर्ति हेतु उतना ही अधिक पाप, प्रवृत्ति या आरम्भ करना पड़ेगा, इसके विपरीत जिसकी आवश्यकताएँ जितनी कम होंगी, उसे उतनी प्रवृत्ति या आरम्भ भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नहीं करना पड़ेगा। वह धर्म-कार्य के लिए भी पर्याप्त समय बचा सकेगा। अधिक पाप से या आरम्भ से भी अपने को बचा सकेगा। यही इस व्रत का आशय है।

गृहस्थ श्रावक पाँच अणुव्रतों और उन्हें परिपुष्ट करने वाले तीन गुणव्रतों को स्वीकार तो कर लेता है और उनका पालन भी अपनी शक्ति के आधार पर वह कर लेता है, परन्तु वह प्राय: शरीर, मन एवं वचन से संबंधित व्रतों को स्वीकार करता है, क्योंकि श्रावक जो भी व्रत स्वीकार करता है, वह सर्वांशरूप से नहीं, एकांशरूप से करता है। इन आठ व्रतों से वह इतनी योग्यता सम्पादन कर लेता है कि पांच अणुव्रतों को स्वीकार करके उसने हिंसा आदि आश्रवों का आंशिक रूप से त्याग किया, महापाप का त्याग किया। भौतिक वस्तुओं में आनन्द मानना छोड़कर जीवन-निर्वाह के लिए सीमित पदार्थों का उपभोग-परिभोग स्वीकार किया, क्षेत्र मर्यादित किया, उनमें भी निरर्थक हिंसादि का त्याग किया, अपनी आवश्यकताएं अत्यन्त सीमित कर ली। श्रावक इस प्रकार की त्यागवृत्ति आठव्रतों द्वारा प्राप्त कर लेता है। लेकिन यह त्यागवृत्ति तभी टिक सकती है, जब श्रावक आध्यात्मिक आनन्द से ओत-प्रोत हो, आत्म-स्वरूप का उसे भान हो जाए, आत्मा-अनात्मा (चेतन और जड़) का भेदविज्ञानय हो, आत्मा के नैतिक गुणों का तथा पदार्थों से आत्मा की भिन्नता का संस्कार परिपक्व हो जाए। अन्यथा उसके द्वारा प्राप्त त्यागवृत्ति टिकेगी नहीं। वैराग्य के बिना, त्याग में स्थिरता नहीं आती। इसी दृष्टिकोण शास्त्रकारों ने सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास एवं अतिथि संविभाग, इन चार शिक्षाव्रतों का विधान किया, जिनसे श्रावक आत्मस्वरूप का भान जागृत रख सके, भेदविज्ञान को भी स्थायित्व प्रदान कर सके।

यद्यपि सभी आचार्यों ने गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार कहे हैं किन्तु गुणव्रत और शिक्षाव्रत के नामों में अन्तर है। इन दोनों व्रतों को शीलव्रत कहते हैं पूज्यपाद स्वामी ने शील को व्रत की रक्षा के लिए बतलाया है। भगवती अराधना में भी कहा है कि जैसे धान्य की रक्षा के लिए बाड़ होती है, वैसे ही व्रत की रक्षा के लिए शील है। अमृतचन्द्रजी ने भी यही कहा है कि जैसे चारदीवारी नगर की रक्षा करती है, वैसे ही शील व्रतों की रक्षा करते है। अत: सातों शील अणुव्रतों के रक्षक हैं, इसमें कोई मतभेद नहीं है। किन्तु जब सात शीलों को गुणव्रत और शिक्षाव्रत में विभाजित करते हैं, तो भेद स्पष्ट हो जाता है।

आशाधरजी शिक्षा प्रधान होने से इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं, किन्तु इनसे किस तरह की शिक्षा मिलती है, स्पष्ट नहीं करते। और आशाधरजी ने भी जो गुणव्रत और शिक्षाव्रत की व्युत्पत्ति की है, उसका आधार भी श्वेताम्बराचार्य का योगशास्त्र प्रतीत होता है। श्वेताम्बर साहित्य में यही कथन पाया जाता है। गुणव्रत और शिक्षाव्रत में अन्तर बतलाते हुए कहा है कि सामाजिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग ये चारों स्वल्पकालिक होते हैं। सामाजिक देशावकाशिक तो प्रतिदिन किये जाते हैं और पौषधोपवास तथा अतिथि संविभाग प्रतिनियत दिन ही किये जाते हैं, प्रतिदिन नहीं किये जाते। अत: गुणव्रतों से इनका भेद है। गुणव्रत तो प्राय: जीवनपर्यन्त होते हैं। स्थिति यह है कि दिग्व्रत और अनर्थदण्डव्रत को सबने गुणव्रत माना है तथा सामायिक, पौषधोपवास और अतिथिसंविभाग को शिक्षाव्रत माना है। कुन्दकुन्द और उनका अनुसरण करने वाले देशव्रत नहीं मानते। वे संल्लेखना को शिक्षाव्रतों में लेते हैं, उस तरह जो देशव्रत मानते हैं, उन सबमें केवल देशव्रत और भोगपभोग परिमाणव्रत को लेकर मत-भेद है। एक पक्ष देशव्रत को शिक्षाव्रत और भोगपभोग परिमाण को गुणव्रत मानता है। दूसरा पक्ष भोगोपभोग परिमाण को गुणव्रत और देशव्रत को शिक्षाव्रत मानता है। इनमें से देशव्रत कुछ समय के लिए ही होता है, किन्तु भोगपभोग परिमाण जीवन-पर्यन्त के लिए होता है। शास्त्रकारों ने कहा है कि इन चारों शिक्षाव्रतों का जितना अधिक अभ्यास किया जाएगा, उतना ही श्रावक-जीवन व्यापक एवं प्रशस्त बनेगा, पूर्वोक्त आठ व्रतों में उत्तरोत्तर शुद्धता आयेगी, निम्नलिखित चार शिक्षाव्रतों की विस्तृत चर्चा की जायेगी।

1.10.4 सामायिक शिक्षाव्रत

सामायिक समभाव की एक विशेषता साधना एवं उपासना है। सामायिक की साधना केवल सामायिक क्रिया तक ही सीमित नहीं है, वह सर्वव्यापक है। सामायिक की विराट् साधना किसी एक व्यक्ति, किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं है। वास्तव में सामायिक का अर्थ और उद्देश्य प्राणी-मात्र को आत्मवत समझते हुए समत्व का व्यवहार करना है। सम, आय और इक तीनों मिलकर सामायिक शब्द बना है। सम का अर्थ है- समभाव, सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति, आय का अर्थ है लाभ। जिस प्रवृत्ति से समता=समभाव का लाभ=अभिवृद्धि हो, वही सामायिक है।

समता या समभाव का अर्थ है- राग-द्वेष के प्रसंगों में मध्यस्थ रहना, विषम न होना। सम का विधेयात्मक अर्थ समस्त जीवों पर मैत्री भाव रखना है। सावधयोग अर्थात् पापमय प्रवृत्तियों का परित्याग और निरवद्ययोग यानी अहिंसा, सत्य और समत्व आदि प्रवृत्तियों का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आचरण, ये दो, जीव के शुद्ध स्वभाव को सम कहते हैं। कई आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सम कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त प्रकार के सम का आय=लाभ अथवा सम में प्रवृत्ति करना सामयिक है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार सभी व्युत्पत्तियों का आशय एक ही है वह है--समता। और समता ही सामायिक है। राग-द्वेष के कारण उपस्थित होने पर या जो पदार्थ राग-द्वेष के कारण है, उनमें मध्यस्थता रखना, राग-द्वेष नहीं करना सामायिक है।

इस तरह व्यवहार से जिन भगवान् का अभिषेक, पूजा, स्तुति, जप आदि सामायिक है और निश्चय से अपनी आत्मा का ध्यान ही सामायिक है। इस प्रकार सामायिक रूपव्रत को सामायिक व्रत कहते हैं। यह सामायिक एकान्त स्थान में की जाती है। इसको करने वाला उस समय समस्त आरम्भ और परिग्रह के आग्रह से रहित होता है, इसलिए उसे मुनि के समान कहा है। मुनि जीवन-पर्यन्त के लिए समस्त हिंसा आदि पाँच पापों का त्याग करता है, किन्तु सामायिक व्रती जितने समय तक आत्मध्यान में लीन होता है, उतने समय तक सर्वत्र पांचों पापों का त्याग करता है। देशावकाशिक व्रती तो हुई मर्यादा से बाहर के क्षेत्रों में ही पांचों पापों का त्याग करता है, किन्तु सामायिक व्रती सर्वत्र पांचों पापों का त्याग करता है। यह इन दोनों में अन्तर है, जो सामायिक करना चाहता है, वह सामायिक से पहले यह नियम करता है कि जब तक मेरे बंधे केश न खुले या वस्त्र की गाँठ मैं न खोलूं या बंधी मुठी न खोलूं, तक तक मैं साम्यभाव से विचलित नहीं होऊंगा, अर्थात् इतने समय तक मैं सामायिक करूंगा। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने केशों का बन्ध, मुठी का बन्ध, वस्त्र का बन्ध, पालथी बन्ध, स्थान और बैठने को समय कहा है। अर्थात् सामायिक में ये सब आवश्यक होते हैं।

उन्होंने चित्त को चंचल करने वाले कारणों से रहित एकान्त स्थान, जैसे वन, मकान या चैत्यालय में प्रसन्न मन से सामायिक करने का निर्देश किया है तथा उपवास एकासन में भी सामायिक करने का विधान किया। वैसे तो नियमित रूप से प्रतिदिन आलस्य छोड़कर सामायिक करना ही चाहिए, क्योंकि वह पाँचों अणुव्रतों की पूर्ति में कारण है। यह भी कहा है कि सामायिक के काल में न कोई आरम्भ होता है और न पहले कुछ वस्त्र के सिवाय कोई परिग्रह होता है। इसलिए उस समय ग्रहस्थ उस मुनि के तुल्य होता है, जिस पर किसी ने वस्त्र लपेट दिया हो। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी राग-द्वेष को त्याग कर समस्त द्रव्यों में समभाव धारण करके बार-बार सामायिक करने का विधान किया है, क्योंकि सामायिक तत्व की उपलब्धि का मूल है। अर्थात् आत्मतत्व की उपलब्धि का मूल कारण सामायिक है। रात्रि के अन्त में अर्थात् प्रात: और दिन के अन्त में अर्थात् संध्या को तो सामायिक अवश्य करना चाहिए। अन्य समय में भी करने से कोई हानि नहीं, बल्कि लाभ ही है। यह भी कहा गया है कि यद्यपि सामायिक करने वाले गृहस्थ के चारित्रमोह का उदय होता है, फिर भी उस समय में समस्त सावद्य योग का त्याग होने से महाव्रत होता है। इस तरह सब आचार्यों ने आत्मध्यान को ही सामायिक कहा है, किन्तु सोमदेव सूरि ने आप्तसेवा के उपदेश का समय और उसमें किये जाने वाले कार्य को सामायिक कहा है। उसे आशाधरजी ने व्यवहार सामायिक कहा है। उपासक अध्ययन में सामायिक व्रत के अन्तर्गत पूजा विधान का विस्तार से वर्णन है। इससे पहले इतना स्पष्ट और विस्तृत वर्णन पूजाविधि के बारे में नहीं मिलता। आचार्य वसुनन्दी ने भी दोनों प्रकारों को सामायिक कहा है। उन्होंने लिखा है--''शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने घर में ही प्रतिमा के सम्मुख होकर अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्वमुख या उत्तर मुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिनबिम्ब, पंचपरमेष्ठी और जिनालयों की जो नित्य त्रिकाल वन्दना की जाती है, वह सामायिक है। जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ-अलाभ को, शत्रु-मित्र को, संयोग-वियोग को, तृण कांचन को, चन्दन और कुठार को समभाव से देखता है तथा मन में पंच नमस्कार मंत्र को धारण करके उत्तम अष्ट प्रातिहारों से युक्त अर्हन्त जिनके स्वरूप और सिद्ध भगवान् के स्वरूप को ध्याता है, अथवा संवेगसहित निश्चल अंग होकर एक क्षण भी उत्तम ध्यान करता है, उसके उत्तम सामायिक होती है।'' श्वेतात्मबराचार्य हेमचन्द्र ने सावद्य कार्यों तथा आर्त्त और रौद्रध्यान को छोड़कर एक मुहर्त्त तक समताभाव को सामायिक कहा है।

सामायिक ही मोक्ष का उत्कृष्ट साधन है इसलिए आलस्य त्यागकर नित्य रात्रि और दिन के अंत में अवश्य सामायिक का अभ्यास करना चाहिए तथा अपनी शक्ति के अनुसार मध्यान्ह आदि अन्य में भी अभ्यास करें। परम प्रकर्ष को प्राप्त चारित्र ही मोक्ष का साक्षात् कारण होता है। सामायिक उसी का अंश है। सामायिक में आत्मध्यान का अभ्यास किया जाता है, यह अभ्यास ही स्थिर होते-होते शुक्ल-ध्यान का रूप लेता है और अन्त में शुक्लध्यान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए श्रावक को प्रात: और सांय दो बार सामायिक अवश्य करना चाहिए। यदि शक्ति हो तो मध्यान्ह में या अन्य समय भी कर सकते हैं। नियमित समय से अन्य समय में भी करने से कोई दोष नहीं है, बल्कि गुण ही हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने दिन और रात्रि के अन्त में तथा समन्त भद्राचार्य ने प्रतिदिन सामायिक करने पर बल दिया है। सामायिक करते समय परिषह और उपसर्ग आ जाये तो उन्हें जीतने के लिए शास्त्रकारों ने सामायिक करने वाले को संसार और मोक्ष के स्वरूप का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चिन्तन करना चाहिए कि मोक्ष अनन्तज्ञानादि रूप होने से आत्मरूप है अर्थात् जो आत्म का स्वरूप है, वहाँ मोक्ष का स्वरूप है, क्योंकि शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति का नाम मोक्ष है। मोक्ष आकुलता रहित चितस्वरूप होने से सुखरूप है तथा संसारदशा का प्रध्वंसाभावरूप होने से मोक्ष अनन्तकाल रहने वाला है। मोक्ष होने से पुन: संसार दशा नहीं होती तथा मोक्ष समस्त विपत्तियों से दूर है और समस्त अनिष्टों से रक्षा करने का उपाय है अर्थात् मोक्ष प्राप्त होने पर किसी भी प्रकार का अनिष्ट संभव नहीं है, अत: शरण है, किन्तु संसार मोक्ष से बिल्कुल विपरीत है, क्योंकि आत्मा के द्वारा गृहीत कर्मों के उदय के वश से चार गतियों में भ्रमण का नाम संसार न तो आत्मरूप है, न सुखरूप है, किन्तु दु:खस्वरूप है और सदा परिवर्तनशील होने से अनित्य है और इसलिए अशरण है। अत: संसार में रहने हुए तो उपसर्ग और परीषह ही सम्भव है। ऐसा विचार करने से विपत्ति के समय मन सहिष्णु बन जाता है, इससे यह बतलाया है कि सामायिक करने वाले को परीषह, उपसर्ग आदि सहन करने चाहिए।

आचार्य समन्तभद्र ने भी कहा है कि सामायिक करने वाले मौनपूर्वक शीत, उष्ण तथा डंक-मच्छरों के परीषह और उपसर्ग को तिरस्कृत कर देते हैं।

सामायिक में समभाव की साधना ही मुख्य है। समभाव कहाँ-कहाँ, किस-किस प्रकार रखना चाहिए। इसका समाधान देते हुए शास्त्रकारों ने सामायिक की साधना को बार-बार के अभ्यास से परिपुष्ट एवं सुदृढ़, संस्कारबद्ध बनाने के लिए इसके चार रूपों पर ध्यान देने पर बल दिया है :-

(1) द्रव्य-सामायिक (2) क्षेत्र-सामायिक

(3) काल-सामायिक (4) भाव-सामायिक

1.10.4.1 द्रव्य-सामायिक

इसका अर्थ है अच्छे, बुरे, मनोज्ञ, अमनोज्ञ, सजीव या निर्जीव पदार्थों के प्रति राग-द्वेष न करते हुए समभाव रखना।

1.10.4.2 क्षेत्र-सामायिक

इसका अर्थ है-कोई भी स्थान या क्षेत्र अनुकूल मिले या प्रतिकूल, दोनों ही अवस्थाओं में राग-द्वेष न करके समभाव रखना। समभावी साधक किसी भी क्षेत्र विशेष को पाकर घबराता नहीं, नरक में भी वह स्वर्ग की सृष्टि कर लेता है, कुछ प्रकृति के लोगों के बीच रहते हुए भी वह अपनी समता नहीं खोता, अगर उसे ऐसे क्षेत्र में रहने का काम पड़ता है, जहाँ के लोग क्रूर और निष्ठुर हों, वहाँ भी वही अपनी शान्त ओर सम प्रकृति से उन्हें प्रभावित करता है।

1.10.4.3 काल-सामायिक

उसका अर्थ है - कैसा भी काल हो, अपना समभाव न छोड़ना। कई जगह दुष्काल पड़ जाता है, उस समय सामायिक का साधक अपनी समता का परित्याग नहीं करता, समभाव से सब कुछ सहता है। कालसमभाव का एक अर्थ परिस्थिति समभाव भी है। व्यक्ति के जीवन में किसी समय सुख, शांति, आनन्द और उल्लास आता है, तो दूसरे समय में दु:ख, शोक, अशान्ति, संघर्ष और संक्लेश भी आ सकता है। सुख-दु:ख वास्तव में परिस्थितिजन्य न होकर मनोनुभूतिजन्य होते हैं, इस सत्य के अनुसार सामायिक का साधक अपने सुखी या दु:खी होने का कारण अपने अन्त:करण में खोजता है, परिस्थितियों को श्रेय या दोष नहीं देता। श्रावकाचार में उल्लेख है कि लाभ की परिस्थिति हो या अलाभ की, सुखमय परिस्थिति हो या दुखमय, जीवन लम्बा और दीर्घकालीन मिले या आज ही मरण उपस्थित हो जाए, कोई निन्दा करता हो या प्रशंसा या सम्मान करता हो या अपमान करता हो, सभी परिस्थितियों में सामायिक साधक सम रहे, स्वस्थ ओर मध्यस्थ रहे।

अलाभ और अभाव की परिस्थिति उपस्थित होने पर सामायिकव्रती निराश नहीं होता। हर काली रात के पीछे एक प्रकाशमान दिन तैयार रहता है। निराशा भी काली अंधेरी रात है, इसका भी तो रात्रि की तरह स्थायी अस्तित्व नहीं होता। शीघ्र ही इनका समाप्त हो जाना निश्चित है। अत: अलाभ या अभाव की परिस्थिति में समभावी साधक निराशा को अपने पर छाने नहीं देता। जिस प्रकार लाभ और अलाभ में सामायिक का साधक अपने समत्व का परिचय देता है, वैसे ही सुख और दु:ख में भी समत्व का परिचय देगा। जिसका स्वभाव सन्तोषी है, समत्व से युक्त है, वह अभाव की परिस्थितियों में भी व्यग्र अथवा दु:खी नहीं होगा अपितु वह आशा, उत्साह एवं आत्म-विश्वास तथा साम्य का अवलम्बन लेकर आगे बढ़ता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.10.5 देशावकाशिक व्रत

दिशापरिमाणव्रत में जीवन भर के लिए दिशाओं की मर्यादा की जाती है। उन दिशाओं की मर्यादाओं के परिमाण में कुछ काल के लिए या दिनों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना देशावकाशिक व्रत है। देश अर्थात् दिग्व्रत में परिमाण किये गये क्षेत्र के हिस्से में अवकाश अर्थात् ठहरना जिसमें हो, यह देशावकाशिक का निरुक्ति पूर्वक लक्षण है। काल का परिमाण करके नियत देश में सन्तोष पूर्वक रहने वाला श्रावक देशावकाशिकी कहा जाता है। आधुनिक युग मे इसे संवर ग्रहण करना भी कहते हैं।

देशाकालिक व्रत में देश और अवकाश ये दो शब्द हैं। जिनका अर्थ है- स्थानविशेष। क्षेत्र-मर्यादा को संकुचित करने के साथ ही उपलक्षण से उपभोग-परिभोगादि रूप अन्य मर्यादाओं को भी संकुचित करना भी इस व्रत में ग्रर्भित है। दिग्व्रत के द्वारा जीवन-भर के लिए क्षेत्र को सीमित करके मर्यादा के बाहर जैसे अणुव्रत महाव्रत की संज्ञा को प्राप्त होते हैं, उसी तरह कुछ समय के लिए दिग्व्रत की सीमा को मर्यादित करके देशव्रत के द्वारा भी वही किया जाता है। आवश्यक सूत्र की वृत्ति में यह स्पष्ट है कि देशावकाशिक व्रत में दिग्व्रत की मर्यादा संक्षिप्त की जाती है। किन्तु उपलक्षण से अन्य अणुव्रतों को भी संक्षेप किया जाता है, अर्थात् जिस व्रत में जो मर्यादाएं रखी गई हैं, उन सभी मर्यादाओं को एक घड़ी, मुहूर्त्त, प्रहर, दिन-रात आदि के लिए न्यून कर देशावकाशिक व्रत है।

विवेकी श्रावक प्रतिपल-प्रतिक्षण यह चिन्तन करता है कि मेरी आत्मा में इतनी शक्ति पैदा हो जाए कि मैं आरम्भ-समारम्भ का पूर्ण रूप से त्याग कर निग्रन्थ बन जाऊं। इसी उदात्त भावना के कारण श्रावक व्रत ग्रहण करते समय जो मर्यादाएं रखी हैं, उन्हें वह और भी संक्षिप्त करता है। प्राचीन आचार्यों ने चौदह नियमों के चिन्तन क्रम ऐसा रखा है, जिससे प्रतिदिन भोजन, पान और अन्यान्य प्रवृत्तियों के विषय में मर्यादाएं निश्चित की जा सकती हैं। इन नियमों को ग्रहण करने से जीवन अनुशासित बनता है और त्याग-मार्ग में दृढ़ता आती है। इन चौदह नियमों का संक्षिप्त उल्लेखव निम्न है।

1. सचित्त- प्रतिदिन अन्न, फल, पानी आदि के रूप में जिन सचित्त वस्तुओं का सेवन करते है, उनकी मर्यादा निश्चित करना। प्रस्तुत मर्यादा संख्या, तौल व नाप के रूप में की जाती है।
2. द्रव्य- खाने-पीने संबंधी वस्तुओं की मर्यादा।
3. विगय- घी, तेल, दूध, दही, गुड़ और पक्वान की मर्यादा।
4. पण्णी- पैर में पहनी जाने वाल वस्तुओं की मर्यादा।
5. तांबूल- तांबूल आदि की मर्यादा।
6. वस्त्र- प्रतिदिन पहले जाने वाले वस्त्रों की मर्यादा।
7. कुसुम- फूल, इत्र आदि सुगान्धित पदार्थों की मर्यादा।
8. वाहन- सवारी आदि की मर्यादा।
9. शयन- शय्या एवं स्थान की मर्यादा।
10. विलेपन- केसर, चन्दन, तेल, प्रभृति लेप किये जाने वाले पदार्थों की मर्यादा।
11. ब्रह्मचर्य- मैथुन सेवन की मर्यादा।
12. दिशा- दिशाओं में यातायात व अन्य प्रवृत्तियों की मर्यादा।
13. स्नान- स्नान व जल की मर्यादा।
14. भक्त- असन, पान, खादिम, स्वादिम की मर्यादा।

इस प्रकार नियमों का चिन्तन करके प्रत्येक नियम के संबंध में प्रतिदिन मर्यादा निश्चित की जाती है। आचार्य समन्तभद्र ने देशावकाशिक व्रत का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा है कि इस व्रत में एक तरह से महाव्रतों के सदृश साधना हो जाती है। उसने गमनागमन की जितनी सीमा रखी है, उसके अतिरिक्त उस श्रावक के स्थूल-सूक्ष्म सभी पापों का त्याग हो जाता है। दिशा-परिमाण-व्रत में जिन दिशाओं की मर्यादाएं रखी गई हैं, उनको प्रस्तुत व्रत में संक्षेप किया जाता है। आचार्य अभयदेव ने प्रस्तुत व्रत की परिभाषा करते हुए लिखा है- देश अर्थात् दिशाव्रत में रखा हुआ जो विभाग-अवकाश या क्षेत्र-सीमा का प्रदेश है उसको और भी कम करना, यह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

देशावकाश है। उसी व्रत को देशावकाशिक कहते हैं। अथवा दिनपरिमाणव्रत में निश्चित किये हुए दिशा–परिमाण को प्रतिदिन संकुचित करना, देशावकाशिक है।

देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचार

प्रस्तुत व्रत में दिगपरिमाणव्रत में रखी हुई क्षेत्र–मर्यादा को घटाने का विधान है। उसी परिभाषा के आलोक में देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचारों का वर्णन हुआ है :

1. **आनयन प्रयोग :–** इस व्रत को ग्रहण करने के बाद दिशाओं का संकोच कर लेने से आवश्यकता उत्पन्न होने पर मर्यादित भूमि से बाह्य रहे हुए सचित्त आदि पदार्थ किसी को प्रेषित कर मंगवाना, या समाचार मंगवाना, आनयन प्रयोग अतिचार है।
2. **प्रेष्य प्रयोग :–** मर्यादित क्षेत्र से बाहर किसी वस्तु को भेजना।
3. **शब्दानुपात :–** जिस देश में स्वयं न जाने का निमय ग्रहण किया हो, वहां पर शब्द संकेत से अपना कार्य करना।
4. **सपानुपात :–** मर्यादित क्षेत्र के बाहर कोई वस्तु, संकेत आदि भेजकर उसी के सहारे काम करना।
5. **पुद्‌गल प्रक्षेप :–** मर्यादित क्षेत्र से बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंक कर किसी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना।

1.10.6 पौषधव्रत

पौषधव्रत श्रावक के बारह व्रतों में से ग्यारहवाँ व्रत है और चार शिक्षाव्रतों में तीसरा शिक्षाव्रत है। पौषधोपवासव्रत आत्म–निर्माण की सर्वोत्तम साधना है। गृहस्थ–श्रावक को वैसे तो अपने गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों से अवकाश कम मिलता है, किन्तु जब अवकाश मिलता है, थोड़ा–सा मिलता है, इसलिए भगवान् महावीर ने अपनी आन्तरिक (आत्मिक) सुव्यवस्था विकास एवं आत्मशक्ति बढ़ाने के लिए अष्टमी, चतुर्दशी, पक्खी आदि पर्व–तिथियों पर पूरे दिन–रात का अवकाश लेकर श्रावक के लिए पौषधोपवास की साधना करने का निर्देश किया। मनुष्य का आत्मविकास इसके अपने आध्यात्मिक पुरूषार्थ से होगा, इस दृष्टि से ही भगवान् महावीर ने गृहस्थ श्रावक के आध्यात्मिक विकास के लिए सामायिक एवं देशावकाशिक की तरह पौषधोपवासव्रत का विधान किया।

पौषधोपवास की साधना में शारीरिक प्रपंच से बिल्कुल निश्चिन्त, आजीविका के क्षेत्र से भी निवृत्त होकर एकमात्र आत्मा की उपासना में ही गृहस्थ साधक एक रात–दिन बिताता है, इसलिए उसका आध्यात्मिक उत्कर्ष से सीधा सम्बन्ध है। इस साधना से गृहस्थ श्रावक के अन्त:प्रदेश का ऐसा शोधन, परिष्कार एवं अभिवर्धन होता है, जिसके फलस्वरूप सर्वतोमुखी आत्मिक उन्नति का द्वार खुल जाता है, जो विध्न बाधाएँ आत्मिक प्रगति का मार्ग रोके खड़ी रहती है, उन्हें स्वयं साधक इस व्रत में पुरूषार्थ से आत्मबली बन कर हटा सकता है।

मनुष्य, विशेषत: सम्यग्दर्शन–सम्पन्नव्रतधारी श्रावक वीतराग परमात्मा का लघुपुत्र है। वह अपने अन्दर अनन्त शक्तियों की योग्यता को छिपाएं हुए हैं। अपरिमित आध्यात्मिक सम्पदाएं उसमें सुषुप्त है। इसका दीन–हीन और निर्बल होकर आत्म–विस्मरण करना उचित नहीं। पौषध में अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का चिन्तन करने से साधक अपने आपको वीतराग परमात्मा का उत्तराधिकारी अनुभव करने लगेगा।

पौषध में आत्मचिन्तन, आत्मशोधन ओर अगम निर्माण का ही पुरूषार्थ मुख्यतया होता है। मनुष्य के लिए, खासतौर से मुमुक्षु साधक के लिए आत्मचिन्तन, आत्मशोधन एवं आत्म–निर्माण का कार्य उतना ही सरल है, जितना शरीर को आसनों के लिए अभ्यरत करना। अत: पौषधोपवासव्रत अंगीकार करके गृहस्थ साधक यदि अपना आत्मलोचन, आत्मनिरीक्षण, स्वगुण–दोष निरीक्षण, आत्मप्रतिक्रमण, आत्मनिन्दन (पश्चाताप) आत्मगर्हा, आत्मशुद्धि, (प्रायश्चित, तप आदि के द्वारा) या आत्म–रमणता करके अपनी आत्मशक्तियाँ प्रगट नहीं करता है, उसको इन बातों में रूचि या उत्साह नहीं है, तो वह पौषधोपवास करके भी इससे यथेष्ट आध्यात्मिक लाभ प्राप्त नहीं कर सकेगा।

पौषधव्रत के माध्यम से आत्मशोधन में निरत होना संसारशोधन में लगने का एक प्रकार है। एक व्यक्ति अपनी अच्छाई से स्वयं ही लाभान्वित नहीं होता, बल्कि अन्य लोगों की सुख–शांति बढ़ाने में भी सहायक होता है। जैसे बुरे व्यक्ति की बुराई का प्रभाव दूसरों पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पड़ता है और उनके दुखों में वृद्धि करता है, वैसे ही अच्छे आदमी की अच्छाई का प्रभाव भी दूसरों पर पड़ता है, वे उसके व्यवहार से लाभान्वित, प्रेरित और सुख-शान्ति से युक्त होते हैं, अत: विश्वकल्याण का सबसे सरल तरीका आत्मकल्याण ही मानना चाहिए।

आत्मसुधार या आत्मकल्याण की भावना को स्वार्थ मानना भारी भूल होगी। स्वचरित्र का उत्थान अथवा आत्मोन्नति करना स्वार्थ नहीं माना जा सकता। यह विशुद्ध परमार्थ है। परमार्थ के कार्यों से अपना ही नहीं, सारे संसार का कल्याण है। संसार का सुधार करने के लिए व्यक्ति को अपना आध्यात्मिक दृष्टिकोण विकसित करना चाहिए। आत्मभाव के पोषण करते रहने से, अर्थात् आत्मनिर्माण-साधक इस व्रत के बार-बार अभ्यास से श्रावक में इतना आत्मबल पैदा हो जाता है कि उसके सामने बड़े-बड़े संकट, भय, प्रलोमन या आधिदैविक, आधिभौतिक या आध्यात्मिक विपत्तियाँ क्यों न खड़ी हो, वह जरा भी विचलित नहीं होता। वह निर्भय, निर्द्वन्द्व, निर्विकार और निजानन्दमय बन जाता है। ऐसे आत्मतृप्त मानव को भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि दु:ख-द्वन्द्व भी विचलित नहीं कर सकते। पौषधव्रत की साधना से साधक में अनात्मभाव जड़ पदार्थों के प्रति विश्वास घटता जाता है, आत्मभाव का अधिकाधिक पोषण होता जाता है।

पौषधपवास की तात्विक चर्चा के अन्तर्गत पूज्यपाद स्वामी के अनुसार पोषध शब्द पर्व का पर्यायवाची है अर्थात् पौषध और पर्व शब्द का अर्थ एक ही है, किन्तु आचार्य समन्तभद्र के अनुसार एक बार भोजन करने को पौषध कहते हैं और अनशन स्वाद खाद्य और पान चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है। जो उपवास करके आरम्भ किया जाता है, वह पोषधोपवास है। आशय यह है कि यह उपवास पर्व के दिन किया जाता है। अष्टमी और चतुर्दशी को पर्व कहते हैं। एक मास में चार पर्व होते हैं। पौषधोपवास करने वाला उपवास से पहले दिन अर्थात् सप्तमी और त्रयोदशी को एक बार भोजन करता है। फिर अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास करके नौमी और अमावस्या को पूर्णिमा के दिन भी एक बार भोजन करता है, उसी को पोषधोपवास कहते हैं। यदि उपवास से पहले दिन और उपवास से अगले दिन दोनों बार भोजन किया जाये और पर्व के दिन उपवास किया जाये तो उसे पोषधोपवास नहीं कहते, मात्र उपवास कहते हैं। पं. आशाधरजी ने अपनी टीका में चतुर्भक्ति के दो अर्थ किये है चार प्रकार की मुक्ति ओर चार भूक्तिक्रिया अर्थात् चारों प्रकार के भोज्य पदार्थों का त्याग तथा चार बार भोजन करने का त्याग पोषधोपवास है। अर्थात् उपवास के पहले दिन और दूसरे दिन एक-एक बार और उपवास के दिन दोनों बार इस तरह चार बार का भोजन जिस उपवास में छोड़ा जाता है, वह पौषधोपवास है, किन्तु केवल चारों प्रकार के आहार का त्याग या चार बार भोजन का त्याग तो एक तरह से द्रव्य उपवास है, भाव उपवास या निश्चय उपवास नहीं है। जिसमें पांचों इन्द्रियाँ अपने-अपने शब्द आदि विषयों को ग्रहण करने में उदासीन रहती है, उसे उपवास कहते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने ''उपवास'' शब्द की यही निरूपति की है। और उसका अर्थ चारों प्रकार के आहार का त्याग किया है। आहार का त्याग इन्द्रियों को शिथिल करने के लिए ही किया जाता है। इसी से पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि अपने शरीर के संस्कार के कारण स्नान, गन्ध, माला, आचरण आदि से रहित तथा आरम्भरहित श्रावक किसी अच्छे स्थान में जैसे साधुओं के निवास में या चैत्यालय में या अपने पौषधोपवास गृह में धर्मकथा के चिन्तन में मन लगाकर उपवास करे। आचार्य समन्तभ्रद ने भी उपवास में पांचों पाप, अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान और अंजन का त्याग कहा है, तथा दोनों कानों से बड़ी तृष्णा के साथ धर्मामृत का स्वयं श्रवण करने तथा दूसरों के सुनाने ओर ज्ञान-ध्यान में तत्पर रहने को कहा है। पूज्यपाद स्वामी के ही अनुसार आचार्य अमितगति ने तथा चारित्रसार ने भी उपवास की निरूक्ति की है। इसी सन्दर्भ में धर्मामृत (सागार) में आगे उल्लेख किया गया है कि जो उपवास करने में असमर्थ है, उन्हें अनुपवास करना चाहिए ओर जो अनुपवास भी करने में असमर्थ हैं, उन्हें आचाम्ल तथा निर्विकृति आदि का आहार करना चाहिए, क्योंकि शक्ति के अनुसार किया गया तप कल्याण के लिए होता है।

पौषधोपवास के ये उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेद उत्तरकालीन श्रावकाचारों में ही मिलते हैं। अमितगति और वसुनन्दी ने अपने श्रावकोचारों में इन तीन भेदों का कथन किया है। आचार्य अमितगति ने तो चार भुक्तियों के त्याग को उत्कृष्ट, तीन भुक्तियों के त्याग को मध्यम और दो भुक्तियों के त्याग को अधम कहा है। अर्थात् उत्कृष्ट पौषध तो वही है, जिसे ऊपर कहा गया है और मध्यम पौषध वह है, जिसे आशाधरजी अनुपवास कहते हैं। उत्कृष्ट पौषध से इसमें इतना ही अन्तर है कि उपवास के दिन जल ग्रहण किया जाता है। शेष चारों प्रकार के आहार का त्याग रहता है किन्तु उपवास से पहले दिन और दूसरे दिन दोनों बार भोजन ग्रहण किया जाता है, किन्तु उपवास के दिन कुछ भी ग्रहण नहीं किया जाता। वसुनन्दी के अनुसार भी उत्कृष्ट और मध्यम पोषध तो उक्त प्रकार ही है, किन्तु उपवास के दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान और एकभुक्त करने को जघन्य पोषध कहा है, (आशाधरजी ने भी जघन्य पौषध का स्वरूप वसुनन्दी के अनुसार ही कहा है।) जिससे जिव्हा और मन विकारयुक्त हों, ऐसे भोजन को विकृति कहते हैं। विकार से रहित भोजन को निर्विकृति कहते हैं। श्वेताम्बर साहित्य के अनुसार एक स्थान का अर्थ-जिस आसन से भोजन को बैठे उससे दाहिने हाथ और मुँह के सिवाय किसी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भी अंग को चलायमान न करे। एक वक्त–एक बार भोजन करना, किन्तु वह भोजन एक ही स्थान पर करना चाहिए, बीच में उठना नहीं चाहिए।।

उपवास का समय अर्थात् सोलह प्रहर किस तरह से बिताना चाहिए, इसका पूरा विवरण पुरूषार्थ–सिद्धयुपाय में दिया गया है। विधि–पूर्वक उपवास किये जाने को आचार्य अमृतचन्द्र ने सम्पूर्ण अहिंसाव्रत का पालन माना है। सम्पूर्ण सावद्य कार्यों को प्राप्त कर सोलह प्रहर बिताने को आचार्य अमृतचन्द्र ने सम्पूर्ण अहिंसा व्रत का पालन माना है। इसी विचार को अमितगति व वसुनब्दी ने थोड़ा विकसित किया है कि विधि से किया गया एक भी उपवास पाप को वैसे ही दूर करता है, जैसे सूर्य अन्धकार को दूर करता है। इन्हीं सब का सार सागारधर्मामत में आशाधरजी ने दिया है।

आत्मा के पोषक इस पौषधव्रत को स्वीकार किये हुए गृहस्थ साधक के सामने भी चाहे कितनी भौतिक विपत्तियाँ, कष्ट, संकट या शास्त्रीय भाषा में उपसर्ग क्यों न आएं, उनसे विचलित नहीं होता। उसकी आत्मशक्ति इतनी प्रबुद्ध एवं समृद्ध होती है कि वह मन–वचन–काय से कभी किसी पर द्वेष, दुर्भाव, आवेश या रोष नहीं करता, न किसी का अहित करता है। उपासकदशांग सूत्र में कामदेव श्रावक का वर्णन आता है, जब वे पौषधव्रत धारण कर विशिष्ट साधना में लीन थे, तब प्रतिकूल अवसर उपस्थित किये जाने पर भी वे आत्मभाव से विचलित न हुए। घोरतम संकटों के समय भी मन को अखण्ड शांति में स्थिर रखना पौषधव्रत की सिद्धि है। ऐसी आत्म–शक्ति पौषधव्रत से प्राप्त हो जाती है।

1.10.7 अतिथिसंविभागव्रत

सद्गृहस्थ श्रावक के लिए बारहवां व्रत–अतिथिसंविभागव्रत अन्तिम सोपान है। इस व्रत का पालन करने से श्रावक के आत्मविकास के सक्रिय रूप का यथार्थ अनुमान लग जाता है कि उसने चित्त में उदारता को कितना स्थान दिया है? उसकी आत्मा ''आत्मवत सर्वभूतेषु'' के मंत्र को जीवन में कितना पचा सकती है? आत्मौपम्य उसके जीवन में कितनी मात्रा में विकसित हुआ है? इसका मूल्यांकन भी उस व्रत के पालन से किया जा सकता है। अन्य ग्यारह व्रतों के पालन का प्रत्यक्ष लाभ प्राय: श्रावक को ही मिलता है–लेकिन अतिथिसंविभागव्रत के पालन का प्रत्यक्ष लाभ दूसरे को भी मिलता है। यह व्रत श्रावक की आध्यात्मिक प्रौढ़ता का चिन्ह है। इससे विश्व को यह मालूम हो जाता है कि सद्गृहस्थ श्रावक कितना विशाल एवं उदारहृदय है? इसमें विश्वबन्धुत्व की भावना कितनी साकार हुई है? श्रावक के जीवन में ग्यारह व्रतों के पालन से कितनी पदार्थपरायणता हुई है? यही उसकी आध्यात्मिक प्रौढ़ता का लक्षण है।

श्रावक के जीवन में आध्यात्मिक परिपक्वता आती है तो वह स्वत: परमार्थता, उदार एवं विश्वबन्धुत्व की भावना से ओतप्रोत हो जाता है, सुपात्रों को बिना मांगे ही वह उपकृत भाव से दान देता है। अध्यात्म की भूमिका में गृहस्थश्रावक जब 11वीं श्रेणी को पार करके बारहवीं श्रेणी में आरोह करता है, तब उसका परमार्थ–पराग भी विकसित कमलपुरुष की तरह दशों दिशाओं में उड़ने लगता है। उसकी उदारता, महानता, करूणा, सेवाभावना, सदाशयता घड़ी पर भी चैन से नहीं बैठती, वह मुक्तहस्त से लुटाने को तत्पर रहती है।

उत्तरोत्तर व्रतग्रहण से जैसे–जैसे मनुष्य का आध्यात्मिक स्तर ऊँचा उठता है, वैसे–वैसे वह ''वसुधैवकुटुम्बम्'' की दृष्टि और भावना से इस पृथ्वी को अधिकाधिक नम्र, संयत और सुसंस्कृत बनाने के लिए अपना सर्वस्व देने को तत्पर रहता है। सेवा, दान, करूणा और परोपकार ही उसके प्रिय अभ्यस्त विषय और अभ्यस्त कर्त्तव्य बन जाते है। यह चौथा शिक्षाव्रत प्रतिदिन अभ्यास रूप होने से व्रती श्रावक का अभ्यास इतना परिपक्व हो जाता है कि वह दान, करूणा, परोपकार एवं सेवा नित्य–प्रति अपनी आत्मसंतुष्टि के लिए, अपनी आत्मा को उदार और आत्मौपम्य भावना से अभ्यस्त बनाने के लिए करता है। उसकी करूणा और सदाशयता उसे इस बात के लिए प्रेरित करती रहती है कि मेरे पास जो कुछ भी बल, विद्या, सम्पत्ति और साधन सामग्री है, उसका अधिकाधिक भाग आवश्यकताग्रस्तों या उच्च साधना–परायण नि:स्वार्थ त्यागीजनों की सेवा में समर्पित कर दूं, उनके बिना मांगे ही, अपने आत्मानुग्रह के लिए उसका उत्सर्ग कर दूं, उसका यथायोग्य संविभाग कर दूं। ऐसी उत्कृष्ट भावना से ओतप्रोत गृहस्थ श्रावक अपने कुटुम्ब को संकीर्णता की परिधि में ही नहीं मानता, वह अपने घर–परिवार को थोड़े से लोगों में सीमित नहीं करता। वह यह नहीं सोचता कि सिर्फ मेरे परिवार को मेरे वैभव का लाभ मिले, वह सभी को अपना समझता है। जो सद्गृहस्थ अपने अन्त:करण में परमार्थ वृद्धि का विकास कर लेते हैं, परिष्कृत और उदार दृष्टिकोण से जीवन की अधिकता पर विचार करते हैं। वे अपनी आत्मा में परमार्थ को सक्रिय करने की भावना से प्रेरित होकर आध्यात्मिक स्फूर्ति का अनुभव करते हैं। उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ सहजरूप में परमार्थ बुद्धि की अनुगामि बन जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आत्मा की उन्नति के लिए सद्विचारों के अनुरूप कोई न कोई व्यवहारिक योजना हम सबके जीवन में सम्मिलित होनी चाहिए, वही अतिथि संविभाग या यथासंविभाग है। अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप उसमें से प्रत्येक को कुछ न कुछ ऐसे सत्कार्य करते रहने चाहिए, जिससे सेवाधर्म, परोपकार या परमार्थ का प्रतिदिन नियमित अभ्यास होता रहे। जिस तरह अन्य नियमित चर्या की उपयोगिता होती है, उसी प्रकार नियमित सेवाधर्म को सक्रिय बनाने की व्यवस्था भी आत्मोन्नति की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। सेवा, दान, करूणा एवं परमार्थ के कार्यों से तत्काल आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। सत्कार्य करते समय अन्तरात्माओं में जो सन्तोष होता है, उसका आनन्द सांसारिक सुखों या लाभी की तुलना में बहुत ही उत्कृष्ट श्रेणी का होता है। मनुष्य के हृदय में निहित सद्भावनाओं का प्रमाण उसके द्वारा किये जाने वाले परमार्थ–कार्य ही हैं।

मनुष्य को जीवन–निर्वाह के लिए, जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए, शिक्षा, सुसंस्कार, चिकित्सा, विपत्ति से रक्षा, आवास, वस्त्रादि की आवश्यकता तथा सुख–शान्तिपूर्वक जीवनयापन करने के लिए प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से किसी न किसी पर निर्भर रहना ही पड़ता है। इसलिए मनुष्य पर समाज का अगणित ऋण है। संसार का यह ऋण कितना है? इसका लेखा–जोखा लगा सकना असम्भव है। जब ऋण के रूप और परिमाण का ही पता नहीं, तो उसको किस प्रकार के प्रत्युपकार से कितना चुकाया जाए? यह प्रश्न एक समस्या–सा मालूम होता है। इस ऋण को अदा करने का सीधा और सरल उपाय भगवान् महावीर ने बताया है––अतिथिसंविभागव्रत परमार्थव्रत।

अतिथिसंविभागव्रत का मुख्य अर्थ यही किया जाता है, जिसके आने की कोई तिथि, दिन या समय नियत नहीं है, जो बिना ही सूचना के अनायास आ जाता है, उस अथिति के लिए संविभाग करना। इस अर्थ के अनुसार यहां मुख्य रूप से पंचमहाव्रतधारी निग्रंथ साधु–साध्वियों को ही अतिथि माना गया है। ऐसे अतिथि को श्रद्धाभक्ति एवं बहुमानपूर्वक उसके लिए कल्पनीय, एषणीय, ग्रास, निर्दोष, आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादाप्रोन्छन, पीठ (चौकी) पट्टा, शय्या, संस्तारक, औषध, भैषेज आदि जीवन–निर्वाह में सहायक आवश्क पदार्थों को देकर परित्रामित करना अतिथिसंविभागव्रत माना जाता है।

शास्त्रों में इस व्रत का नाम ''यथासंविभाग'' भी मिलता है। आवश्यकसूत्र के वृत्रिकार उसका अर्थ करते हैं–– गृहस्थ श्रावक ने जो अपने लिए आहारादि बनाए हैं या साधन प्राप्त किये हैं, उनमें से एषणासमित (शिक्षा के 42 दोषों के त्याग रूप सीमित) से युक्त निस्पृह साधु–साध्वियों को कल्पनीय एवं ग्राह्य आहार आदि दान देने के लिए विभाग करना यथासंविभाग है। जो निःस्पृह त्यागी, श्रमण–श्रमणी स्व–पर–कल्याण साधना के लिए सांसारिक खटपट का त्याग करके अपने जीवननिर्वाह के लिए यथालाभ संतोष–पूर्वक महाव्रत–तपसंयम–पालनार्थ गृहस्थों के यहां अपने लिए बने हुए या प्राप्त किये हुए साधन–आहार–वस्त्र आदि में से कल्याणनुसार एषणासीमितपूर्वक ग्रहण करते हैं। ऐसे साधुओं को अपने व्रत, नियमानुसार उनके जीवननिर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुएँ देता है, मुनि–महात्माओं को उन उपकरणों या साधनों (आहारादि) से प्रतिलाभित करता है तथा प्रतिलाभित करना अपना कर्त्तव्य समझकर व्रत (संकल्प) ग्रहण करता है, उसी का नाम अतिथिसंविभागव्रत है।

अतिथिसंविभागव्रत के माध्यम से दान देते समय चार अंगों का ध्यान रखना अनिवार्य बताया है––1. विधि, 2. द्रव्य, 3. दाता और 4. पात्र। इन चारों विशेषताओं से युक्त दान ही उत्कृष्ट सुपात्रदान हो सकता है। दान देने से पूर्व दाता के हृदय की भावना को टटोला जाता है कि वह किसी लोभ, भय, स्वार्थ या अन्धविश्वास से प्रेरित न हो, अनादर या अवज्ञापूर्वक न दिया जाए अथवा 42 दोषों से रहित निर्दोष कल्पनीय आहार अभ्युत्थान सत्कार आदि विधि पूर्वक दिया जाए तथा जो द्रव्य आद्यकर्म आदि 16 दोषों से रहित, मुनियों के तप, संयम का सहायक व वर्द्धक हो, वही द्रव्य शुद्ध माना जाता है। दाता वह शुद्ध कहलाता है, जिसमें किसी स्वार्थ, लोभ, प्रसिद्धि या प्रतिफल की भावना न हो, जिसके हृदय में साधु–सन्तों के प्रति भक्ति श्रद्धा हो। पात्र वही शुद्ध है, जो घर–बार, कुटुम्ब, जमीन–जायदाद आदि समस्त छोड़कर तप–त्यागमय संयमपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हो तथा संयम पालन करने हेतु ही दान लेते हों।

इस प्रकार चार अंगों सहित विचारपूर्वक संयमी पुरुषों को दान देना उत्कृष्ट सुपात्रदान है। इस प्रकार के उत्कृष्ट सुपात्रदान का महत्त्व जैनागमों में कई जगह बताया गया है। ऐसे संयमी पुरूषों का योग मिलने पर उन्हें शुद्ध भाव से दान देना उत्कृष्ट सुपात्रदान है।

अतिथिसंविभागव्रत का मात्र यह उद्देश्य नहीं कि केवल मुनि महात्माओं को देना है, बल्कि इसमें श्रावक के जीवन को उदार एवं विशाल बनाना है। वस्तुतः परमार्थवृत्ति के अभाव में व्यक्ति और समाज दोनों का नाश होने लगता है, अतः आत्मगुणों के विकास और आत्मकल्याण के इच्छुक सद्गृहस्थ श्रावक के लिए यह उचित है कि वह स्वार्थी नहीं, परमार्थी बने, समाजहित के कार्यों में सहायक बने। गृहस्थ श्रावक व्यक्तिवादी बनकर असामाजिक न बने। वह दूसरे लोगों का सहयोगी और हितैषी बनकर समाज के प्रति सामाजिक बनकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रहने का अपना दायित्व पूर्ण करे। उस आत्मार्थी के लिए अतिथिसंविभाग-व्रत सामाजिक बनकर लोकहित व आत्महित कार्य हेतु अवकाश प्रदान करता है।

अस्तु अनेकान्त का दर्शन आन्दोलन को ज्ञान का धरातल देता है तथा व्रत-विभाग आचार का। वस्तुत: अणुव्रत आंदोलन ज्ञान व आचार का ही आन्दोलन है। व्यक्ति के आध्यात्मिक नैतिक उत्थान के साथ समाज में व्याप्त अशांति के तत्त्वों का उन्मूलन व सुदृढ़ नैतिक अहिंसक समाज स्थापना के लक्ष्य में अणुव्रत आंदोलन का तत्वमीमांसीय पक्ष प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करता है व अनवरत अहिंसक व्यक्तित्व निर्माण हेतु अग्रसर है।

1.11 व्रतों की भाषा और भावना

अणुव्रत आन्दोलन के व्रतों की भाषा सृजन एवं भावना चिन्तन का कार्य तो 1948 से ही प्रारम्भ हो गया था जब आचार्य तुलसी छापर में चातुर्मास कर रहे थे। आचार्य तुलसी के स्वयं के शब्दों में, मैं सोचा करता - हमारे श्रावक प्रतिदिन धर्मस्थान में आते हैं, साधुओं की उपासना करते हैं, धर्मचर्चा करते हैं, पर धार्मिक व्यक्ति के जीवन में जितना परिवर्तन होना चाहिए, वह दिखाई नहीं दे रहा है। नैतिकता की उधेड़बुन में चिन्तन का क्रम आगे बड़ा और इस दिशा में कुछ प्रयोग करने की बात सूझी। प्रारम्भ में पचीस व्यक्तियों को चुनकर उनसे नई दिशा देने का विचार था। दिशा-परिवर्तन के लिए एक नयी आचार-संहिता के निर्धारण की अपेक्षा महसूस हुई। भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त श्रावक के व्रतों की आधार-संहिता हमारे सामने थी। अब वर्तमान समस्याओं को ध्यान में रखकर एक नैतिक आचार-संहिता का रूप तैयार करना था। प्रारम्भिक रूप में कुछ नियमों का निर्धारण किया गया और उनकी भाषा व भावना को अपेक्षित संशोधनों के साथ मान्यता मिल गई। उनको स्वीकार करने वाले व्यक्तियों का संघ ''अणुव्रती संघ'' कहलाया। सबसे पहले उन नियमों की संख्या तेरह थी। कालान्तर में नियमों का विस्तार हुआ और वह संख्या छियासी तक पहुँच गई। समय-समय पर चिन्तनपूर्वक व्रतों की संख्या में विस्तार और ह्रास होता रहा। वर्तमान में समरतता की दृष्टि से ग्यारह व्रतों की संख्या निश्चित है।

कोई भी व्यक्ति जो एक निश्चित लक्ष्य तक पहुंचना चाहता है, सबसे पहले दिशा का निर्धारण करता है। गंतव्य की दिशा सही होने पर ही लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। यह तथ्य यथार्थ है कि नैतिकता की दिशाएं बहुत व्यापक हैं और व्रतों की संख्या बहुत सीमित है। इससे व्रती व्यक्तियों की नैतिकता एक सीमित परिधि में बंधी हुई-सी प्रतीत होती है। किन्तु व्रतों की भावना में नैतिकता के जो संकेत हैं, वे स्वयं प्रकाश-स्तंभ बने हुए हैं। भावना के आलोक में नैतिकता की दूसरी सारी दिशाएं सहज रूप में स्पष्ट हो जाती हैं। नैतिकता की कुछ दिशाओं का प्रतिनिधित्व व्रतों की भावना में अंतर्निहित है। भावना को सूक्ष्मता से समझने का प्रयास किया जाए तो ये दिशाएं स्वयं खुल जाती हैं। कुछ दिशाएं ये हैं-

1. करुणा
2. समानता
3. मानवीय एकता
4. प्रामाणिकता
5. यथार्थ चिन्तन
6. कथनी और करनी में सामंजस्य
7. भोग-संयम
8. भमत्व-मुक्ति

नैतिकता की इन व्यापक दिशाओं के आधार पर ही व्रतों की रचना हुई है। जो व्यक्ति इन दिशाओं को नहीं समझता वह व्रतों को स्वीकार नहीं कर पाता। व्रतों की भाषा स्वीकार भी कर ले पर वह उनका पालन नहीं कर पाता। नैतिकता भाषा की परिधि में समाहित नहीं हो सकती। नैतिकता एक भावना है जो असीम और अनन्त है।

अणुव्रती ग्यारह व्रतों का संकल्प करता है। संकल्प की भाषा संक्षिप्त है किन्तु व्रतों की भावना निर्देशक तत्त्वों में है। व्रत-ग्रहण की मन:स्थिति भावना-प्रधान होनी चाहिए। व्रतों की भावना को हृदयंगम किए बिना केवल भाषा के आधार पर चलने वाला व्यक्ति अणुव्रत के साथ न्याय नहीं कर सकता। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार व्रतों की भाषा में परिवर्तन हो सकता है। नैतिकतामूलक हर तथ्य भाषा में बंध भी नहीं सकता। इसलिए करणीय और अकरणीय को निर्देशक तत्त्वों के आधार पर ही लिया जा सकता है। कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के सैकड़ों प्रकार बन सकते हैं, और व्रत की भाषा से बचकर गलत काम भी किया जा सकता है, क्योंकि भाषा की अपनी सीमाएं हैं, वह भावना की असीमता का स्पर्श नहीं कर पाती।

अणुव्रत आन्दोलन के प्रारम्भिक प्रयासों के उपरान्त अणुव्रत-कार्य में रूचि रखने वाले साधु-साध्वियों ने थोड़ा सा प्रयास किया और 2500 व्यक्तियों ने इन व्रतों को स्वीकार कर लिया। व्रतों की भाषा ओर स्वरूप पर चिन्तन आगे बढ़ा, आचार-संहिता में अपूर्णता का आभास हुआ। विशेष चिन्तनपूर्वक व्रतों की संख्या बढ़कर छियासी (86) कर दी गई। ये व्रत निम्न हैं :-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1. चलने-फिरने वाले निरपराध प्राणी की संकल्प, लक्ष्य या विधिपूर्वक घात न करना।
2. किसी व्यक्ति विशेष या दल विशेष की हत्या का उद्देश्य रखने वाले गुट, दल या संस्था का सदस्य न होना एवं उनके कार्यों में भाग न लेना।
3. स्वदेश से बाहर बने वस्त्रों को पहनने और ओढ़ने के व्यवहार में न लाना।
4. रेशमी तथा तत्प्रकार के हिंसाजन्य वस्त्रों को पहनने और ओढ़ने के व्यवहार में न लाना।
5. किसी भी व्यक्ति को अस्पृश्य मानकर उसका तिरस्कार न करना।
6. वृहत्त जीमनवार (भोज) न करना इस सन्दर्भ में वृहत्त भोज निषिद्ध का यदि राजकीय नियम हो तो उसका उल्लंघन न करना।
7. नियम-निषिद्ध जीमनवार (भोज) में भोजनार्थ सम्मिलित न होना।
8. विश्वासघात द्वारा किसी को चोट न पहुंचाना।
9. कानूनी या व्यावहारिक दृष्टि से पशुओं पर ज्यादा भार न लादना।
10. अपने आश्रित जीवों के खाद्य-पेय का कलुषित भावना से विच्छेद न करना।
11. आश्रित व अनाश्रित प्राणियों के प्रति कूर व्यवहार व प्रहार न करना।
12. चिकित्सा के अतिरिक्त किसी प्राणी का अंग-विच्छेद न करना, तप्त शलाका या अन्य कष्टदायक तरीके से त्रिशूलादि चिह्न अंकित न करना।
13. किसी प्राण को कठोर बन्धन से न बांधना।
14. आत्महत्या न करना।
15. भ्रूण हत्या न करना।
16. माँस जिसमें अण्डा, माँस-सत्व, मज्जा और रक्त भी शामिल है, न रखना।
17. मद्य न पीना।
18. मद्य, माँस, मछली व अण्डा आदि का व्यापार न करना।
19. शिकार न करना।
20. अनछाना पानी न पीना।
21. कसाई खाने का काम न करना, करने में सहयोग न देना और न कसाई खाने वाली कंपनी के शेयर लेना।
22. जन्म, विवाह, त्यौंहार आदि के उपलक्ष्य में आतिशबाजी न करना और न करने की सम्मति देना।
23. तपस्या (उपवास) के उपलब्ध में जीमनवार (भोज) न करना ओर तद्विषयक जीमनवार में भोजनार्थ सम्मिलित न होना।
24. अपने भाई, पुत्र तथा अन्य पारिवारिकजनों के साथ दुर्व्यवहार न करना।
25. मृतक के पीछे प्रथा-रूप से न रोना।
26. भाँग, गाँजा, सुलफा, तम्बाकू, जर्दा आदि का खाने-पीने ओर सूंघने में व्यवहार न करना।
27. विवाह, होली आदि पर्वों में गन्दे गीत व गालियाँ न गाना एवं अश्लील व्यवहार न करना।
28. होली पर्व पर राख आदि गन्दे पदार्थ दूसरों पर न डालना।
29. मनुष्य-वाहित रिक्शा में न बैठना।
30. किसी प्रकार के मृत-भोज में न जाना। (अपवाद-शोक-प्रदर्शनार्थ दूसरे गाँव में गए व्यक्ति पर यह नियम लागू नहीं है।)
31. क्रोधादिवश किसी को गाली न देना।
32. लोभ या द्वेषवश आग न लगाना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

33. जमीन-मकान, पशु-पक्षी, सोचा-चाँदी, धन-धान्य, तथा घी, तेल, आटा आदि खाद्य पदार्थ या अन्य किसी वस्तु के क्रय-विक्रय के समय माप-तोल, संख्या आदि के विषय में असत्य न बोलना।
34. समझ-बूझकर असत्य निर्णय-फैसला न देना।
35. किसी व्यक्ति, दल, पक्ष या धर्म विशेष के प्रति आपेक्षात्मक नीति से भ्रान्ति न फैलाना या झूठा आरोप न लगाना।
36. न्यायाधीशस व पंच आदि के समक्ष अनर्थकारी, असत्य साक्षी न देना।
37. किसी व्यक्ति से झूठा खत या दस्तावेज न लिखवाना।
38. स्व या पर-कन्या, पुत्र के विवाह आदि के निमित्त असत्य न बोलना।
39. असत्य मामला न करना और न करने की सम्मति देना।
40. मिथ्या आरोप या कलंक न लगाना।
41. व्यक्तित्व स्वार्थ या द्वेषवश किसी का मर्म (गुप्त बात) प्रकाशित न करना।
42. किसी को मित्रमान दिखाकर अनिष्टकारी सलाह न देना।
43. धरोहर या बन्धन वस्तु से इन्कार न होना।
44. जाली दस्तखत न बनाना और न बनाने की सम्मति देना।
45. झूठे राशनकार्ड न बनवाना।
46. किसी को झूठा प्रमाण-पत्र न देना।
47. असत्य विज्ञापन न करना।
48. ताला तोड़कर, दीवार आदि फाँदकर या फोड़कर, गठरी या तिजोरी खोलकर, डाका डालकर या पॉकेटमारी करके किसी वस्तु की चोरी न करना।
49. अन्य व्यक्ति की पड़ी वस्तु को चोरवृत्ति से न उठाना।
50. राज्य निषिद्ध वस्तु का व्यापार न करना।
51. राज्य-निषिद्ध वस्तु को दूसरे देश में ले जाकर या दूसरे देश से लाकर न बेचना।
52. किसी चीज में मिलावट कर या नकली को असली बताकर न बेचना।
53. क्रय-विक्रय में कूट तोल-माप न करना।
54. एक प्रकार की वस्तु दिखाकर दूसरे प्रकार की वस्तु न देना।
55. अच्छे माल को बट्टा काटने की नीयत से खराब या दागी न ठहराना।
56. किसी संस्था का ट्रस्टी या कार्यकर्ता आदि का उसकी धन-राशि का अपहरण या स्वार्थवश अपव्यय न करना।
57. जाली सिक्का या नोट न बनाना, न बनाने की सम्मति देना।
58. बिना टिकट रेल आदि से न यात्रा करना।
59. किसी सौदे में कटोती न करना अर्थात् बीच में न खाना।
60. चोरी की वस्तु न खरीदना और चोर की चोरी करने में सहायता न देना।
61. वेश्या व परस्त्रीगमन न करना।
62. किसी प्रकार का अप्राकृतिक मैथुन न करना।
63. दिन में सम्भोग न करना।
64. 45 वर्ष की आयु के बाद विवाह न करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

65. एक पत्नी के होते दूसरा विवाह न करना।
66. राजकीय वैवाहिक परिभाषा से अल्पवयस्क सन्तान का विवाह न करना।
67. जहाँ शील-भंग का प्रसंग मालूम दे, ऐसी जगह नौकरी न करना या न रहना।
68. अकेला परस्त्री के साथ एक कमरे में रात्रि-शमन न करना।
69. अकेले, परपुरुष के साथ न घूमना, न खेलना और न सिनेमा आदि जाना।
70. वेश्या का नृत्य व गान न करना।
71. वेश्या नृत्य देखने के उद्देश्य से तद्विषयक आयोजन में सम्मिलित न होना।
72. किसी स्त्री को फुसलाकर, धमकाकर, बहकाकर या लुभाकर उसके साथ विवाह न करना।
73. व्यापार्थ चोर-बाजार न करना।
74. घूस न लेना।
75. दहेज, मुकलावा आदि दूसरों के यहां देखने न जाना और न अपने तत्त्वावधान में आए दहेज आदि को सजाकर दूसरों को दिखाना।
76. अपने लोभ के लिए रोगी की चिकित्सा में अनुचित समय न लगाना।
77. एक दिन में खाद्य-पेय इकत्तीस से अधिक द्रव्यों का व्यवहार न करना।
78. रूपये लेकर कन्या, पुत्र आदि का वैवाहिक सम्बन्ध न करना।

पुरूष के लिए :-

79. एक अंगूठी के अतिरिक्त आभूषण न पहनना।

स्त्रियों के लिए :-

80. धर्म स्थान में तेरह तोले से अधिक सोना एक साथ न पहनना।

नोट :- घड़ी आदि आभूषणों में नहीं माने गए हैं।

81. वोट (मत) व साक्षी देने के लिए रूपये न मांगना और न लेना।
82. जुआ न खेलना।
83. तपस्या के उपलक्ष्य में वस्त्र, आभूषण, चीनी, मिश्री आदि न लेना, न देना।
84. दूषित एवं घृणित तरीकों से नौकरी, ठेका, लाइसेन्स आदि प्राप्त न करना।
85. होटल, रेस्टोरेंट का व्यापार करते हुए माँस, मद्यादि, अण्डे आदि का भोजन न पकाना, परोसना और पीने को महत्त्व देना।
86. घर, भूमि, सोना-चाँदी, धन-धान्य, द्विपदी-चौपद तथा घर का सामान और फुटकर वस्तु इत्यादि परिग्रह को परिमाण से अधिक संग्रह न करना।

1958 तक व्रतों के स्वरूप को लेकर फिर एक चर्चा हुई। उस चर्चा के पलस्वरूप निर्धारित व्रतों की भाषा परिष्कृत की गई। उसके अतिरिक्त इसमें अणुव्रती की श्रेणियाँ निर्धारित की गई, उन्हें अणुव्रती, प्रवेशक अणुव्रती और विशिष्ट अणुव्रती कहा गया। इसमें वर्गीय अणुव्रतों का भी विधान किया गया। आवश्यक संशोधन एवं परिवर्द्धन के पश्चात् तय किये गये अणुव्रत निम्नोक्त हैं :

अहिंसा अणुव्रत :-

अहिंसा में मेरी श्रद्धा है। हिंसा को मैं त्याज्य मानता हूँ। अहिंसा के क्रमिक-विकास के लिए मैं निम्न व्रतों को ग्रहण करता हूँ -

1. चलने-फिरते निरपराध प्राणी की संकल्पपूर्वक घात नहीं करूंगा।
2. आत्म-हत्या नहीं करूंगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. हत्या व तोड़-फोड़ का उद्देश्य रखने वाले दल या संस्था का सदस्य नहीं बनूंगा और न ऐसे कार्यों में भाग लूंगा।
4. जातीयता के कारण किसी को अस्पृश्य या घृणित नहीं मानूंगा।
5. सब धर्मों के प्रति तितिक्षा के भाव रखूंगा- भ्रांति नहीं फैलाऊंगा व मिथ्या-आरोप नहीं लगाऊँगा।
6. किसी के साथ क्रूर व्यवहार नहीं करूंगा।
   (क) किसी कर्मचारी, नौकर या मजदूर से अतिश्रम नहीं लूंगा।
   (ख) अपने आश्रित प्राणी के खान-पान व आजीविका का कलुष भाव से विच्छेद नहीं करूंगा।
   (ग) पशुओं पर अति-भार नहीं लादूंगा।

सत्य अणुव्रत

सत्य में मेरी श्रद्धा है। असत्य को मैं त्याज्य मानता हूँ। सत्य के क्रमिक-विकास के लिए मैं निम्न व्रतों को ग्रहण करता हूँ :

1. क्रय-विक्रय में माप-तोल, संख्या, प्रकार आदि के विषय में असत्य नहीं बोलूंगा।
2. जान-बूझकर असत्य निर्णय नहीं दूंगा।
3. असत्य मामला नहीं करूंगा और न असत्य साक्षी दूंगा।
4. सौंपी या धरी (बन्धक) वस्तु के लिए इन्कार नहीं करूंगा।
5. जालसाजी नहीं करूंगा।
   (क) जाली हस्ताक्षर नहीं करूंगा।
   (ख) झूठा खत या दस्तावेज नहीं लिखाऊँगा।
   (ग) जाली सिक्का या नोट नहीं बनाऊंगा।
6. वचनापूर्ण व्यवहार नहीं करूंगा।
   (क) मिथ्या प्रमाण-पत्र नहीं दूंगा।
   (ख) मिथ्या विज्ञापन नहीं करूंगा।
   (ग) अवैघ तरीकों से परीक्षा में उत्तीर्ण होने की चेष्टा नहीं करूंगा।
   (घ) अवैघ तरीकों से विद्यार्थियों के परीक्षा में उत्तीर्ण होने में सहायक नहीं बनूंगा।
7. स्वार्थ, लोभ या द्वेषवश भ्रमोत्पादक और मिथ्या संवाद, लेख व टिप्पणी प्रकाशित नहीं करूंगा।

अचौर्य अणुव्रत :

अचौर्य में मेरी श्रद्धा है। चोरी को मैं त्याज्य मानता हूँ। अचौर्य के क्रमिक-विकास के लिए मैं निम्न व्रतों को ग्रहण करता हूं :-

1. दूसरों की वस्तु को चोर-वृत्ति से नहीं लूंगा।
2. जान-बूझकर चोरी की वस्तु को नहीं खरीदूंगा और न चोर को चोरी करने में सहायक दूंगा।
3. राज्य-निषिद्ध वस्तु का व्यापार व आयात-निर्यात नहीं करूंगा।
4. व्यापार में अप्रामाणिकता नहीं बरतूंगा।
   (क) किसी चीज में मिलावट नहीं करूंगा।
   (ख) नकली को असली बताकर नहीं बेचूंगा।
   (ग) एक प्रकार की वस्तु दिखाकर दूसरे प्रकार की वस्तु नहीं दूंगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(घ) सौदे के बीच में कुछ नहीं खाऊँगा।

(ड़) तौल–माप में कभी–बेसी नहीं करूंगा।

(च) अच्छे माल को बट्टा काटने की नीयत से खराब या दागी न ही ठहराऊँगा।

(छ) व्यापारार्थ चोर–बाजार नहीं करूंगा।

5. किसी ट्रस्ट या संस्था का अधिकारी होकर उसकी धन–सम्पत्ति का अपहरण या अपव्यय नहीं करूंगा।
6. बिना टिकट रेलादि से यात्रा नहीं करूंगा।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत :

ब्रह्मचर्य में मेरी श्रद्धा है। ब्रह्मचर्य को मैं त्याज्य मानता हूँ। ब्रह्मचर्य के क्रमिक–विकास के लिए मैं निम्न व्रतों को ग्रहण करता हूँ :–

1. कुमार–अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा।
2. 45 वर्ष की आयु के बाद विवाह नहीं करूंगा।
3. महीने में अधिक से अधिक दिन ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा।
4. किसी प्रकार का अप्राकृतिक मैथुन नहीं करूंगा।
5. वेश्या व पर–स्त्री–गमन नहीं करूंगा।

अपरिग्रह अणुव्रत

अपरिग्रह में मेरी श्रद्धा है। परिग्रह को मैं त्याज्य मानता हूँ। अपरिग्रह के क्रमिक–विकास के लिए मैं निम्न व्रतों को ग्रहण करता हूँ :–

1. अपने मर्यादित परिमाण से अधिक परिग्रह नहीं रखूंगा।
2. घूस नहीं लूंगा।
3. मत (वोट) के लिए रूपया न लूंगा और न दूंगा।
4. लोभवश रोगी की चिकित्सा में अनुचित समय नहीं लगाऊँगा।
5. सगाई–विवाह के प्रसंग में किसी प्रकार के लेने का ठहराव नहीं करूंगा।
6. दहेज आदि का प्रदर्शन नहीं करूंगा न प्रदर्शन में भाग लूंगा।

उक्त विश्लेषण में अनैतिकता के विविध रूपों और नैतिकता के विविध व्रतों का आकलन है। इस निर्धारण, परिवर्तन और संशोधन का एकमात्र उद्देश्य यही रहा है कि जन–साधारण नैतिक मूल्यों के मुद्दों को सरलता से समझ सके। आचार्य तुलसी की लम्बी–लम्बी यात्राओं, प्रबुद्ध व्यक्तियों के सम्पर्क और कार्यकर्ताओं के अनुभवों के आधार पर परिवर्तन–परिवर्द्धन का क्रम चला। दक्षिण–यात्रा के समय बम्बई में कुछ नये सुझाव आए। अणुव्रत को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में उपयोगी बनाने की दृष्टि से चिन्तन चला। समय इतिहास का सिंहावलोकन कर ग्यारह व्रतों को मूल अणुव्रत के रूप में निर्धारित किया तथा अमुक वर्गों से सम्बन्धित अनैतिकता के प्रतिकार में वर्गीय अणुव्रत की आचार–संहिता तैयार की थी। अणुव्रतों का वर्तमान स्वरूप इस प्रकार है :–

1. मैं चलने–फिरने वाले निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा।
2. मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और आक्रमण नीति का समर्थन भी नहीं करूंगा।
3. मैं अहिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़–फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
4. मैं मानवीय एकता में विश्वास रखूंगा।

(क) मैं सम्पत्ति, सत्ता आदि के आधार पर किसी को हीन उच्च नहीं मानूंगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. मैं सब धर्मो–सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता का भाव रखूंगा।
6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में सत्य की साधना करूंगा।
7. मैं चोर वृत्ति से किसी की वस्तु को नहीं लूंगा।
8. मैं स्वदार सन्तोषी रहता हुआ ब्रह्मचर्य की साधना करूंगा।
9. मैं रूपये और अन्य प्रलोभन से मत (वोट) न लूंगा और न दूंगा।
10. मैं सामाजिक कुरूढ़ियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।
11. मैं मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
(मैं सम्बन्धित वर्गीय अणुव्रतों का पालन करूंगा।)

वर्गीय अणुव्रतों में विद्यार्थी, शिक्षक, व्यापारी, राज्य कर्मचारी श्रमिक, कृषक, नागरिक, महिला, कार्यकर्त्ता, साहित्यकार, कलाकार, मतदाता, उम्मीदवार और विधायक की आचार–संहिता के साथ अंतर्राष्ट्रीय आचार–संहिता का निर्धारण अणुव्रत आन्दोलन के व्यापक दृष्टिकोण का प्रतीक है।

अणुव्रत अनुशास्ता ने अणुव्रत के सम्बन्ध में 16 अक्टूबर, 1983 को एक बार फिर संशोधन किया। अणुव्रतों की भाषा और अधिक परिष्कृत की गयी। इसमें अणुव्रत के निर्देशक तत्त्व, ग्यारह अणुव्रत, अणुव्रत साधना तथा वर्गीय अणुव्रतों में शिक्षक, श्रमिक, कृषक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार संबंधित अणुव्रतों को भी प्रथम बार सम्मिलित कर लिया गया तथा पुराने वर्गीय अणुव्रतों में भी दूसरे नवीन अणुव्रत सम्मिलित कर लिये गये। जिनकी विस्तृत चर्चा अगले अध्यायों में की जायेगी।

1.12 व्रत और अप्रमाद

अहिंसा या मैत्री एक अखण्ड तत्त्व है। इसे खण्डशः विभाजित कैसे किया जा सकता है? अमुक व्यक्ति के प्रति हिंसा और अमुक के प्रति अहिंसा– ये दोनों स्थितियाँ साथ–साथ चलें, यह बहुत आश्चर्य की बात है। जिस व्यक्ति में अहिंसा की समग्रता है, जिसके अन्तःकरण में अहिंसा का अजस्र प्रवाह है, उसके लिए कोई भी प्राणी हिंस्य नहीं होता। अहिंसा की इस अखण्डता का सम्बन्ध व्यक्ति की आंतरिक वृत्तियों के साथ है। किन्तु जहाँ शरीर–धारण की अनिवार्यता है, परिवार, समाज और राष्ट्र के साथ सम्पर्क है, वहाँ व्यवहार जगत् में व्यक्ति को कुछ ऐसे काम करने पड़ते हैं, जो अहिंसा की अखण्डता में बाधक हैं। जिन व्यक्तियों का जीवन अहिंसा की दृष्टि से परिपूर्ण है वे बाह्य व्यवहार में भी पूर्ण जागरूक रहते हैं, किन्तु जिनकी अन्तर–वृत्तियों में चैतन्य का अपेक्षित विकास नहीं हैं, उनका बाह्य व्यवहार भी उस सीमा तक अप्रमाद–शून्य होता रहता है।

यह व्रत अन्तर–वृत्तियों के जागरण के लिए है। जिस व्यक्ति की वृत्तियां जागृत हैं, वह अंश मात्रा भी हिंसा नहीं कर सकता। उसकी दिशा हिंसा के निर्मूलन की दिशा है। उसका आदर्श है– मैं हिंसा नहीं करूंगा अथवा मैं पूर्ण अहिंसक रहूंगा। इस आदर्श तक पहुंचने के लिए व्यक्ति हिंसा के अल्पीकरण की दिशा में प्रस्थान करता है, किन्तु देह–धारण की अनिवार्यता के लिए भोजन, वस्त्र, मकान आदि उपकरण सामग्री प्राप्त करने हेतु उसे हिंसा–क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है। हिंसा में व्रत होने पर भी उसका संकल्प रहता है कि मैं त्रस (चलने–फिरने वाले) जीवों की हिंसा नहीं करूंगा। वनस्पति, भूमि, पानी, अग्नि और हवा की हिंसा किए बिना जीवन चल नहीं सकता। अतः मैं अपनी दिशा में स्थावर जीवों की हिंसा का अपवाद रखता हूँ।

हिंसा में प्रवृत्त होने की पहली भूमिका हैं– देह धारण की अनिवार्यता और दूसरी भूमिका है– जीवन की सुरक्षा। सुरक्षा के लिए आक्रमणकारी प्राणियों और मनुष्यों से अपना बचाव करने की अपेक्षा होती है। इसलिए अहिंसा की ओर गति करने वाला दूसरा संकल्प करता है–– मैं निरपराध प्राणियों का वध नहीं करूंगा। कभी–कभी अनजान में प्राणी–वध हो जाता है। इसलिए इस व्रत की भाषा के साथ यह भी जुड़ जाता है कि निरपराध प्राणियों का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा।

कुछ व्यक्ति सक्रिय रूप में अनिष्टकारी होते हैं और कुछ व्यक्ति अनिष्ट करने का अवसर देखते रहते हैं। इन दोनों श्रेणियों के व्यक्ति अपराधी होते हैं। इनसे अपनी सुरक्षा करने के लिए हिंसा की अनिवार्यता उपस्थित हो जाती है। किन्तु निरपराध व्यक्ति की हिंसा न करने का सकल्प लेने वाला अहिंसा की दिशा में प्रस्थान कर देता है। चूंकि शरीर और जीवन के प्रति उसका ममत्वभाव जुड़ा रहता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, अतः वह अहिंसा को खण्डशः स्वीकार करता है। अहिंसक व्यक्ति के मन मे हर हिंसा के प्रति अशक्यता का अनुभव होना चाहिए। यह अनुभव ही उसे अखंड अहिंसा तक ले जा सकता है। हर व्यक्ति शरीर और जीवन के प्रति सर्वथा निर्ममत्व की स्थिति में नहीं जा सकता। इसलिए अहिंसा के क्रमिक विकास का मार्ग सुझाया गया है जिससे व्यक्ति व्रत के बल पर अप्रमादी हो सके।

1.13 व्रत का आधार

नीतिशास्त्र के अनुसार, ''नैतिकता व्यक्ति के जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता प्रदान करना है। राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई की वृद्धि करना है।'' ग्रीन का कथन है कि मनुष्यय को ''आत्म-कल्याण का विचार पहले रखना चाहिए, पीछे उसे समाज की बातों की परवाह करनी चाहिए। जो व्यक्ति आत्म-कल्याण की चेष्टा करता है, वह समाज का सच्चा कल्याण अपने-आप ही कर देता है।'' ऊपर की पंक्तियाँ व्यक्तिवादी विचारणा की प्रतीक हैं। व्यक्तिवाद स्वार्थपरता है, इसलिए वह समाज को नहीं भाता। नैतिकता और व्यवहार की रेखाएं दो दिशाओं में चलती हैं। नैतिकता के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता आवश्यक है किन्तु राजनीति का आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समाज के लिए समर्पण है। नीतिशास्त्र का ध्येय मनुष्यों को वैयक्तिक कल्याण प्राप्त करने में सहायता देना है और राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई को प्राप्त करना है। राजनीति की दृष्टि बहिर्मुखी होती है और नीतिशास्त्र की दृष्टि अर्न्तमुखी।

बहिर्मुखी दृष्टि से देखने पर व्यक्तिवाद स्वार्थपरता से अधिक मूल्यवान् नहीं लगता पर सही माने में यह स्वार्थपरायणता नहीं है। यह आत्मनिष्ठता है। अपना कल्याण किये बिना दूसरों के कल्याण की बात थोथी होती है। वैयक्तिक कल्याण की मर्यादा को न समझने वालों से समाज का उच्चतम कल्याण नहीं हुआ है। वैसे व्यक्तियों द्वारा सम्भव है समाज को बाहरी सफलताएं मिली हों, नैतिकता की दृष्टि से वे मूल्यवान नहीं है। नैतिक प्रयत्न द्वारा मनुष्य बाहरी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता वरन् आंतरिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और यह पूर्णता हेतु की पवित्रता से ही आती है, बाह्य सफलता से नहीं।

निश्रेयस् के साथ अभ्युदय आता है। वह दूसरों को चोट नहीं पहुंचाता। कोरा अभ्युदय किसी महान् साध्य का प्रासंगिक फल या गौण परिणाम नहीं होता, इसलिए वह शुद्धि की मर्यादा का वाहक नहीं रह सकता। समाज समर्पण और परस्परोपग्रह की प्रयोगभूमि है, इसलिए वह अभ्युदयवादी है। एक-एक व्यक्ति अभ्युदय और निश्रेयस का संगम-स्थल होता है। व्यक्ति समाज के बन्धन से बिल्कुल खुला नहीं होता है तो बिलकुल बंधा भी नहीं होता। समाज की अपेक्षाओं से वह जुड़ा होता है, इसलिए वह अभ्युदयकारी होता है। अपनी आंतरिक वृत्तियों के शोधन व नियमन में वह समाजमुक्त भी होता है, इसलिए वह अभ्युदयवादी नहीं होता। इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति आत्म-मोक्ष की मर्यादा में व्यक्ति-शोधन और सामाजिक अपेक्षाओं की स्थिति में अभ्युदयकरण, इन दोनों की सहस्थिति लिए चलता है। यह अभ्युदय और निश्रेयस् का पृथक्करण नहीं किन्तु उनकी मर्यादा का विवेक है। अभ्युदय और निश्रेयस् दो न हो तो फिर उनके द्वैत की कल्पना भी व्यर्थ है। यदि वे दो हैं तो उनके स्वरूप दो होंगे। दो स्वरूप वाली वस्तुओं को एक मानना मतिविपर्यय है।

अभ्युदय और निश्रेयस् की आराधना का देश-काल की दृष्टि से बंटवारा हुआ। उससे अवश्य ही सम्मोह बढ़ा। अमुक-काल और अमुक क्षेत्र धर्म या निःश्रेयस् की आराधना का है और अमुक देश, काल अभ्युदय या व्यवहार की आराधना का, इस प्रकार निःश्रेयस् और अभ्युदय की साधना का बंटवारा हुआ, वह उचित नहीं है। किन्तु इनके स्वरूप का स्वयंजात पार्थक्य है, वह अकृत्रिम है, इसलिए वह अस्वाभाविक नहीं है। प्रत्येक कार्य निश्रेयस् के लिए हो, यह स्थिति साधना के उत्कर्ष की है। इससे पहले सबकी सब क्रिया निश्रेयस् के लिए नहीं होती। स्वजाति, समाज, राष्ट्र के अभ्युदय के लिए निश्रेयस् के मेल न खाने वाली भी बहुत सारी प्रवृत्तियां होती हैं, उन्हें निश्रेयस् की साधना नहीं कहा जा सकता। इसलिए निश्रेयस् और अभ्युदय का स्वरूप-भेद, साधना-भेद, परिणाम-भेद स्वयं सत्यकार है। निश्रेयस् की व्याख्या में ''जहाँ तक किसी प्रकार का आचरण इस निश्रेयस् की प्राप्ति में सहायक होता है, वहां तक आचरण को भला कहा जाता है।'' ''जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के वश में आता है, वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में असमर्थ रहता है।'' ''अभ्युदय के मार्ग में भलाई-बुराई की परिभाषा समाज की उपयोगिता-अनुपयोगिता से जुड़ी हुई होती है और वहां राग-द्वेष का मर्यादित आचरण भी नहीं समझा जाता।

अभ्यदयवाद का आधार सुखवाद (स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार के) है और सुखवाद का आधार जड़वाद है। मृत्यु प्राणी की पूर्ण समाप्ति है, यह जड़वाद की पूर्व मान्यता है। इसलिए उसमें जीवन और उसके आधारभूत शरीर का सर्वोपरि महत्त्व है। निश्रेयस्

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधना में जीवन और शरीर का महत्त्व नहीं, वहां उनके नियमन- संयम का महत्त्व है। जीवन क्षणभंगुर और शरीर असार है, उसमें स्थिरता का अंश और सार-भाव इतना ही है कि जितना वह निश्रेयस् का साधन बने। इसलिए अणुव्रत का घोष है- ''संयमः खलु जीवनम्''- संयम ही जीवन है। जीना संयम नहीं है, निश्रेयस् की विचारणा में वस्तुतः जो संयम है, वही जीवन है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद व्रत का आधार नहीं बन सकता। सुख मिले, दु:ख न हो, जीवन बना रहे, मृत्यु न हो- यह प्राणी मात्र की स्वाभाविक मनोवृत्ति है। सुखैषणा और प्राणैशणा से प्रेरित हो वे सुख-सुविधा के साधन जुटाते हैं। सुख-सुविधा में कहीं खलल न पड़ जाये- यह वृत्ति आगे बढ़ती है। उससे संग्रह का भाव आता है। वह मन के बांध को तोड़ डालता है। फिर आवश्यकता की बात गौण हो जाती है। सिर्फ संग्रह के लिए संग्रह-प्रधान बन जाता है। दूसरों के शोषण, उत्पीड़न, दमन आदि सभी कुचेष्टाओं के पीछे यही मनोवृत्ति होती है। सुख पाने और दु:ख से बचने की वृत्ति को ''मनोवैज्ञानिक सुखवाद'' कहा जाता है। नीतिशास्त्र की दृष्टि से इसे संग्रहवाद कहना चाहिये। अभ्युदय में सुख की कामना छूटती नहीं, इसलिये सामाजिक क्षेत्र में दूसरों को दु:ख देकर सुख पाने और दूसरों को मारकर जीने की वृत्ति बुरी है, यह माना गया। निश्रेयस् आनन्दमय है। आनन्द चरित्र का उदात्तीकरण है। सुख पौद्गलिक तृप्ति या पूर्ति है। इसलिये वैयक्तिक जगत् में आनन्दानुभूति के लिये सुख की कामना को बुरा माना गया। शरीर-धारण और जीवन-निर्वाह के लिये अनिवार्य अपेक्षाओं को पूरा करना सुखवाद नहीं है। वह आवश्यकतास की पूर्ति है। जीवन-निर्वाह की दो प्रधान जरूरतें हैं- कपड़ा और रोटी। रोटी जैसे शरीर की सहज मांग है, वैसे कपड़ा उसकी सहज अपेक्षा नहीं है, फिर भी लज्जा का संस्कार समाज में इतना प्रधान बन गया कि कपड़ा आवश्यकता बन गया।

जो कपड़ा आदिकाल में लज्जा, शीत, ताप आदि का त्राण बना, वह विकास पाते-पाते भावना का त्राण बन गया। यह अनर्थ-प्रयोग है। अर्थ-प्रयोग की दृष्टि से समाज के संस्कारानुसार वह जीवन की पहली जरूरत है, इसमें कोई दो मत नहीं है, दूसरी जरूरत रोटी है। तीसरी अपेक्षा है- घर। ये अपेक्षाएं जब तक अपेक्षामात्र रहती हैं, तब तक व्यक्ति इन्हें पूरी करता चला जाता है। किन्तु जब इनकी पूर्ति में सुख-साधन, आराम और विलास का विशेष भाव जुड़ जाता है, तब ये अपेक्षाएं गौण बन जाती हैं और सुख-साधना मुख्य बन जाती है। यह है सुखवाद। इसकी दिशा में सहज तृप्ति मिट जाती है। अतृप्ति का तांता-सा लग जाता है।

रोटी, पानी, कपड़ा, आभूषण, स्त्री, सन्तान, प्रिय-इंद्रिय विषय- स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द- इस प्रकार इच्छाक्रम सतत्-प्रवाही है। इसमें बहने वाला व्यक्ति महाहिंसा और महापरिग्रह की दिशा में चला जाता है। इस पर जो नियन्त्रण है वही व्रत है। व्रती जीवन में इच्छा नियंत्रित हो जाती है। केवल जीवन की अपेक्षा शेष रहती है। व्रत के द्वारा जीवन की दिशा बदल जाने पर व्यक्ति हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की ओर चल पड़ता है। जीवन-निर्वाह के लिये अल्पहिंसा और अल्परिग्रह रहता है, बाकी की कामनाएं धुल जाती हैं। यही कारण है कि व्रत की भावना में सुख का प्रश्न प्रधान नहीं रहता। वहां मुख्य बात हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण की होती है। यही व्रत का आधार है।

1.14 अणुव्रत रचनात्मक या निषेधात्मक

कुछ तत्त्व रचनात्मक होकर भी निषेधात्मक होते हैं और कुछ निषेधात्मक होकर भी रचनात्मक होते हैं। युद्ध की तैयारी भाषा में रचनात्मक होती है, किन्तु उसका अर्थ निषेधात्मक होता है। अणुव्रत भाषा में निषेधात्मक है, किन्तु इसका अर्थ रचनात्मक है। जिससे जीवन का निर्माण हो, चरित्र का निर्माण हो, वह रचनात्मक कैसे नहीं होगा? उस प्रयत्न का आज कोई मूल्य नहीं आंका जाता, जो रचनात्मक न हो। अणुव्रत-आंदोलन का मूल्य आंकने वाले कहते हैं- यह बहुत बड़ा रचनात्मक कार्य है। कुछ लोग अणुव्रत को इसलिए मूल्यवान नहीं मानते कि यह 'रचनात्मक' कार्य नहीं है। इसके साथ कोई रचनात्मक प्रवृत्ति जुड़ी हुई नहीं है। आखिर कार्य का मूल्यवान् होना 'रचनात्मकता' पर निर्भर है। अणुव्रत-आंदोलन रचनात्मक है या नहीं, यह बड़ा जटिल प्रश्न है। किन्तु 'रचनात्मक' हुये बिना आज इसकी गति भी नहीं हो सकती। इस सतत-गति और क्रियाशील जगत् में 'अरचनात्मक' भी कुछ है, यह नहीं माना जा सकता, किन्तु यह दार्शनिक विचार है। जमाना दर्शन से दो कदम आगे बढ़ चुका है। आज के लोग केवल देखना और जानना नहीं चाहते, वे बदलना चाहते हैं। परिवर्तित युग का सत्य भी नया होता है। आज का 'रचनात्मक' दृष्टिकोण यह है कि मनुष्य श्रम करे, श्रम के द्वारा कमाई हुई वस्तु को भोगे। दूसरों के श्रम पर न जिये, आलसी बन बैठा न रहें, मूल्यांकन की दृष्टि को बदले, श्रमिक को छोटा न माने, अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए स्वयं कुछ-न-कुछ पैदा करें। इस दृष्टिकोण की तुलना में पिछला जमाना अवश्य अरचनात्मक रहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समाजीकरण के अभाव में बुद्धि का वाद नहीं होता। ज्ञान आत्मा का सहज धर्म है। बौद्धिक विकास का क्रम स्पर्धा पर आधारित है। स्पर्धा की भूमि समाज है। उसने बुद्धि को बढ़ाया, बुद्धि ने साधनों का विस्तार किया। भूख एक है, प्यास एक है, किन्तु उन्हें मिटाने के लिए आज अनगिनत साधन हैं। साधन-सामग्री ने मनुष्य को छुटपन और बड़प्पन में बांट दिया। जिसे साधन अधिक सुलभ हों वह बड़ा और जिसे साधन कम सुलभ हों वह छोटा। बड़ा बनने वाला पूजा पाने लगा और छोटा उसे पूजने लगा। इस कृत्रिम भेद से अनावश्यक वस्तुओं में कृत्रिम मूल्य का आरोप हुआ। खान-पान के लिए अनुपयोगी वस्तुएं मूल्यवान् बन गयीं। मनुष्य का मोह श्रृंगार से जुड़ गया। मोह की आंख से मनुष्य ने देखा- काम करना छोटी बात है। वह श्रम से अश्रम की ओर झुक गया 'रचनात्मक' युग समाप्त हो चला। रचनात्मक और अरचनात्मक- ये दोनों एक ही पहिये के दो सिरे हैं। एक ऊपर उठता है, दूसरा नीचे चला जाता है, दूसरा ऊपर आता है, पहला नीचे चला जाता है। ये दोनों मिल दुनिया की गाड़ी को आगे धकेल रहे हैं। मनुष्य का सहज भाव है कि वह अपने जमाने को सर्वोत्कृष्ट देखना चाहता है। जमाना अपनी गति से चलता है। उसमें कारण-कार्य की नियत परम्पराएं प्रतिफलित होती है। आज जो ''अरचनात्मकता'' का जमाना है वह समाजीकरण और उसकी छत्रछाया में पलने वाली मिथ्या धारणाओं का परिणाम है। जब कभी रचनात्मक युग होगा, वह समूहीकरण और उसके पल्ले पड़ी मिथ्या धारणाओं के विघटन का परिणाम होगा। मनुष्य में परिणाम के प्रति जो अभिलाषा होती है, वह कारण के प्रति नहीं होती। वह स्वर्ग चाहता है, स्वर्ग की साधना नहीं चाहता। आज बहुत लोग चाहते हैं, मिथ्या धारणाएं टूट जायें, कृत्रिम भेद-रेखाएं मिट जायें, सब समान हो जायें और आत्मनिर्भर बन जायें। यह परिणाम की चाह तीव्र हो रही है।

समाजीकरण इतना हो रहा है कि व्यक्ति कोरा यंत्र रह गया है। वैयक्तिकता की बात कोई सुनना ही नहीं चाहता। व्यक्ति का समाज से भिन्न जैसे अस्तित्व ही न हो, वैसे वह जकड़ा जा चुका है। क्या यह सही हुआ है? सामूहिकता सहज अनुभूति नहीं है। वह कुछेक के दिल में विचारों से पनपी है और बहुतों पर डंडे के बल से थोपी गयी है। आज का समाजवाद व्यक्तिवाद के विकृत स्वरूप की प्रतिक्रिया है। वह मनुष्यों के भौतिक हितों के स्तर को समतल बनाने में सफल भी हुआ है, किन्तु वह अब भी परिणाम की धुरी के आसपास घूम रहा है, कारण की खोज बहुत दूर है। व्यक्तियों और वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। आवश्यकता पूर्ति की चिंता का भार कम भी हुआ है, किन्तु मानवीय दुर्बलता का प्रतिकार नहीं हो सका। मान और अपमान, छोटा और बड़ा होने की वृत्ति सामूहीकरण की तीव्र प्रतिक्रिया हो सकती है। उत्पादन बढ़ा है, श्रम का मूल्य बढ़ा है, किन्तु उसका आधार है- पदार्थ और समाज यह सारा परिणामवाद है। इसमें रचनात्मकता के अभाव की प्रतिकार-शक्ति नहीं हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं कि अणुव्रत आन्दोलन को 'अरचनात्मक' कहने में मुझे जरा भी हिचक नहीं होती। परिस्थितियों के भार से मनुष्य को रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर ले जाने वाला वाद और नीति क्षणिक उपचार है। वह मानव-स्वभाव का परिवर्तन नहीं है। मानव का स्वभाव (कहना चाहिए विभाव लेकिन वही आज स्वभाव जैसा हो रहा है) असंयम में रम रहा है, पदार्थ पर टिका हुआ है। अणुव्रत-आन्दोलन का लक्ष्य नया मोड़ देना है। उसे अपने-आप में टिका संयम में रमाना है। समस्या का स्थायी समाधान संयम है। मोक्ष इतना बढ़ गया कि संयम की खोज कठिन हो रही है। व्यक्ति अकेला आता है और वैसा-का-वैसा चला जाता है। वह जीवन-भर सम्बन्धों की जोड़-तोड़ में रहता है। जानकारी का उपयोग कर्म में नहीं हो रहा है, यही मोह है। बुरे-भले को जान लेना ज्ञान-मात्र है, बड़ी बात है बुराइयों को छोड़ भलाई के रास्ते चलना। इसमें बाधा डालने वाला मोह है। मोक्ष और असंयम एक ही स्वभाव की दो अभिव्यक्तियां है। पदार्थ से मोह हटते ही संयम आ जाता है अथवा संयम जागते ही पदार्थ का मोह टूट जाता है। निर्मोहता ही संयम है। राजनीति के सारे वाद पदार्थ-मोह से जुड़े हुए हैं। मनुष्य-मनुष्य में मोह व्याप्त है, इसीलिए वे सहजतया उनके गले उतर जाते हैं। बात स्पष्ट है। जहाँ तक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रश्न है वहां तक उनसे हमारा झगड़ा भी क्या है? रोटी की व्यवस्था जीवन का सामान्य प्रश्न है। उसे कौन कैसे हल करता है, इसे हम महत्त्व ही क्यों दें? हमें महत्त्व इसे देना चाहिए कि पदार्थ पर किसकी कैसी निष्ठा है? पदार्थ की निष्ठा में कमी आ सके, उसी में संयम के आंदोलन की सफलता है।

गरीबी का निराकरण और रोटी का प्रश्न समाजवाद, साम्यवाद व सर्वोदय से सुलझता है। हमारे अंकल का आधार यह है कि मानव-स्वभाव में कौन कितना परिवर्तन लाता है, संयम के मूल्यांकन में कौन प्रतिक्रिया पैदा करता है? सत्ता और शक्ति पर आधारित वाद संयम के विकास को गति नहीं देते, भले फिर वे एक बार लोगों को भुलावे में डाल दें। अणुव्रत-आंदोलन पदार्थ की सुविधा के साथ-साथ संयम की ओर बढ़ने की दिशा नहीं है। वह संयम के स्वतंत्र मूल्यांकन और विकास की दिशा है। दूसरों को पदार्थ की सुविधा मिले, इसलिए संयम करना उसका अवमूल्यन करना है। संयम का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। वह जीवन की पवित्रता के लिए किया जाये। पवित्रता के साथ वैयक्तिकता का विकास हो जाता है। उसके विकास में साधनों की अपेक्षा स्वल्प हो जाती है। आवश्कता-पूर्ति के साधनों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की दुनिया में छोटे-बड़ेपन का भाव विकसित नहीं होता। बड़प्पन आए बिना झूठे मूल्यों का आरोपण नहीं होगा यह 'रचनात्मक' युग के निर्माण की सही दिशा है।

प्रश्न रह-रहकर यही उठता है कि क्या कोरे संयम का आंदोलन सफल हो सकेगा? भलाई की एक रेखा भी विफल नहीं होती। यह पदार्थ नहीं है, जिसकी सफलता और विकास संख्या से मापा जाये। अन्धकार में प्रकाश की एक रेखा भी पथ दिखा सकती है। अणुव्रती वह होगा, जिसे पदार्थ का तीव्र मोह नहीं है। तीव्र मोह से संग्रह और संग्रह के लिए हिंसा की जाती है। अणुव्रती का मार्ग अहिंसा-प्रधान होगा। अल्प हिंसा, अल्प उद्योग एवं अल्प परिग्रह से जीवन में रचनात्मक प्रवृत्तियां स्वयं जुड़ जाती हैं। दूसरों के श्रम पर वही जी सकता है, जो महाहिंसा, महाउद्योग और महापरिग्रह का जीवन जीयें। ऐसा व्यक्ति सफल अणुव्रती हो नहीं सकता। रचनात्मक प्रवृत्तियों से संयम की ओर झुकाव हो भी सकता है और नहीं भी होता। संयम के पीछे स्वावलम्बन और आत्म-निर्भरता अपने आप आती है। ज्यों-ज्यों संयम विकास करता है, त्यों-त्यों आत्म-निर्भरता बढ़ती जाती है। इसमें संदेह नहीं कि संयम ही सारी समस्याओं का समाधान है, भले फिर वह प्रत्यक्ष रूप से हो या अप्रत्यक्ष रूप से। यह स्वयं भले अरचनात्मक हो किन्तु रचनात्मक इसी के आसपास फलती-फूलती है। इसलिए हमें कोरी रचनात्मकता प्रवृत्ति का मोड़ छोड़ कुछ अरचनात्मकता को भी गति देनी चाहिए।

1.15 अणुव्रत और प्रतिरोधात्मक शक्ति

व्रत इच्छा का स्वेच्छाकृत नियमन है। इसलिए वह एक विशिष्ट साधना है। यह सहज प्रवृत्ति पर अंकुश है। प्रतिरोधात्मक शक्ति की अपेक्षा समाज में विधेयात्मक शक्ति अधिक होती है। व्यक्ति जितना करता है, उतना नियन्त्रण नहीं रख पाता। प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास कम मात्रा में होता है, तभी प्रवृत्तियां बुरी बनती हैं। प्राय: सुनने को मिलता है- अणुव्रत आन्दोलन के व्रत नकारात्मक हैं। इनमें विधेयात्मक नहीं जैसा है। आलोचना सही है। इसमें व्रत-परम्परा के ह्रास का इतिहास बोल रहा है। नकारात्मक शक्ति का महत्त्व प्रकाश में नहीं आ रहा है। इसीलिए यह आलोचना होती है और इसीलिए ये बुराइयां चलती हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, विलास या चरित्र-दोष और संग्रह -ये पांच बुराई के प्रवाह हैं। शेष बुराइयां इन्हीं की छाटी-बड़ी शाखाएं हैं।

कोई व्यक्ति क्रूर क्यों बनता है? अनुशासनहीन क्यों बनता है? असत्य क्यों बोलता है? चोरी क्यों करता है? विलासी क्यों बनता है? संग्रह क्यों करता है? इनके तथ्यों को खोजिए। ये सब परिस्थिति की विवशता से नहीं होते। आवरण स्थूल निमित्त है। मूल कारण व्यक्ति का प्रतिरोध या नियंत्रण का अभाव है। समाज की क्रियात्मक शक्ति अति विकसित है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ करता है। आवश्यक भी करता है और अनावश्यक भी। उपयोगी भी करता है और अनुपयोगी भी। अच्छा भी करता है और बुरा भी। विलास भी है और आराम से जीवन बिताने की वृत्ति भी हैं। आलस्य भी है और कुछ भी किये बिना सब कुछ पा लेने की भावना भी है। जिस व्यक्ति या समाज में नियन्त्रण या निरोध-शक्ति का उचित मात्रा में विकास होता है, वह आवश्यक, उपयोगी और अच्छा ही कार्य करता है। जिनमें निरोध-शक्ति का विकास औचित्य से अल्प होता है, वे आवश्यक, उपयोगी और अच्छा कार्य करने के साथ-साथ अनाश्यक, अनुपयोगी और बुरा कार्य भी कर लेते हैं। जिनमें निरोध-शक्ति नहीं होती, वे अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरे कार्यों में ही रस लेते हैं। इस तीसरी श्रेणी के व्यक्ति विलासी, आलसी और लुटेरे होते हैं।

रचनात्मक कार्यों के द्वारा समाज को उन्नत धरातल पर ले जाने वाले यह न भूलें कि प्रतिरोध शक्ति का विकास हुए बिना वैसा होना सम्भव नहीं है। निषेध जीवन का शुद्धि-पक्ष है। विधि (कार्य) का अति-पक्ष या अवांछनीय पक्ष इसी के अभाव में बलवान् बनता है। निषेध की शाश्वत सत्यता तक मनोविज्ञान अभी नहीं पहुंच पाया है। इसलिए केवल रचनात्मक पक्ष को एकांगी महत्त्व दिया जा रहा है। रचनात्मक प्रवृत्तियों के लिए अभ्यास या साधना आवश्यक नहीं होती। ये जीवन की सहज अपेक्षाएं हैं। उनकी शिक्षा भी तभी आवश्यक होती है, जबकि समाज स्व-नियंत्रण की बात भूल जाता है। स्व-नियंत्रण से मिलता कुछ भी नहीं, कुछ बनता भी नहीं, किन्तु यह सब अच्छाइयों की जड़ है, इसीलिए इसके अभ्यास की पुनरावृत्ति करनी ही होगी। जिन राष्ट्रों में नैतिकता की ऊँची भावना है उनमें आत्म-नियंत्रण का भाव भी विकसित है। वे कठिन स्थिति को झेलने के लिए अपने पर काबू पा सकते हैं। कठिनाई व्यक्ति, समाज और राष्ट्र सब पर आती है। निरोधक-शक्ति वाले बिना घबराए उसे लांघ जाते हैं और जो निरोधक-शक्तिहीन होते हैं, वे उसमें डूब मरते हैं। अधिकांश मानसिक रोग और बहुत सारे शारीरिक रोग इसी निरोधक शक्ति की कमी के कारण होते हैं। आत्महत्याओं का भी यही प्रधान कारण है, और भी अनेक बुराइयां इसी के अभाव में पनपती हैं। इसलिए अणुव्रत-आंदोलन ने इस मूलभूत तथ्य को पकड़ा है।

उसके लगभग सारे व्रत व्यक्ति को निरोधक-शक्ति की साधना की ओर ले जाते हैं। उनका हार्द-"मत करो, मत करो," इतना ही नहीं है, किन्तु 'मत करो'- इसके पीछे नियंत्रण-शक्ति की विराट् साधना जो छिपी हुई है, साध्य वह है। अमुक मत करो- ये उसी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधना के साधन हैं जो व्यक्ति के सद्‌विवेक और भलाई की मौलिक वृत्ति का जागरण किये देते हैं। ये व्रत केवल प्रतिरोध-शक्ति के विकास की ओर ले जाने वाली दिशाएं हैं। व्रती बनने वाले इन्हें ही साध्य मानकर न रुके। आलोचना करने वाले साध्य के बाहरी रूप में ही न उलझें। दोनों (व्रती और आलोचक) आगे बढ़ें। साध्य की विराट् सत्ता को देखें। वहां उन्हें वह सत्य दिखाई देगा, जो स्पष्ट होते हुए भी आंखों से परे है और जिसका अभ्यास समाज-धारणा, राष्ट्र-धारणा और मोक्ष-धारणा सभी धारणाओं का मूल है। समाज में प्रतिरोध-शक्ति कम हुई है। उसके अभाव में बुराइयां अधिक पनपी हुई हैं। इसलिए अनावश्यक, अनुपयोगी और बुरा मत करो। यह निषेध पक्ष निष्क्रियता या अकर्मण्यता-सा लग रहा है, पर यह अकर्मण्यता नहीं, कर्मण्यता का परिष्कार या शोधन है। एक शोषण और लुटेरा भी कर्मण्य हो सकता है और होता भी है किन्तु वह अनियंत्रित और अपरिष्कृत कर्मण्यता है। कर्मण्यता का परिष्कार नियन्त्रण से ही हो सकता है। समाज उसे भुलाये हुये है। इसीलिए वह कठोर कार्य लग रहा है। उसकी साधना भी लम्बा समय ले सकती है, भूलें भी बहुत हो सकती हैं। बुराई भी सहसा नहीं आती। उसका भी क्रमिक विकास होता है। ''पहले-पहल बुराई करते घृणा होती है। दूसरी बार संकोच होता है। तीसरी बार संकोच मिट जाता है। चौथी बार साहस बढ़ जाता है और फिर वह सहज बन जाती है।'' यह बुरी प्रवृत्ति का अभ्यास-क्रम है। उसके संस्कार पकने में पीढ़ियां गुजर जाती हैं। भलाई के लिए भी यही क्रम है। भले संस्कार दिनों, महीनों या वर्षों में ही एक-रस नहीं बन जाते। उसके परिणाम और मूर्त्त प्रवृत्तियां तो और अधिक लम्बा समय लेती हैं। पहले तो सिर्फ समाज के थोड़े आदमी ही आगे आते हैं, फिर प्रयत्न होते-होते वह समाज व्यापी बन जाता है, सहज भाव से आत्मसात् हो जाता है। इसलिए अल्पसंख्या की बात आंदोलन के सामने गौण है। प्रधान बात यह है कि यह शाश्वत सत्य और समाज की मूलभूत अपेक्षा की भित्ति पर खड़ा हुआ है। समाज के साथ एक-रस होने की संभावनाएं इसमें रही हुई हैं।

निषेधात्मक कर्त्तव्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक होते हैं। जर्मन दार्शनिक कांट ने मनुष्य के कर्त्तव्यों को निश्चित ऋण अनिश्चित ऋण-इस प्रकार दो भागों में बांटा है। जो अनिवार्य आदत है, वह निश्चित ऋण-कर्त्तव्य है। अधिकतर ये कर्त्तव्य निषेधात्मक होते हैं, अर्थात् वे मनुष्य को किसी विशेष प्रकार के अनुचित कार्य से रोकते हैं। दूसरी ओर के कर्त्तव्य विधेयात्मक इनके विपरीत होते हैं, अर्थात् वे देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं, अतएवं उन्हें निश्चित नहीं कहा जा सकता। आंदोलन के व्रत निश्चित कर्त्तव्य की भूमिका के हैं, इसीलिए उनका स्वरूप अधिकतया निषेधात्मक है।

1.16 अणुव्रत की प्रेरणा

व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों का परिमार्जन करे- यह व्रत-ग्रहण की दृष्टि है। एक ही वृत्ति के अनेक रूप और उसकी अभिव्यक्ति के अनेक मार्ग होते हैं। वृत्ति का शोधन नहीं होता, केवल रूप और मार्ग का निरोध होता है, तब वह मिटती नहीं, रूपांतरित व मार्गान्तरित हो जाती है। बुराई नहीं मिटती उसके रूप और प्रकट होने का मार्ग बदल जाता है।

अणुव्रती का ध्येय व्रतों की भाषा में सीमित नहीं है। ध्येय है-जीवन की शांति। उसके साधन इतने ही नहीं हैं, आगे और बहुत हैं। बुराइयां अशांति लाती हैं। वे भी इतनी ही नहीं हैं, जिनका कि यहां निषेध हुआ है। व्यक्ति की असीम योग्यता का कर्तृव्य शक्ति में हमें विश्वास है। उसका सुप्त मानस जागरण का संकेत मिलने पर जाग उठता है। जागरण का क्रम किसी का लम्बा और किसी का छोटा हो सकता है। जागरण के बाद आत्म-नियमन की बात आती है। यह भी किसी के लिए दीर्घ प्रयत्न-साध्य होता है और किसी के लिए स्वल्प प्रयत्न-साध्य। प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या अणुव्रत से आर्थिक समस्या को सुझलाने में योग मिल सकता है?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि आर्थिक समस्या को सुलझाने का प्रयत्न साधन है- प्रचुर उत्पादन और उसका समुचित वितरण। किन्तु मनुष्य की समस्या केवल आर्थिक ही नहीं है, और भी अनेक समस्याएं हैं। उनमें चारित्रिक समस्या को प्रथम स्थान दिया जा सकता है। जिस समाज में चरित्र-बल उन्नत होता है, वहां आर्थिक समस्या जटिल नहीं होती। चरित्र-बल के अभाव में ही आर्थिक समस्या उलझती है। जो लोग अपने स्वार्थ को सर्वाधिक प्रधानता देते हैं, अनैतिक आचरण से धनार्जन करने या सत्ता हथियाने में जिन्हें लाभ दिखाई देता है, उन्हें अणुव्रत स्वीकार करने में कोई लाभ दिखाई नहीं देता, किन्तु सभी लोग यदि अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को प्रधानता देने लगा जाएं तो समाज की व्यवस्था टिक नहीं पाती।

1.17 व्रत साधना : सामाजिक मूल्य

व्रतों की शब्दावली में गूढ़ता नहीं है। उनमें भावनाएं गूढं हैं। उनकी स्पष्ट रेखाओं को देखना जरूरी है। संकल्पपूर्वक घात नहीं करने का एक व्रत है। उद्देश्यहीन हिंसा- आवेग-क्रोध, लालच, अधिकार, अभिमान, कपट की स्थिति में होने वाली हिंसा, संकल्पी हिंसा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। इसका पहला रूप शौकिया मनोवृत्ति से बनता है-शिकार खेलना, भैसों या दूसरे जानवरों के साथ लड़ते हुए उन्हें मारना, ये और इस कोटि के दूसरे कार्य जीवन के आवयश्क अंग नहीं होते, केवल क्रीड़ा या मनोरंजन मात्र होते हैं। इसलिए अणुव्रती उनसे बचें। दूसरा रूप साम्राज्यवादी व संग्रहवादी मनोवृत्ति, जातीय और सांप्रदायिक विद्वेष की मनोवृत्ति से बनता है- आक्रमण करना, आग लगाना, भड़काना, विद्रोह फैलाना- ऐसी प्रवृत्तियां संकल्पी हिंसा के ही रूप हैं। 'संकल्पपूर्वक घात नहीं करना'- इसका अर्थ न मारने तक ही सीमित नहीं है किन्तु हिंसा को उत्तेजना मिले, वैसी प्रवृत्तियां न करना- यह भी उसी में समाया हुआ है। इसलिए अणुव्रती ऐसी प्रवृत्तियों से दूर रहें। आक्रमण करना- यह सामाजिक व राष्ट्रीय महत्त्व से आगे जाता है। इसका बहुत बड़ा महत्त्व अन्तर्राष्ट्रीय है। जिस पंचशील ने अनेक राष्ट्रों को मैत्री के रूप में बांधा है, उसमें एक शील है- आक्रमण न करना। यह अणुव्रत-भावना की बहुत बड़ी विजय है। साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का मूल हिंसा है, तभी राजनीति के क्षेत्रों में अनाक्रमण की संधि का स्वर विवशता के बिना ही बलवान् बनता जा रहा है। लोभ और विद्वेषवश वैयक्तिक या जातीय आक्रमण न हो, वैसा विवेक-जागरण भी अणुव्रत-आंदोलन का प्रमुख ध्येय है।

अनाक्रमण की वृत्ति का लाभ है-शांति, जातीय शान्ति, राष्ट्रीय शांति, विश्व शांति। अनाक्रमण मैत्री की पहली मंजिल है। आक्रमण की वृत्ति क्रूरता से बनती है। वह अंकुरित न हो, इसके लिए छोटी-छोटी बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। (1) कठोर बन्धन से बांधना, (2) अंग-विच्छेद करना, (3) गरम शलाका से दागना, (4) निर्दयतापूर्वक पीटना, (5) पशुओं को आपस में लड़ाना, (6) त्रिशूल आदि के दाग लगाना, (7) बलात् दूसरों को अपने अधीन बनाना व अधीन किए रखना, ये छोटी किन्तु क्रूरता की वृत्ति को पोषण करने वाली प्रवृत्तियां हैं। अनाक्रमण की भावना को प्रबल बनाने के लिए इनका निवारण भी अपेक्षित है।

शास्त्रास्त्र और गोला-बारूद के उद्योग-धन्धों का नियन्त्रण भी अनाक्रमण की भावना को विकसित करने के लिए आवश्यक है। आक्रमण की भावना के रहते हुए नि:शस्त्रीकरण की बात नहीं फलती, वैसे ही अस्त्र-शस्त्रों के बढ़ते हुए उत्पादन के साथ अनाक्रमण की संगति नहीं होती। शास्त्रास्त्रों का निर्माण करने वाले व्यापारी आक्रमण की वृत्ति को उभारने में ही अपना लाभ देखते हैं। आक्रमण की जड़ हिलाने के लिए पारिवार्श्विक पोषण-तत्त्वों का उखाड़ फेंकना होगा।

जिस राष्ट्र की व्यापारिक साख नहीं होती उसका व्यापार भी अन्तर्राष्ट्रीय नहीं बनता। नैतिकता की कमी प्रतिष्ठा में भी कमी लाती है। आध्यात्मिक हानि के साथ-साथ व्यावहारिक हानि भी होती है। व्यापारिक अप्रामाणिकता छोड़ने का परिणाम केवल निर्यात-वृद्धि ही नहीं, उससे राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास का अनुमापन भी किया जाता है। व्यापार में क्रूर व्यवहार- (1) माल पाकर नहीं मिला या कम मिला, (2) अच्छा माल पाकर बुरा मिला, (3) मूल्य पाकर नहीं मिला या कम मिला, (4) सौदा करके नहीं किया- करने से- ऊपर बताए हुए कार्य करने से प्रतिष्ठा टूटती हैं, नैतिक पतन होता है, इसलिए ऐसे कार्य जो व्रत की भाषा में नहीं आए हैं किन्तु ये उनकी भावना से परे नहीं हैं। जिस समाज में (1) स्त्रियों का व्यापार, (2) वेश्या-वृत्ति से आजीविका, (3) लाइसेंस, नौकरी, ठेका आदि प्राप्त करने के लिए घृणित तरीकों का प्रयोग, (4) स्त्रियों को धमका, फुसला, बहका, लुभाकर विवाह करना, (5) झूठे राशन कार्ड बनाना, (6) जुआखाना खुलवाना- ऐसी जघन्य प्रवृत्तियां चलती हैं, वह उन्नत सांस्कृतिक चेतना वाला वाला नहीं होता, इसलिए व्यापार संबंधी अनैतिकता-निवारण की साधना का सामाजिक मूल्य भी कम नहीं है।

व्रत सारे-के-सारे वैयक्तिक होते हैं। धन सामाजिक होता है। एक ही कमाई का लाभ अनेक को मिल जाता है। व्रत में वैसी बात नहीं है। एक व्यक्ति की व्रत-साधना का लाभ दूसरों को नहीं मिलता किन्तु प्रासंगिक लाभ तो मिलता है। एक व्यक्ति अपनी भलाई के लिए भी बुरा काम नहीं करता, वह समाज की भलाई में बिना कुछ किए अपना योग दे देता है। अनावश्यक संग्रह नहीं करने वाला दूसरों की आवश्यक-पूर्ति का सहजभाव से निमित्त बन जाता है। यह प्रासंगिक लाभ की बात हुई। हमारा तात्पर्य व्रत के मौलिक लाभ से है। उसका प्रतिदान नहीं होता। शांति उसी को मिलती है, जो व्रत के द्वारा अपनी वृत्तियों का शोधन करता है, वह दूसरों को नहीं मिलती। सगे-सम्बधियों को भी उसका दाय-भाग नहीं मिलता। प्रेरणा मिल सकती है, निमित्त मिल सकता है पर शुद्धि का समर्पण नहीं होता- यही उनका वैयक्तिक स्वरूप है।

1.18 सारांश

व्रतों को 'वैयक्तिक' इस अर्थ में ही कहा जा सकता है कि वे व्यक्ति की निजी स्थिति को ही प्रभावित करने वालों बुराई का नियन्त्रण करते हैं। व्यक्ति के अलावा छोटे या बड़े समूह को प्रभावित करने वाला बुराई का नियंत्रण करने वाले व्रत सामाजिक हो जाते हैं। वृत्ति-शोधन की अपेक्षा दोनों प्रकार के व्रत एक-रूप है। यह संज्ञा-भेद प्रासंगिक परिणाम या दूसरों पर होने वाले परिणाम की अपेक्षा से है। अत: वैयक्तिक व्रत भी सामाजिक भूमिका के निर्वहण में सक्षम होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.19 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. अणुव्रत चर्या के संचालनकर्त्ता कौन थे?
   (अ) महावोट, (ब) बुद्ध, (स) ईसा
2. अनेकान्त का अर्थ क्या है?
   (अ) वैचारिक अहिंसा (ब) राजनैतिक अहिंसा (स) सामाजिक अहिंसा
3. इच्छाओं का दमन नहीं करना चाहिए? किसने कहा था?
   (अ) मार्क्स (ब) फ्रायड (स) डार्विन
4. शिक्षाव्रत कितने हैं?
   (अ) 4 (ब) 5 (स) 12
5. सामायिक के कितने सच हैं?
   (अ) 4 (ब) 3 (स)2
6. वर्तमान में अणुव्रत आन्दोलन के व्रतों की संख्या कितनी हैं?
   (अ) 11 (ब) 86 (स)24

(ब) लघु निंबधात्मक प्रश्न

1. अणुव्रत दर्शन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखे।
2. अनन्त धर्मात्मक वस्तु से आप क्या समझते हैं?
3. भारतीय परम्परा में व्रत एवं तप का चिन्तन क्या है?
4. गुणव्रतों का वर्णन करे।
5. व्रत और अन्नमाद पर एक नोट लिखे।
6. अणुव्रत रचनात्मक हैं या निषेधात्मक? वर्णन करे।

(स) निंबधात्मक प्रश्न

1. स्यादवाद पर एक विस्तृत निंबध लिखे।
2. जैन परम्परा में व्रत एवं तप के सन्दर्भ में अपने विचारों को लिखे।
3. अणुव्रत स्वरूप का वर्णन करे।
4. व्रत साधना का सामाजिक मूल्य के सन्दर्भ में विवेचन करे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-2 : अणुव्रत-आन्दोलन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संरचना

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 अणुव्रत आन्दोलन

2.3 अणुव्रत आन्दोलन : विस्तार

2.4 अणुव्रत का मूल आधार

2.5 आन्दोलन : स्वरूप

2.6 अणुव्रत आन्दोलन क्यों?

2.7 व्यवस्था सुधार या वृत्ति सुधार

2.8 अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक

2.9 आचार्य तुलसी के अहिंसक प्रयोग

2.10 अणुव्रती की पात्रता

2.11 सारांश

2.12 अभ्यास प्रश्नावली

2.0 प्रस्तावना

अणुव्रत आन्दोलन क्यों? व्यवस्था सुधार या व्यक्ति सुधार, अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक अणुव्रती की पात्रता।

2.1 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों, पिछले पाठ में हमने अणुव्रत दर्शन एवं व्रतों के आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं सामाजिक मूल्यों का अध्ययन किया। प्रस्तुत पाठ में अणुव्रत आन्दोलन पर विचार करेंगे, जिसके अन्तर्गत हमारे आलोच्य विषय निम्न होंगे :

2.2 अणुव्रत आन्दोलन

शताब्दियों की स्वतन्त्रता के बाद हिन्दुस्तान स्वतन्त्र हुआ। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने नवनिर्मित राष्ट्रों के शासन को सम्भाला। साम्प्रदायिक दंगों में लाखों आदमी मौत के घाट उतरे तथा जातीयता का नग्न रूप सामने आया। स्त्रियों और बच्चों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार किये गये। ऐसी स्थिति उत्पन्न की गयी थी कि हिन्दुस्तान विभक्त होने से मुस्लिम उधर गये हिन्दु इधर आये दोनों राष्ट्र शरणार्थियों से आक्रान्त हो गये। उनके पुनर्वास की समस्या जटिल हो गयी।

हिन्दुस्तान का संविधान बना और 26 जनवरी 1950 को लागू होकर लोकतंत्र प्रणाली से शासित हो गया। संविधान ने सब वयस्कों को मत देने का अधिकार दिया। चुनाव के उपरान्त केन्द्र और प्राय: सभी प्रान्तों में कांग्रेस ने शासन सम्भाला। कांग्रेस ने समाजवादी समाज-व्यवस्था का लक्ष्य निश्चित किया। व्यापार और सम्पत्ति पर विभिन्न कर लगाये, देशी राज्यों का विलीनीकरण हुआ ओर जमींदारी का अन्त हुआ। खाद्यान्न की कमी थी, उस पर हरित क्रान्ति जैसे प्रयासों से नियन्त्रण किये जाने का प्रयास होने लगा। विकास की योजनाएं बनीं और उसके लिए प्रयत्न होने लगे। ये स्थितियां शैशव में थी। नया निर्वाचन, नया शासन, नया अनुभव और नई व्यवस्था लागू हुई। महात्मा गांधी इस संसार में नहीं रहे। दूसरे प्रमुख नेता अपने-अपने राजनीतिक दलों में फंस गये। स्वतन्त्रता के संघर्ष में जो एकता थी वह टूट गयी। आजादी के आकर्षण ने जिन मौलिक समस्याओं पर आवरण डाल रखा था, वह क्रमश: उभरती गई। जातीयता, अस्पृश्यता, महंगाई, गरीबी, बढ़ती आबादी और पर्यावरण ह्रास- ये हिन्दूस्तान की मौलिक समस्यायें है। अनुशासनहीनता, पद की लालसा, महात्वाकांक्षा, प्रान्तीयता और भाषाई- विवाद ये स्वतन्त्रता के बाद उपजी हुई समस्यायें हैं। विविध प्रकार की इन व इन जैसी

समस्याओं से जनता का चरित्र विकृत और मानव उत्पीड़ित हो रहा था। शिक्षा बढ़ रही थी, बुद्धि का विकास हो रहा था। प्राचीन मान्यताएं शिथिल हो रही थी। नये सिद्धान्त जन्म ले रहे थे। धर्मनेता बुद्धिवादियों को कोसते थे। बुद्धिवादी धर्म और धर्मनेताओं को अतीत का कहानी बनाने की सोच रहे थे। कुल मिलाकर जो स्थिति बनी, उसमें ध्वंस अधिक था, निर्माण कम, उत्तेजना अधिक थी, चेतना कम। इससे सन्तुष्ट कोई नहीं था।

सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय तीनों क्षेत्रों में असंतोष व्याप्त था। चरित्र पतन और अनुशासनहीनता से सभी का धैर्य विचलित हो रहा था। भारतीय समाज में दहेज प्रथा, बाल विवाह, कन्यावध, वृद्ध विवाह, गर्भपात, भ्रूणहत्या, बलिप्रथा, वेश्यावृत्ति, परस्त्रीगमन, नारी शोषण, मृत्युभोज, कालाधन, कालाबाजारी इत्यादि दुष्प्रवृत्तियां विद्यमान थी। इन दुष्प्रवृत्तियों में सुधार तभी संभव है जबकि सामाजिक ढ़ांचे में सुधार किया जाये। इन परिस्थितियों में अणुव्रत आन्दोलन सामने आया। इस समय जैन धर्म श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी के मन में सामाजिक और वैयक्ति विकारों, दुष्प्रवृत्तियों और समस्याओं के समाधान हेतु अणुव्रत आन्दोलन को प्रस्तुत करने के विचार को वास्तविकता का धरातल देने का चिन्तन आया। यद्यपि इसमें कोई नया तत्त्व नहीं था, किन्तु परिस्थितियों का सही अंकन था। उसे वर्तमान रोग के निदान और समाधान के रूप में किया गया, इसलिए जनता ने उसे शांति का आश्वासन माना। स्वतन्त्रता के समय जन मानस अहिंसा की शक्ति से परिचित हो गया था। महात्मा गांधी के ग्यारह व्रतों से भी असंख्य लोग परिचित हो गये थे। व्रत और नैतिकता भारतीय मानस के लिए कोई नई बात नहीं थी। फिर भी धर्म और नैतिकता के विभाजन के कारण व्रत का अवमूल्यन हो रहा था। हिन्दुस्तान में इन शताब्दियों में नैतिक विकास की गति मन्द थी और स्वतन्त्र भारत में इसके मन्दतर होने की संभावना थी। इन संभावना को ध्यान में रखकर चरित्र–विकास या नैतिक विकास की एक आचार–संहिता प्रस्तुत की गई। इसका राष्ट्रीय स्तर पर स्वागत हुआ और समर्थन भी मिला। अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से पूरे देश में नैतिक विकास की गूंज हुई और सबने इसको एक राष्ट्रीय चरित्र के उपक्रम में स्वीकार किया।

अणुव्रतों का विधान आज से करीब ढाई हजार वर्ष भगवान महावीर ने किया था। अणुव्रतों का विधान मुख्यत: श्रावकों (गृहस्थ व्यक्तियों) के लिये था। अणुव्रत चर्या तत्कालीन समाज–व्यवस्था में व्याप्त विकारों को दूर करने में सक्षम थी। युग परिवर्तन के साथ–साथ मूल्य भी बदलते गये। समस्याओं ने भी नवीन रूप धारण कर लिया। उनके निराकरण करने के लिए प्राचीन अणुव्रतों का विश्लेषण करना आवश्यक था। इस हेतु आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत–आन्दोलन का प्रवर्तन किया। उन्होंने अणुव्रतों का विश्लेषण किया और यह महसूस किया कि अनैतिकता की अमावस्या में वृहत्त स्तर पर प्राचीन अणुव्रतों का पालन करना संभव नहीं है। अत: उन्होंने सरल से सरल व्रतों को अपने आन्दोलन का आधार बनाया और अनैतिक व्यक्ति की नैतिकता को जागृत करने के लिए उन्हें नैतिकता का अभ्यास कराना आरम्भ किया। उन्होंने अणुव्रतों को युगीन परिस्थितियों तथा समस्याओं के समाधान हेतु नवीन रूप से जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। इन अणुव्रतों को अणुव्रत आन्दोलन का नाम दिया।

समस्याओं के समाधान के लिए आचार्य श्री तुलसी ने विश्लेषण के आधार पर अनेकान्तिक दृष्टिकोण का सहारा लिया। अणुव्रतों को वर्गों में विभक्त करके विद्यार्थी, अध्यापक, सरकारी कर्मचारी, अधिकारी, राजनेता, मतदाता, प्रत्याशी, व्यापारी और महिला वर्ग के लिए उपयोगी बनाया है। यह आन्दोलन युगीन परिस्थितियों तथा समस्याओं के निराकरण में अपने कार्यक्रमों के द्वारा एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। अणुव्रत आन्दोलन वातावरण को नैतिक बनाने, व्यक्ति की नैतिक चेतना को जागृत करके व्यक्ति सुधार से परिवार तथा राष्ट्र सुधार तथा अंतत: मानवतावाद की पुर्नस्थापना का लक्ष्य लिए अपने स्थापना से अब तक निर्बाध रूप से प्रगति कर रहा है।

2.3 अणुव्रत आन्दोलन विचार

मनुष्य जीवन का साध्य है– उदय या विकास। मनुष्य सोच सकता है, इसलिये वह चाहता है– उदय हो। उदय की स्थिति एक नहीं, भाषा एक नहीं। स्वार्थी अपना उदय चाहता है। कोई परिवार का, कोई समाज का, कोई राष्ट्र का और कोई सबका उदय चाहता है। लौकिक विचार है– मनुष्य को जो चाहिए, वह मिल जाए– यह उदय तो मोक्ष–दृष्टि के अनुसार या अन्तरंग की शुद्धि नहीं है। जो अंतरंग की शुद्धि नहीं, वह उदय नहीं। ये दो प्रकार की दृष्टियाँ है, जिनके आचार पृथक्–पृथक् है। यह बौद्धिक विश्लेषण है जो वस्तु–स्थिति को स्पष्ट करते हैं।

प्रवृत्ति जीवन की विवशता का पक्ष है और निवृत्ति शुद्धि का, प्रवृत्ति में शुद्धि की जितनी मात्रा होती है, वह निवृत्ति प्रदत्त होती है। हिंसा के साथ अहिंसा की मात्रा न रहे तो वह एक क्षण में विश्व को भस्म कर डाले। निवृत्ति के विकास का अर्थ यह है कि अहिंसा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की मात्रा बढ़े। प्रवृत्ति का कर्म क्षेत्र सामाजिक जीवन है या यूं कहना चाहिए समाज के लौकिक जीवन का जो पहलू है, वह प्रवृत्ति का कर्म क्षेत्र है। हिंसा, अहिंसा के लिए समाज को कोई पृथक्-पृथक निर्वाचित क्षेत्र नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति हिंसा और अहिंसा की आधार-शिला है। किन्तु दोनों का स्वरूप एक नहीं है, सूक्ष्म दृष्टि में आधार भी एक नहीं है। किन्तु एक स्थूल दृष्टि में दोनों वृत्तियाँ एक ही व्यक्ति में बनती है, इसलिये एक ही व्यक्ति को दोनों का आधार माना जाता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है- जीवन का लौकिक पहलू कैसे रहे- यह लौकिक पक्ष शिक्षा-क्षेत्र के सूत्रधार व्यक्तियों का है। समाज का लोकोत्तर या आत्मिक पक्ष कैसा हो? यह दायित्व संयमी साधकों का है।

मनुष्य अपूर्ण है। अपूर्ण इस अर्थ में है कि वह अपेक्षाओं में घिटा हुआ है। उसके शरीर है, अत: उसे खाने-पीने की अपेक्षा है। उसके वाणी है, इसलिये उसे समाज की अपेक्षा है। उसके मन है, इसलिये उसे मान-सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा की अपेक्षा है। ये सारी अपेक्षाएं बाह्य जगत् में पूर्ण होती है। यह आदान उसकी व्यक्तिगत सीमा तोड़ उसे सामाजिक बनाती है। पूर्णता की ओर बढ़ने का मार्ग है अपेक्षाओं का संयम। अपेक्षाओं का संयम का अर्थ है हिंसा, असत्य, चौर्य अब्रह्मचर्य और परिग्रह का संयम। संयम का अर्थ है- उस व्यक्तित्व का विकास, जो हिंसा से निरपेक्ष होकर अपने-आपमें परिपूर्ण, संतुष्ट ओर परितृप्त है। संयम का अर्थ है- उस व्यक्तित्व का विनाश, जो बाह्य से अधिक सम्बद्ध होकर अपने-आप में अपूर्ण, असंतुष्ट और अतृप्त रहता है।

निरपेक्षता की स्थिति ध्यान की उत्कृष्ट साधना के द्वारा प्राप्त हो सकती है। अति-सापेक्षता की स्थिति ध्यान की साधना से शून्य व्यक्ति में होती है। सापेक्षता ध्यान की मध्यम साधना से प्राप्त हो सकती है। उसमें अपेक्षाएं रहती है, पर निरंकुश नहीं। उनकी पूर्ति का प्रयत्न किया जाता है, पर येन-केन, प्रकारेण नहीं। इस संस्कार-धारा में हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह की प्रवृत्ति सीमित हो जाती है। यही अणुव्रत है। परिभाषा की शब्दावली में ध्यान की मध्यम साधना के द्वारा अपेक्षाओं का परिसीमन और फलत: हिंसा आदि का परिसीमन ही अणुव्रत है।

किसी भी जीवन-पद्धति में व्यक्ति का ''स्व'' खण्डित नहीं है- अत: मैं के संगत का विसर्जन नहीं है। यह अंह का संगत ही सब दोषों का उत्पत्ति-बीज है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह ये सब केवल ''मैं'' के लिये। जितनी भी पदार्थवादी पद्धत्तियाँ हैं, वे ''स्व'' का निरसन करने में असमर्थ है। उनका आधार भौतिकता हैं। भौतिकवादी व्यवस्था ''स्व'' का शोधन नहीं करती, नियमन करती है। फलत: वह प्रत्यक्ष में शान्त और परोक्ष में उद्वेलत करता है। इसलिये व्यक्ति छिपे-छिपे अनैतिक आचरण करता है। आध्यात्मिकता ही एक ऐसा सत्य है, जिसमें ''स्व'' का शोधन होता है। आध्यात्मिकता का अर्थ है अन्तर जगत् में प्रवेश, वहां पहुंचने पर व्यक्ति सामाजिक होते हुए भी अकेला रहता है। बाह्य-जगत् का वह उपयोग करता है, किन्तु उसके प्रति उसका ''स्व'' या ''ममत्व'' नहीं होता। यह ममत्व का विसर्जन ही आध्यात्मिक है। अणुव्रत-आन्दोलन की आधार भित्ति यही है।

आर्थिक-विकास और व्यवस्था होने पर भी आज का सम्पन्न मनुष्य उतना ही अर्थ-लोलुप है, जितना पहले था। वैज्ञानिक विकास अपने चरम शिखर पर है, फिर भी आज का विज्ञान-जीवी मनुष्य उतना ही आक्रमक है, जितना पहले था। शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा होने पर भी आज का शिक्षित मनुष्य उतना ही स्वार्थी है, जितना पहले था। आर्थिक, वैज्ञानिक और शैक्षणिक विकास ने मनुष्य के व्यवहार को बदला है, पर उसी को बदलता है, जो उनसे संबंधित है। मनुष्य में अनेक प्रवृत्तियां है, जिनमें ये नहीं बदल सकते। क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, भय, शोक, घृणा, काम-वासना, कलह-ये मनुष्य की शाश्वत मूल प्रवृत्तियाँ हैं। आर्थिक अभाव तथा अज्ञान के कारण जो सामाजिक दोष उत्पन्न होते हैं, वे आर्थिक और शैक्षणिक विकास से मिट जाते हैं, किन्तु मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले दोष उनसे नहीं मिटते। मूल प्रवृत्तियों का नियंत्रण या शोधन आध्यात्मिकता से ही हो सकता है, इसलिये समाज में उसका अस्तित्व अनिवार्य है। आध्यात्मिकता से भले ही समाज का रूप-परिवर्तन न हुआ हो, किन्तु उससे सत्य के प्रति आस्था की सृष्टि हुई है। चरित्र और नैतिकता के प्रति जो आस्था है, वह आध्यात्मिकता का ही प्रतिफलन है। आध्यात्मिकता का अंकन संख्या से न होकर गुणों से किया जाना चाहिए। आध्यात्मिक व्यवहार की स्वीकृति के मुख्य अंग है :-

1. मानवीय एकता में विश्वास।
2. मानवीय स्वतन्त्रता में विश्वास।
3. विश्व-शान्ति एवं विश्व-मैत्री में विश्वास।
4. सह-अस्तित्व में विश्वास।
5. सत्य में विश्वास।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6. प्रामाणिकता में विश्वास।

7. निश्छल व्यवहार में विश्वास।

8. पवित्रता में विश्वास।

9. संग्रह की सीमा में विश्वास।

ये विश्वास धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में आस्था को प्रकट करते हैं। प्रथम चार विश्वास अहिंसा अणुव्रत के फलित हैं। पांचवां सत्य, छठा-सातवाँ-अचौर्य, आठवां-ब्रह्मचर्य ओर नवाँ-अपरिग्रह का फलित है। व्यवहार में अध्यात्म का प्रतिपालन जीवन की महान् सफलता है। उससे व्यक्ति और समाज दोनों लाभान्वित होते हैं।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में ज्ञान को बहुत उच्च स्थान मिला है और इस पर विश्वास किया जाता है। पर साधना-शून्य ज्ञान की सफलता में विश्वास किया जा सकता। अणुव्रत-आन्दोलन ज्ञान का आन्दोलन नहीं है, यह साधना का आन्दोलन है। इसमें ज्ञान की अपेक्षा नहीं है, ऐसा नहीं है, किन्तु इसमें साधना की प्रधानता है। ऐसे अनेक लोग हैं, जो बुराई को जानते हैं, पर छोड़ नहीं पाते। उससे फलित होता है कि बुराई कोरे ज्ञान या केवल बौद्धिकता से नहीं छूटती। उसे छोड़ने के लिए कुछ और अपेक्षित है। वह है साधना। साधना अर्थात् ज्ञान को अभ्यास की आंच में पकाना ओर उतना पकाना, जिससे जानने और करने के बीच की दूरी मिट जाये। आत्म-चिन्तन, ध्यान ओर मैत्री का अभ्यास ही अणुव्रत की साधना है। इससे गृहीत व्रत सिद्ध होते हैं। सुख ओर शांति के प्रति काल्पनिक मान्यता वास्तविकता में बदल जाती है।

2.4 अणुव्रत आन्दोलन का मूल आधार

1. मानवीय एकता

2. सह-अस्तित्व

3. समानता

अणुव्रत एक मानवीय आचार-संहिता है। कोई भी व्यक्ति जो मानवीय मूल्यों में आस्था रखता है, वह अणुव्रती हो सकता है। वर्तमान युग में कोई भी व्यक्ति अच्छा नागरिक बनना चाहे, वह आगम गीता और बाइबिल पढ़े या नहीं, अणुव्रत आचार-संहिता को हृदयंगम करने पर वह अच्छा नागरिक अवश्यमेव बन सकता है। अणुव्रती बनाते मानव-विभेदक तत्वों यथा जाति, धर्म, लिंग, सम्प्रदाय, वर्ग, भाषा, प्रान्त, राष्ट्र इत्यादि को गौण मानकर व्यक्ति को सदाचार की ओर प्रवृत्त करता है। इसका मानवता में विश्वास है। यह एक ऐसा धर्म है, जो सब प्रकार की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर मानव को मानवता का पाठ पढ़ाता है। अणुव्रत का घोष है कि मनुष्य सबसे पहले मनुष्य बने। अणुव्रत मानव धर्म का घोषणा-पत्र है। अणुव्रत के व्रत जितने छोटे हैं, उनकी क्षमता उतनी ही व्यापक है और समूची मानव जाति इससे लाभान्वित हो सकती है। मानवता सब धर्मों का सार है। अणुव्रत मानवता की दिशा में उठने वाला एक सशक्त कदम है। व्यक्ति के चारित्रिक उत्थान के लिए अणुव्रत आन्दोलन नैतिक मंच प्रदान करता है। जैसे बाती से बाती जलती है, नैतिक आन्दोलन वैसे ही व्यक्ति से व्यक्ति में सुधार लाती है। मनुष्य का मूल अधिष्ठान चरित्र है, जिस पर ही समाज-निर्माण या समाज क्रान्ति खड़ी होगी।

अणुव्रत आन्दोलन मानव-जाति के लिए सुरक्षा कवच है। विश्व-भर में व्याप्त अनैतिक शक्तियों से लोहा लेने को समुत्सुक मानव इस कवच से मुक्त होकर ही सुरक्षित रह सकता है। अन्यथा मानवीय गुणों का लोप करने वाले दुष्चक्र को रोकना सम्भव प्रतीत नहीं होता। नैतिक मूल्यों के विघटन से समुत्पन्न किसी भयावह परिस्थिति में अणुव्रत ही एक मात्र आलम्बन है, जो मानवता को त्राण दे सकता है, यह जाति, भाषा और वर्ण भेद की सारी संकीर्णताओं से मुक्त रहकर सम्पूर्ण मानव-जाति को क्रान्ति का आह्वान करता है। इस स्थिति में मानव-मात्र का कर्त्तव्य है कि वह अणुव्रत के व्यापक दृष्टिकोण से लाभान्वित हो।

यह आन्दोलन देश में नैतिक मर्यादाओं की प्रतिष्ठा के लिए अपनी सूची-बौद्धिक प्रक्रिया का प्रयोग करने वाला आन्दोलन है। यह व्यक्ति को 'शुभ''अशुभ''उचित''अनुचित'''चाहिए'' ओर ''है'' में से ''उचित'', ''शुभ'' और ''चाहिए'' को चुनने की बात करता है। इसको अपना कर व्यक्ति वैचारिक विश्वव्यापकता की ओर प्रवृत्त हो जाता है। यह आन्दोलन खाओ-पीओ ओर मौज करो की संस्कृति में संयम् ओर विवेक को आधार स्तम्भ के रूप में स्थापित करता है। यह परदोश दृष्टि से स्वदोष दृष्टि की ओर व्यक्ति को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आकर्षित करता है। यह व्यक्ति को अधिकारों की मांग से कर्त्तव्य-निष्ठा के पथ पर अग्रसर करता है। यह व्यक्ति को नैतिकता का संदेश उसकी परिस्थिति के अनुसार ही देता है।

अणुव्रत आन्दोलन व्यक्ति और समाज के मध्य सापेक्ष संबंध मानकर पूंजीवादी और साम्यवादी दुष्प्रवृत्तियों से बच जाता है तथा इसके साथ ही व्यक्ति व समाज दोनों को विकास का पूर्ण अवसर देता है। व्यक्ति का चहुंमुखी विकास चारित्रिक धरातल पर करके नैतिकता के आधार पर परिवार और समाज सुधार की ओर प्रवृत्त होकर यह आन्दोलन शोषण-मुक्त समाज-व्यवस्था के निर्माण की ओर प्रवृत्त होता है। चारित्रिक रूप से विकसित व्यक्ति में वैयक्तिक विकास नहीं होते। वह सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों का समर्थन नहीं करता बल्कि उसके निराकरण में अपना योगदान देता है। यह मानव समाज के लिए संयम और त्याग की संस्कृति को आसान करता है। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन का संयम दर्शन है। यह जीवन को संयत करने की साधना है। जीवन-निर्वाह की दिशा बहु हिंसा से अल्पहिंसा, बहु परिग्रह से अल्प परिग्रह, अति आसक्ति से अल्प आसक्ति की ओर चलती है, वह संयम-प्राप्ति की सुलभता का हेतु है। जीवन प्रक्रिया को सरल बनाये बिना संयम आता नहीं। नैतिक मूल्यों में संयम का स्थान महत्त्वपूर्ण है। अणुव्रत आन्दोलन का घोष है- ''संयम खलु जीवनम्''। संयम ही जीवन है। दूसरे के जीवन में बाधा न डालना संयम है। आत्म हत्या और पर-हत्या असंयम है। आज समाज को संयम की आवश्यकता है। असंयम ही हिंसा की जड़ है। संयमहीन संस्कृति भीतर से शून्य ओर बाहर से आकर्षक होती है। ऐसे संस्कृति और सभ्यता कभी पनप नहीं सकती। यह आन्दोलन व्यक्ति में आत्म-संयम का विकास करके मैत्री, शान्ति, एकता व नैतिक मूल्यों की स्थापना करता है तथा पाशविक वृत्तियों का उपशम करता है। यह भ्रष्टाचार, अनैतिकता और अनाचार को दूर करने वाला दिव्य प्रकाश है।

अणुव्रत आन्दोलन ने राजनीति को मूल्य परक बनाने में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इसने राजनीति में व्याप्त अनैतिकता रूपी कचरे को बाहर निकाल कर वहां पर नैतिकता के बीजों का आरोपण किया है। सुव्यवस्थित राजनीति की स्थापना हेतु उसने उम्मीदवारों, मतदाताओं, राजनेताओं, चुनाव अधिकारियों इत्यादि के लिए आचार-संहिता का विधान किया है। इनको अपनाकर राजनीति में व्याप्त हिंसा, प्रलोभन, गुंडागर्दी, दुष्प्रचार, सत्ता के दुरूपयोग इत्यादि से बचा जा सकता है। राजनीति को इसके अपराधिकरण होने से बचाया जा सकता है। लोकतान्त्रिक समाजवादी व्यवस्था का समर्थन करते हुए यह आन्दोलन लोकतन्त्र के अर्थ को भी संशोधित करता है। लिंकन की परिभाषा ''जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा शासन'' के स्थान पर इसका लोकतन्त्र से आशय यह है- ''अपना शासन, अपने लिये, अपने द्वारा।'' स्वशासन मानने पर व्यक्ति सदैव देश-हित के लिए कार्यरत रहेगा। वह स्व-हित के लिये देश-हित की बलि नहीं देगा। इसी प्रकार यह आन्दोलन सत्ता के विकेन्द्रीकरण का प्रयास करता है। सत्ता का परिग्रह: दुष्प्रवृत्तियों, दमन, शोषण, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद और अपराधिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता है, जबकि सत्ता का अपरिग्रह इन समस्याओं का निराकरण करता है। सत्ता का विकेन्द्रीकरण होने से प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र विकास में भी अपना सहयोग प्रदान कर सकता है। समाजवादी व्यवस्था होने से व्यक्ति का शोषण नहीं होगा। मानव-विभेदक तत्त्व प्रभावी नहीं होंगे। मानव धर्म व्यक्ति में मानवीय समानता का दृष्टिकोण उत्पन्न करेगा, जो उसको अहिंसा, शान्ति, सह-अस्तित्व के मार्ग पर अग्रसर करेगा।

2.5 आन्दोलन : स्वरूप

भगवान् महावीर प्रवर्त्तित अणुव्रतचर्या को तेरापंथ जैन श्वेताम्बर आचार्य तुलसी ने सन् 1949 में अणुव्रत आन्दोलन के रूप में पुनर्जीवित किया। उन्होंने अणुव्रती संघ का निर्माण किया। अणुव्रत चर्या को युगीन आवश्यकताओं के सन्दर्भ में नवीन रूप में प्रस्तुत किया। जाति, धर्म, भाषा, सम्प्रदाय, क्षेत्र, वर्ग भेद के आधार पर खण्डित मानवता को पुन: अखिल रूप से सामने लाने के लिए भेद-भाव रहित मानवीय सदाचार पर बल प्रदान करने को प्रमुख उद्देश्य बनाया। विश्व-शान्ति और अहिंसा को भी लक्ष्य में सम्मिलित किया। प्राचीन अणुव्रत चर्या में यद्यपि इन दो उद्देश्यों की प्रतिध्वनि अप्रत्यक्ष रूप से स्वत: निकलती है, फिर भी इन्हें उद्देश्य रूप में कभी भी प्रस्तुत नहीं किया गया था।

आधुनिक अनैतिकता के वातावरण में प्राचीन अणुव्रतों का पालन कर पाना एक सदाचारी व्यक्ति के लिए कठिन है तो अनैतिक व्यक्ति के लिए तो असम्भव-सी बात है। पंच अणुव्रतों का मन-वचन-काय योग से कृत (करना), (कारित), (प्रेरित करना) और अनुमोदन (समर्थन करना) द्वारा पालन करना आधुनिक युग में असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अनैतिक व्यक्ति अणुव्रतों की इतनी सूक्ष्य व्याख्या देकर तो नैतिक बनने की सम्भावना को ही समाप्त समझते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी ने अणुव्रतों का विश्लेषण किया तथा उनको सरलतम रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्होंने व्रतों से मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदन शब्द हटा दिये तथा आवश्यकतानुसार इन शब्दों का प्रयोग किया। उन्होंने अनैतिकता में आकंठ डूबे हुए व्यक्ति को भी नैतिक बनाने का संकल्प लिया। इसके लिये उन्होंने अणुव्रतों, की तीन श्रेणियाँ बनायी, प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह नियमों का विधान किया गया। उन्हें इन निमयों में से कुछ नियमों के पालन न करने की छूट थी, ताकि वे नैतिकता से नैतिकता की पगडन्डी पर अग्रसर हो सके। अणुव्रत अनुशास्ता का नैतिकता के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग था जो अत्यधिक सफल रहा। समालोचक इस प्रकार की खण्डित नैतिकता की आलोचना करते हैं, परन्तु अणुव्रत अनुशास्ता का मानना था कि नैतिकता के बिन्दु को पकड़ कर ही सिन्धु तक पहुंचा जा सकता है। अणुव्रती को समस्त अणुव्रतों का पालन करना पड़ता था और विशिष्ट अणुव्रती को समस्त अणुव्रतों के अतिरिक्त कुछ विशेष नियमों का भी पालन करना पड़ता था। अणुव्रतों की श्रेणी का विभाजन व्यक्ति के नैतिक स्तर की अभिव्यक्ति करता है।

भगवान् महावीर के समय अणुव्रतों की इस प्रकार की श्रेणियाँ नहीं थी। अणुव्रती की दो श्रेणी थी :- मध्यम और श्रेष्ठ अणुव्रती। श्रेष्ठ अणुव्रती नव कोटी में अणुव्रतों का पालन करता था, जबकि मध्यम अणुव्रती छः कोटी से। नव कोटी से आशय मन, वचन, काय योग से कृत, कारित ओर अनुमोदना द्वारा अणुव्रतों का पालन करना, जबकि छः कोटी से आशय-मन, वचन, काय योग से कृत और कारित द्वारा अणुव्रतों का पालन करना। अणुव्रत चर्या में प्रत्येक अणुव्रत के लिए पंच अतिचारों ओर पंच समितियों का वर्णन है। पंच अतिचारों का त्याग करने ओर समितियों को अपनाने से ही व्रतों का एकदेश पालन सम्भव है। अणुव्रत आन्दोलन में इस प्रकार से स्पष्टतः अतिचारों और समितियों का वर्णन नहीं है। अणुव्रत चर्या में अलग रूप से वर्गीय अणुव्रतों का विधान नहीं था, जबकि अणुव्रत अनुशास्ता के अणुव्रत आन्दोलन में वर्गीय अणुव्रतों का भी विधान किया है। व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र के आधार पर उनको अनेक वर्गों में बांटा जा सकता है। जैसे विद्यार्थी वर्ग, शिक्षक वर्ग, अभिभावक वर्ग, कृषक वर्ग, कर्मचारी वर्ग, अधिकारी वर्ग, महिला वर्ग, व्यापारी वर्ग, डॉक्टर वर्ग, राजनेता वर्ग, उम्मीदवार, मतदाता वर्ग, चुनाव अधिकारी वर्ग इत्यादि। व्यक्ति अपनी कर्मस्थली में भी नैतिकता बनाये रख सके इसके लिए वर्गीय अणुव्रतों का विधान किया गया। अणुव्रती की श्रेणियां ओर वर्गीय अणुव्रत से आन्दोलन के अनेकान्तिक स्वरूप की पूर्णतः झलक मिलती है। उन्होंने प्रवेशक अणुव्रती के लिये जिन नियमों का विधान किया, उसमें मांस-भक्षण निषेध नामक नियम हटा दिया, ताकि मांसाहारी व्यक्ति भी दूसरे क्षेत्रों में नैतिक बन सके। एक बार नैतिक बन जाने पर उनके लिए मांस न खाना भी आसान हो जायेगा। अणुव्रत अनुशास्ता ने अणुव्रत आन्दोलन को सामाजिक परिवर्तन के चक्र रूप में प्रस्तुत किया। वैयक्तिक और सामाजिक और सामाजिक कुरीतियों, विकारों तथा दुष्टप्रवृत्तियों को जड़मूल से समाप्त करने के लिए आन्दोलन ने अनवरत प्रयत्न किये। उस समय समाज में दहेज प्रथा, बाल विवाह, वृद्ध विवाह, कन्या वध, गर्भपात, भ्रूण हत्या, बलि प्रथा, वेश्यावृत्ति, परस्त्री गमन, पर्दा प्रथा, नारी शोषण, मृत्यु भोज इत्यादि विकार उपलब्ध थे। इन विकारों को दूर करने के लिए अणुव्रत अनुशास्ता ने छोटे-छोटे व्रतों से नैतिक अभियान की शुरूआत की। इन विकारों से प्रतिरोध करने हेतु व्यक्ति की नैतिक संकल्प-शक्ति को जागृत किया।

अणुव्रत आन्दोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। यह व्यक्ति सुधार का कार्यक्रम है। यह नैतिक आचार संहिता है, यह नैतिक व्यवस्था का कार्य है। अणुव्रत आन्दोलन तो व्यक्ति और समाज सुधारक के रूप में कार्य कर रहा है। इसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की आत्म इच्छाओं को सीमित या नियमित करना ही है। आन्दोलन ने अहिंसा के प्राण-तत्व हृदय परिवर्तन द्वारा जनता के चारित्रिक उत्थान का कार्य किया है। उसने भ्रष्टाचार, मिलावट, झूठा तोल-माप, दहेज ओर रिश्वत इत्यादि के विरूद्ध अनेक अभियान चलाये। अणुव्रत आन्दोलन का प्रवाह आध्यात्मिक है। यह व्यक्ति को परिस्थिति का स्रष्टा मानता है ओर विजेता भी। व्यक्ति अच्छाई ओर बुराई का संगम स्थल है। परिस्थितियाँ उसकी भलाई और बुराई का निमित्त बनती है। अणुव्रत आन्दोलन व्यक्ति के आध्यात्मिक चारित्रिक और नैतिक गति का प्रेरक है। अणुव्रती अहिंसा निष्ठ होता है। अहिंसा निष्ठ कष्ट सहिष्णु होता है। वह परिस्थिति के सामने झुकता नहीं, बल्कि उनको सहन कर उनका विजेता बनता है। अणुव्रत-आन्दोलन की अपेक्षा है कि मनुष्य को उसकी शक्ति का भान हो।

2.5.1 अहिंसा स्वरूप

अणुव्रत आन्दोलन अहिंसा की भूमिका पर पनपने वाला एक अनुष्ठान है। आन्दोलन की आत्मा व्रत है। व्रत के मौलिक विभाग पांच है शेष सब उनकी व्याख्याएं हैं। पांचों में भी मूलभूत व्रत अहिंसा है। सत्य आदि उसी के पहलू है। यह आन्दोलन अहिंसक अवधारणा के आधार पर वृत्ति के परिशोधन को प्रधान मानकर चलता है तथा हिंसा को उत्तेजना देने वाली प्रवृत्ति छूटे, ऐसे धरातलों का निर्माण करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आन्दोलन के कुछ विषयों का सम्बन्ध सामाजिक क्षेत्र से हैं जिसने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के साथ-साथ समाज में व्याप्त हिंसा को दूर करके अहिंसा की स्थापना का कार्य भी सफलता पूर्वक ढंग से सम्पन्न किया है, और अभी भी कर रहा है। मानव विभेदक तत्व सामाजिक हिंसा की जननी है। अणुव्रत आन्दोलन ने इसके निवारण हेतु दो प्रकार से कार्य किया। प्रथम, मानव विभेदक तत्त्वों के अस्तित्व के साथ कोई छेड़खानी न की जाए। ऐसा दृष्टिकोण अपनाकर उसने स्थिति को विस्फोटक होने से बचा लिया। जाति, धर्म, वर्ण, सम्प्रदाय, भाषा, प्रान्त इत्यादि में अटूट आस्था रखने वाले यह कभी नहीं चाहेंगे कि इन तत्वों का अस्तित्व ही मिटा दिया जाए। सामाजिक हिंसा से मुक्ति हेतु इसने उपाय काम में लिया- इन समाज विभेदक तत्त्वों के मध्य मानव धर्म का विकास करना।

मानव-धर्म का विकास होने से व्यक्ति और समाज जातिय दंगों से बच जायेगा। साम्प्रदायिक उन्माद में मानवीय अस्तित्व की रक्षा हो सकेगी। धर्म के नाम धार्मिक कट्टरतावाद का उदय नहीं होगा। भारत और विश्व धार्मिक कट्टरतावाद के दुष्परिणाम भोग चुका है। धार्मिक कट्टरता के नाम पर भीषण नर-संहार किये गये हैं। मानव धर्म के विकसित होने से भाषायी झगड़ों, रंगभेद, प्रातंत्रीयता की भावना के दुष्परिणामों से भी राष्ट्र अपने-आपको बचाने में समर्थ हो जायेगा। अस्पृश्यता की समस्या भारत में अत्यन्त गंभीर है। संरचनात्मक हिंसा के लिए इसने महत्त्वपूर्ण उद्दीपक के रूप में काम किया है। इस कुरीति को दूर करने के लिए समय-समय पर महापुरूषों द्वारा अहिंसक प्रयोग किये गये। अणुव्रत आन्दोलन भी उन्हीं अहिंसक प्रयोगों की श्रृंखला की एक कड़ी है तथा मानवीय समानता को महत्त्वपूर्ण मानकर इस समस्या का भी समाज में निराकरण कर देता है।

अणुव्रत आन्दोलन का तत्वमीमांसा आधार अनेकान्तवाद है अनेकान्तवाद, दृष्टिकोण की विविधता और परिवर्तनशीलता। सत्य मानता है। यह सिद्धान्त वैचारिक क्षेत्र में अनाग्रहवाद, उदारतावाद का समर्थक है। अनेकान्तिक दृष्टिकोण वैचारिक सहिष्णुता का जनक है। वैचारिक सहिष्णुता प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपेक्षा भाव से सामंजस्य स्थापित कर लेती है। इसकी परिणति बौद्धिक अहिंसा में होती है। बौद्धिक अहिंसा हिंसात्मक गतिविधियों की सम्भावना को समाप्त करती है। बौद्धिक अहिंसा ही अणुव्रत आन्दोलन का आधार है। अहिंसा अणुव्रत का विकास भी शेष अणुव्रतों में स्वत: होता जाता है। अनेकान्तिक दृष्टिकोण अपनाने से मानव विभेदक तत्व यथा जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण, भाषा, प्रान्त इत्यादि गौण हो जाते हैं, व्यक्ति मानव धर्म, शान्ति और अहिंसा की बात करने लगता है।

2.5.2 असाम्प्रदायिक स्वरूप

अणुव्रत आन्दोलन का दृष्टिकोण आरम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा यह जनता को जैन धर्म या तेरापंथ में दीक्षित करने का उपक्रम नहीं था। इसका विशुद्ध उद्देश्य रहा- चरित्र-विकास। यद्यपि आचार्य तुलसी की दृष्टि में चरित्र विकास और जैनत्व भिन्न नहीं थे, फिर भी यह तथ्य है कि अणुव्रत आन्दोलन का बाहरी रूप असाम्प्रदायिक और आतंरिक रूप साम्प्रदायिक कभी नहीं रहा। प्रारम्भ में आन्दोलन को सम्प्रदाय की दृष्टि से देखा जाता रहा, जो कि आचार्य तुलसी के जैन परम्परा के अनुयायी होने के कारण स्वाभाविक भी था। इस सम्बन्ध में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद से आचार्य श्री की चर्चा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। डॉ. राजेन्द्र प्रसादजी ने आचार्यश्री से कहा था कि, ''लोगों की दृष्टि अपने आप बदल जायेगी, जैसे-जैसे सम्पर्क बढ़ता जायेगा।''

प्रारम्भ में प्रत्येक प्रवृत्ति को कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अणुव्रत-आन्दोलन भी उसका अपवाद कैसे हो सकता था, किन्तु जिसका मूल प्रकाशमय होता है, उसका भविष्य आवरणमय नहीं हो सकता। एक-दो वर्ष के सतत प्रयास के बाद यह आवरण टूट गया, तथा आन्दोलन जनता का बन गया। जैन, वैष्णव, सनातनी, ये सब हिन्दू समाज के अंग हैं, वे अणुव्रती बने। इससे अणुव्रत का असांप्रदायिक अस्तित्व प्रकट हो गया है। पर इसे अग्रकार्य नहीं कहा जा सकता। आश्चर्य यह है कि मुसलमानों और ईसाईयों को भी अणुव्रत में अपने-अपने धर्मों की झलक मिली। श्री डंकन व फ्रांसीसी वाणिज्य महादूत श्री ए. मासामोद, उपवाणिज्य महादूत श्री जी. एम. पैरिन आदि ने आचार्यश्री से अणुव्रत आन्दोलन के असाम्प्रदायिक मानवी रूप की प्रशंसा करते हुए इसे समाज में व्याप्त विकृत्तियों का परिष्कार करने व विश्व में मानवता की रक्षा करने में सक्षम पाया। डंडियन नेशनल चर्च के अध्यक्ष फादर जे. एस. विलियम्स ने आन्दोलन के अहिंसक व असाम्प्रदायिक स्वरूप के बारे में पश्चिम के लोगों (ब्रिटेन, नार्वे, स्वीडन, फ्रांस तथा रूस) को परिचित कराया। भारत के ईसाईयों से अनुरोध करते हुए उन्होंने कहा था कि ''मैं राष्ट्र के ईसाई भाईयों से यह अनुरोध करूंगा कि हमारे राष्ट्र में चलने वाले नैतिक आन्दोलन में वे अपना सहयोग दें। यह किसी सम्प्रदाय विशेष का आन्दोलन नहीं है। यह तो आत्म-शक्ति को जागृत करने का आन्दोलन है।'' राजगोपालाचारी के इस आग्रह को कि आन्दोलन का स्वरूप असाम्प्रदायिक रहे, आचार्यश्री ने निरन्तर ध्यान में रखा और आज अणुव्रत आन्दोलन मानव मात्र का आन्दोलन स्वीकार किये जाने लगा है।

2.6 अणुव्रत आन्दोलन क्यों

भगवान् महावीर ने प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों भागों के पथिकों के लिए आचार-संहिता निर्धारित कर दी थी जो श्रमण परम्परा, समाज सुधारकों और जैन आगमों द्वारा सुरक्षित रूप से आज भी विद्यमान है, फिर आचार्य श्री तुलसी को अणुव्रत आन्दोलन आरम्भ करने की आवश्यकता क्यों महसूस हुई? इसी प्रकार अन्य धर्म-मर्मज्ञों, दार्शनिकों व विचारकों ने अपनी आचार-संहिता का प्रकाश संसार भर में फैलाया था, तब ऐसी दशा में अणुव्रत आन्दोलन आरम्भ करने की आवश्यकता क्यों महसूस हुई? यह प्रश्न अपने आप में औचित्यपूर्ण है। यह मान्य है कि भगवान महावीर ने अणुव्रत चर्या का प्रवर्तन किया था और यह भी मान्य है कि विचारकों व दार्शनिकों की आचार संहिता ने संसारभर में आचार-शास्त्र के महत्त्व को प्रतिपादित किया, फिर भी वर्तमान परिप्रेक्ष्य में निम्नलिखित कारणों से अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन करना आवश्यक हो गया :

(अ) बदलते हुए परिवेश में सामाजिक व नैतिकता मूल्य बदल रहे हैं। नैतिक पदों की परिभाषा बदल रही है। ऐसी दशा में वर्तमान समाज की मानसिकता को जानकार नीतिशास्त्र को नये ढ़ग से प्रस्तुत करने की आवश्यकता महसूस की गई। ताकि अधिकाधिक लोगों को सहज भाव से अनैतिकता रास्ते से हटाकर नैतिकता के मार्ग पर अग्रसर किया जा सके।

(ब) अणुव्रत-चर्या का विश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुतिकरण करना आवश्यक था ताकि बदलते हुए परिवेश में जो नये तत्त्व, नयी समस्याएं आदि वर्तमान समाज में समाहित हो चुकी है, उनको भी नैतिकता की सीमा में लाया जा सके।

(स) भारत ने जब स्वतन्त्रता प्राप्त की, तब तक भारतवासियों के नैतिक चरित्र में काफी गिरावट आ चुकी थी। ऐसी दशा में यह महसूस किया गया कि यदि गिरते हुए नैतिक चरित्र पतन को नहीं रोका गया तो भारत पुन: गुलामी की जंजीरों में बंध जायेगा। अत: प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा करने हेतु भी अणुव्रत आन्दोलन की आवश्यकता महसूस की गई।

(द) आजाद देश में निषेधात्मक हिंसक प्रवृत्तियाँ अत्यधिक प्रभावशाली थीं। इन प्रवृत्तियों का प्रभाव नगण्य करने के लिए भी आवश्यक था कि अणुव्रत आन्दोलन का शुभारम्भ किया जाये। यह एक सकारात्मक विचारधारा है, जो देश, समाज व व्यक्ति का मूल्यपरक ढ़ंग से विकास करती है। इसमें अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं है।

इन सब स्थितियों का अध्ययन कर आचार्यश्री ने 2 मार्च, 1949 में अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत का लक्ष्य है- जाति, वर्ण, रंग, लिंग, भाषा, प्रान्त आदि भेद-भावों से ऊपर उठकर मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की ओर प्रेरित करना। अणुयुग की विभीषिकाओं से समस्त लोक-जीवन को एक सुदृढ़ सुरक्षा- कवच की आवश्यकता थी। ऐसा कवच जो इसके शरीर को नहीं, आत्मा को प्राण दे सके। आचार्य श्री ने अणुव्रत के रूप में एक सुरक्षा- कवच जनता के हाथों थमा दिया। जिन-जिन लोगों ने उसका उपयोग किया, वे अनैतिकता के तीखे प्रहारों से बच गये। जो व्यक्ति उसे पहनने का साहस नहीं कर सके, उनकी चेतना क्षत-विक्षत हो गई। जिन लोगों का कोई नैतिक आदर्श नहीं होता। उनके पास अर्थ तो हो सकता है और कुछ नहीं हो सकता। जो व्यक्ति अपने चारित्रिक उत्कर्ष के कारण गलत तरीकों से अर्थ का अर्जन नहीं करते, वे उस अतिरिक्त अर्थ का संग्रह तो नहीं कर पाते, किन्तु और सब कुछ पा लेते है। अणुव्रत आन्दोलन की स्थापना के लिए निम्न कारण माने जा सकते है :-

(अ) जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, देश और भाषा का भेद-भाव न रखते हुए मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की ओर प्रेरित करना।

(आ) मैत्री, एकता, शांति और नैतिक मूल्यों की स्थापना करना।

(इ) शोषण विहीन और स्वतंत्र समाज की स्थापना करना।

जीवन के मूल्यांकन का दृष्टिकोण और उसकी उच्चता का मापदण्ड बदले- इस उद्देश्य से अणुव्रत-आंदोलन चला और वह लक्ष्य की ओर सहज गति से बढ़ रहा है। चरित्र का न्यूनतम विकास सबमें हो, हृदय की श्रद्धा से हो- यह 'अणुव्रत' का साध्य है। आंदोलन के प्रवर्तक की यह मान्यता है कि चारित्रिक उच्चता के बिना मानव समाज की सभ्यता और संस्कृति उच्च नहीं बन सकती।

वैयक्तिक जीवन को पवित्र बनाए रखने की भावना के बिना चरित्र-विकास नहीं हो सकता।

वैयक्तिक चरित्र की उच्चताविहीन सामुदायिकता जो बढ़ रही है, वह गंभीरतम् खतरा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संयमहीन राष्ट्रीयता की भावना भी खतरा है।

रंग-भेद और जाति-भेद के आधार पर जो उच्चता और नीचता की परिकल्पना है, वह भी खतरा है।

अधिकार-विस्तार की भावना त्यागे बिना नि:शस्त्रीकरण की चर्चाएं चल रही हैं, वह भी खतरा है।

विश्व में जब कभी खतरे की घंटी बजती है, वह खतरा नहीं है। वह वास्तविक खतरे का ही परिणाम है। खतरा स्वयं छिपा रहता है। मनुष्य परिणाम से चौंकते हैं उसके कारण से नहीं। मानवीय, जातीय, राष्ट्रीयता या अन्तर्राष्ट्रीय पतन के दो कारण हैं :-

(1) भोग-विलास का अतिरेक।
(2) अति-संग्रह।

प्रत्येक मनुष्य सुख-सुविधा और अधिकार की उच्चता चाहता है। यही चाह उसे दूसरों के प्रति अन्याय और अधिकारहरण की ओर ले जाती है। इस परिस्थिति के सन्दर्भ में अणुव्रत का लक्ष्य इस प्रकार है :

(1) जाति, वर्ण, संप्रदाय, देश और भाषा का भेद-भाव न रखते हुए मनुष्य-मात्र को आत्म-संयम की ओर प्रेरित करना।
(2) मैत्री, एकता, शांति और नैतिक मूल्यों की रचना।

अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा ऐसा वातावरण बनाना जिससे प्रवाहित होकर जनता-

(1) मनुष्य जाति एक है- इस विश्वास की सुदृढ़ भूमिका पर रंग और जाति के भेद से होने वाली असमानता को नष्ट करे।
(2) आक्रामक नीति का परित्याग कर नि:शस्त्रीकरण करे।
(3) आध्यात्मिक भावना के उन्नयन के द्वारा अधिकार-विस्तार की वृत्ति को नियंत्रित करे।
(4) आज का दृष्टिकोण कोरा आर्थिक बनता जा रहा है, उसे बदलने का प्रयत्न करे।
(5) प्रत्येक आवश्यक कार्य को आध्यात्मिकता से संतुलित रखे।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अणुव्रतों का विश्लेषण वैज्ञानिक ढ़ंग से किया गया तथा समाज व राष्ट्र विभेदक तत्त्वों का ध्यान रखकर वर्गीय अणुव्रतों का संकलन अलग से किया गया, ताकि उसे अल्पावस्था में सारे अणुव्रतों को अंगीकार करने की प्रतीज्ञा न लेनी पड़े। इसी प्रकार व्यक्ति को सर्वप्रथम प्रवेशक अणुव्रती बनाया जाता था। इसमें सरलतम व्रतों का वर्णन हैं। वह अभ्यासपूर्वक इन व्रतों का पालन कर लेता है, तब उस अगली अवस्था के क्रमश: कठिनतम व्रतों का पालन के लिए तैयार किया जाता है, ताकि वह सहज स्वाभाविक ढ़ंग से नैतिक व्यवस्थाओं का पालन कर सके। सन् 1949 में आरम्भ किये गये अणुव्रत आन्दोलन के व्रतों में समय-समय पर परिस्थितियों के आधार पर परिवर्तन किये गये, ताकि आन्दोलन को अधिक से अधिक सामयिक व प्रासंगिक बनाया जा सके।

2.7 व्यवस्था-सुधार या वृत्ति-सुधार

इच्छा और आवश्यकता की वृद्धि से विकास होता है- यह धारणा मिथ्या ही नहीं, घातक भी है। वैषम्य का जो विकास हुआ है, वह उसको निरंकुश छोड़ने का ही परिणाम है। सीमित इच्छाएं और सीमित आवश्यकताएं मनुष्य को मूढ़ नही बनातीं। असीमित इच्छाओं और असीमित आवश्यकताओं ने युग को वस्तु-बहुल बनाकर मनुष्य को रक्त का प्यासा बना डाला है और अब वह सारी सामग्री को अकेला ही निगल जाना चाहता है। निरंकुश इच्छाएं ही शोषण करती हैं और युद्ध भी इन्हीं की देन हैं। प्रतिहिंसा से पीड़ित मनुष्य शांति चाहता है पर अशांति का मूल जो इच्छा का अनियंत्रण है, उसे मिटाना नहीं चाहता- यही सबसे बड़ा आश्चर्य है।

शांति का निर्विकल्प मार्ग है- भोग का अल्पीकरण। भोग के अल्पीकरण से परिग्रह का अल्पीकरण होगा और उससे हिंसा और असत्य का। आज की दुनिया में यह मान्य हो चुका है कि अहिंसा को विकसित किए बिना विश्व-शांति कभी नहीं हो सकती। हिंसा की कमी परिग्रह की कमी पर निर्भर है और परिग्रह की कमी भोग की कमी पर। भोग-विरति के बिना जो हिंसा-विरति चाहते हैं, वे बुराई की जड़ को सींचते हुये भी परिणामों से बचना चाहते हैं। जो हिंसा-विरति या अहिंसा का विकास चाहते हैं, उन्हें समझ लेना है कि हिंसा के कारणों को त्यागे बिना हिंसा को त्यागने का परिणाम केवल दम्भ होगा, अहिंसा नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीवन-शुद्धि के लिये अहिंसा के द्वारा जिसको जीवन बदलना है, वह न दूसरों से अनावश्यक श्रम लेता है और न किसी का शोषण करता है। निश्चय में अहिंसा आती है, तब व्यवहार में स्व-निर्भरता अपने-आप आ जाती है। अथवा यों कहना चाहिये कि व्यवहार में स्व-निर्भर रहने वाला ही अहिंसा का विकास कर सकता है। कोई श्रम करे या न करे, इससे अहिंसा का सम्बन्ध नहीं, किन्तु दूसरे से श्रम लेने के लिये परिग्रह व परिग्रह के लिये हिंसा, इस तरह हिंसा को बढ़ावा मिलता है। स्वयं श्रम करने वाले को अधिक परिग्रह की अपेक्षा नहीं होती। अधिक परिग्रह से निरपेक्ष व्यक्ति अधिक हिंसा में नहीं फंसता। इस प्रकार स्व-श्रम निर्भरता से हिंसा को अधिक उत्तेजना नहीं मिलती। निष्कर्ष यह निकाला कि अपना आवश्यक कार्य अपने आप करने से समाज में अभोग, अपरिग्रह और अहिंसा का जैसा जीवित विकास हो सकता है, वैसा विकास दूसरों के श्रम पर निर्भर रहने वाले समाज में नहीं हो सकता।

एक विचारधारा है- अधिक उत्पादन करो। आवश्यकताएं अधिक होती हैं और उत्पादन कम, इस कारण समस्याएं बढ़ती हैं। आवश्यकताएं बढ़े, वैसे ही उत्पादन भी बढ़े तो समस्या पैदा न हो। यह हिंसा को बुलावा है। वस्तएं थोड़ी हों, यह कोई अच्छाई नहीं अधिक हों, यह बुराई नहीं, उन्हें कम करने की जो भावना है, वह अच्छाई है और उन्हें बढ़ाने की जो भावना है वह बुराई है। पहले वस्तुओं को बदलने की इच्छा पैदा होती है। इच्छा ही तो अंत में संस्कार बन जाता है। संस्कार की पूर्ति के लिये फिर स्पर्धा चलती है। उसमें औचित्य-अनौचित्य का कुछ विचार ही नहीं रहता और इस तरह बुराइयों का द्वार खुल जाता है। जब वस्तुओं को कम करने की वृत्ति बनती है, तब व्यक्ति को बुरे साधन अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती। यहीं से अच्छाई का अंकुर प्रस्फुटित होता है। इसे कौन नहीं जानता कि अधिक उत्पादन की स्पर्धा ने हिंसा को प्रत्यक्ष निमन्त्रण दिया है! व्यापारिक स्पर्धा, राज्य-विस्तार का अधिकार-प्रसार की स्पर्धा ने आज के युग को स्पर्धा का युग बना दिया है। स्पर्धा का अंत सीमा में होता है, विस्तार में नहीं। अतृष्टि का अंत त्याग में होता है, आसेवन में नहीं। यदि उत्पादन-वृद्धि के द्वारा समस्याओं को सुलझाने की दिशा खुली रही तो अनुमान नहीं किया जा सकता कि मानव का अंत होने से पहले स्पर्धा का कभी अंत भी हो सकेगा।

आंदोलन के व्रत संयममय है। संयम निषेध-प्रधान होता है। जो नहीं करना चाहिये वह रूकना आवश्यक है। टॉल्सटाय ने अनुभव किया कि ''एक वर्ग दूसरे वर्ग को गुलाम बनाये रखता है, वह दूसरों के दु:ख और पाप का कारण है।'' इस पर से उन्होंने एक सीधा-सादा-सा अनुमान निकाला-''मुझे दूसरों की सहायता करनी हो तो मैं जो दु:ख मिटाना चाहता हूं उससे मुझे पहले वे दु:ख देने बंद कर देने चाहिये।'' उन्होंने बताया-''धनिकों के पास से लेकर गरीबों को देने की जो मेरी योजना थी, उसकी निरर्थकता मैं जान गया। मैंने देखा कि पैसा पैसे के रूप में हितकारी नहीं है, इतना ही नहीं, उल्टा अनिष्टकर है। कारण, गरीब का हित तो उसकी अपनी मजदूरी का फल उसी के पास रहे, इसी में है।'' सुख न लूटना और दु:ख न देना- यह संयम का सूत्र है और शाश्वतिक सत्य है। सुख देना और दु:ख दूर करना- यह उपयोगिता का सूत्र है और सामयिक सूत्र है। अर्थ-प्राचुर्य से समाज का विकास नहीं होता- ऐसा नहीं माना जाता। विकास की दशा भले ही दूसरी हो, प्राचुर्य को आवश्यकता से आगे नहीं ले जाना चाहिये। उपयोगिता से आगे प्राचुर्य जाता है, वह उन्माद लाता है। व्रत-विकास की दिशा में अर्थ-संग्रह की कल्पना नहीं आती। व्रत का अर्थ है- अर्थ पर से अपना स्वामित्व हटे। स्वामित्व हटने की पहली शर्त है- ममत्व हटे। पदार्थ-संग्रह में अपना अनिष्ट न दीखे, तब तक ममत्व-बुद्धि नहीं मिटती। संग्रह में अनिष्ट की भावना अध्यात्म-दृष्टि से मिलती है। उसका आदर्श है- कोई कुछ भी संग्रह न करे। अपने से बाहर की वस्तु को अपनी न माने और न उसे अपने अधिकार में ले।

यह कठोर साधना है। इसके लिये जीवन की वृत्तियों का महान् बलिदान चाहिए। ऐसा न कर सके, उनके लिए फिर मध्यम मार्ग है। उसकी दृष्टि है- जीवन-निर्वाह की। आवश्यकता से अधिक संग्रह न किया जाए। जितना संग्रह उतना बन्धन-यह व्रत-ग्रहण की पूर्व-भूमिका है। संग्रह द्वारा इष्ट-पूर्ति की कल्पना होती है, तब वह साध्य जैसा बन जाता है। आत्म-विश्वास की कमी है, उससे संग्रह को प्रोत्साहन मिल रहा है। आत्म-विश्वास उत्पन्न करने के लिए अर्थ-व्यवस्था की स्थिरता अपेक्षित होती है। प्रत्येक व्यक्ति को कार्य मिल जाए और वह योग्यता के अनुरूप मिले, ऐसी स्थिति में जीवन की निश्चिन्तता आती है। भावी जीवन और भावी पीढ़ियों की चिन्ता कम होती है, संग्रह-वृत्ति शिथिल बन जाती है। ऐसी भूमिका में व्रतों को विकसित होने का सुंदर अवसर मिलता है। पर आज स्थिति दूसरी ही है। जहाँ ऐसी भूमिका है, वहां व्रतों की भावना नहीं है और जहां व्रतों की भावना है, वहां वैसी भूमिका नहीं है।

गरीबी में अभिलाषा बनी रहती है। अमीरी का दोष है- अतृप्ति। संतुष्टि या वृत्ति-सन्तुलन त्याग से उत्पन्न होता है। पहले वस्तु का त्याग और फिर वासना का त्याग। त्याग समतावाद है। अपने हित के लिए सब कुछ त्यागे- यह सिद्धान्त जैसा धनी के लिए है, वैसा ही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गरीब के लिए। गरीबों को त्याग द्वारा दो वस्तुएं साधनी चाहिये-(1) व्यसन-मुक्ति, (2) इच्छा-मुक्ति। धनिकों को उसके द्वारा तीन वस्तुएं पानी चाहिए- (1) व्यसन-मुक्ति, (2) इच्छा-मुक्ति, (3) अशोषण।

समाज का समतावाद सबके लिए समान सुविधा, समान भोग और विकास का समान अवसर मिलने का सिद्धान्त है। सुख-सुविधा और भोग जहां साध्य बनते हैं, वहां संग्रह और शोषण घुस आते हैं। अणुव्रत आध्यात्मिक समतावाद के साधन हैं। इस क्षेत्र में जीवन का साध्य है- पवित्रता और वस्तु-निरपेक्ष आनंद। सुख-सुविधा और भोग जीवन-निर्वाह की प्रक्रिया है। उसमें अधिक आकर्षक और ममकार नहीं होना चाहिए। ''मैं जैसे अनुभूतिशील हूं वैसे दूसरे प्राणी भी अनुभूतिशील है''-इसकी मार्मिकता तभी समझी जाती है जब बाहरी पदार्थों से आकर्षण और ममकार टूटता है। ये व्यक्ति को मूढ़ बनाते हैं। गूढ़ व्यक्ति दूसरों की आनुभविक क्षमता को सही-सही नहीं आंक सकता। आध्यात्मिक दृष्टि-विशुद्ध दर्शन है। वह अपनी समता का स्वीकार है। इसी के आधार पर अणुव्रत-आंदोलन के स्वरूप आदि का निश्चय किया जा सकता है-

(1) अणुव्रत आंदोलन का स्वरूप है-स्वनिष्ठा।
(2) अणुव्रत आंदोलन का ध्येय है- जीवन-शुद्धि।
(3) अणुव्रत आंदोलन का आदर्श है- चरित्र का उत्कर्ष।
(4) चरित्र अपकर्ष के हेतु हैं- बहु-भोग, बहु-परिग्रह और बहु-हिंसा।
(5) चरित्र-उत्कर्ष के हेतु हैं- भोग-अल्पता, परिग्रह-अल्पता और हिंसा-अल्पता।
(6) आदर्श प्राप्ति के साधन हैं- अणुव्रत।

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह- ये पांच दोष हैं। इन में मूल दोष हिंसा है। उसकी वृत्ति विविध संयोगों में विविधमुखी बन जाती है। असत्य और चोरी, ये दोनों देह की अपेक्षाएं नहीं हैं। इसलिए ये वैदेहिक हैं। मुख्यता ये सामाजिक स्थिति-सापेक्ष हैं। सामाजिक जीवन में जैसे यश, सम्मान, स्नेह की प्रवृत्तियां उभरती हैं, वैसे ही विरोध, कलह, निन्दा, चुगली, दोषारोपण और भय की वृत्तियां भी प्रबल बनती हैं। इन वृत्तियों का निमित्त पा हिंसा का बीज असत्य के रूप में फूट पड़ता है। असत्य मन, असत्य वाणी और असत्य चेष्टा मनुष्य में आ जाती है, फिर वह असत् के सत्करण और सत् के असत्करण में लग जाता है। संक्षेप में असत्य के चार कारण बतलाए हैं :

(1) क्रोध, (2) लोभ, (3) भय, (4) हास्य-कुतूहल।

क्रोध के आवेश में आकर व्यक्ति यथार्थता को बदल देता है। यथार्थ का निरूपण इच्छा-पूर्ति में बाधक बनता है तब अन्यथा निरूपण का भाव बनता है। इसी प्रकार अनिष्ट की आशंका और हंसी-मजाक भी असत्य की इमारत है। प्रतिष्ठा-बड़प्पन, पदार्थ का आकर्षण और अतृप्ति- ये चोरी के निमित्त बनते हैं। अकेलेपन में प्रतिष्ठा या बड़प्पन के भाव पैदा ही नहीं होते। यह पर-सापेक्ष वृत्ति है। पदार्थ के प्रति आकर्षक अकेलेपन में भी होता है किन्तु वहां वस्तु का उपभोक्ता दूसरा नहीं होता, इसलिए उसे चुराने की वृत्ति नहीं जागती। जो स्थिति पदार्थ के आकर्षण की है, वही अतृप्ति की है। अतृप्त या असंतुष्ट व्यक्ति का वस्तु-संग्रह आवश्यकता-निर्भर नहीं होता। वह केवल लालसा-निर्भर होता है, इसलिए असंतुष्ट व्यक्ति आवश्यकता के बिना भी दूसरे की वस्तु चुरा लेता है। इस प्रकार असत्य और चोरी, ये दोनों परिस्थिति-सहाचरित अपेक्षाएं हैं। तात्पर्य की भाषा में बुराई का बीज व्यक्ति की अपनी अशुद्धि है। सामाजिक परिस्थिति का निमित्त पाकर वह अनेक रूप बन जाती है। हिंसा ही निमित्त-भेद से असत्य और चोरी का रूप ले लेती है।

वैयक्ति स्थितियां या दैहिक अपेक्षाएं दो कोटि की हैं- देह-प्रधान और मानस-प्रधान। भूख प्यास आदि देह-प्रधान अपेक्षाएं हैं और वासना, अब्रह्मचर्य, सुख-दुःख आदि मानस-प्रधान। अब्रह्मचर्य दैहिक है, फिर भी बाहरी निमित्त से उत्तेजित होता है, इसलिए परिस्थिति-सापेक्ष भी है। परिग्रह कुछ अंशों में दैहिक है, कुछ अंशों में वैदेहिक और बाहरी स्थिति सापेक्ष है। खान-पान भी परिग्रह है, इस दृष्टि से वह दैहिक भी है। परिग्रह के अधिक संचय का निमित्त सामाजिक परिकल्पना है, इस दृष्टि से वह वैदेहिक भी है। व्यक्ति का मापदण्ड धन बन जाता है। जिसके पास धन थोड़ा, वह छोटा और जिसके पास धन बहुत, वह बड़ा -ऐसी परिकल्पना आ जाती है। परिग्रह के संचय का निमित्त बदल जाता है फिर वह जीवन-निर्वाह का साधन न रहकर विलास और बड़प्पन का साधन बन जाता है। निमित्त-परिवर्तन का सिद्धान्त व्यापक है। प्रत्येक कार्य की प्रारम्भ-दशा का निमित्त आगे चलकर उसी रूप में नहीं रहता। वस्त्र के निमित्त-परिवर्तन की स्थिति देखिए, शांत और गरमी से बचाव करने के लिए वस्त्र परिधान चला। कुछ समय बाद दैहिक अपेक्षा जो थी,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वह काल्पनिक बन गई। दूसरा निमित्त बना लज्जा-संरक्षण। लाज-रक्षा का विकास होते-होते सारा तन कपड़ों से ढक गया। इससे आगे विकार आवरण भी एक निमित्त बना। शोभा, अभियान और स्पर्धा- ये भी निमित्त बन चुके हैं। वस्त्र परिधान की जो उपयोगिता थी, उसे सौंदर्य और स्पर्धा ने रौंद डाला।

समाज की धुरी अर्थ-नीति है, इसमें कोई सन्देश नहीं। अर्थ-नीति के आधार पर समाज बनता-बिगड़ता है, उसकी अच्छाई और बुराई के आधार पर वह अच्छा और बुरा बनता है। जब अर्थ-नीति श्रमनिष्ठा, स्वावलम्बी और आत्म-निर्भर होती है, तब समाज भी अपने श्रम पर भरोसा करने वाला और अपरिग्रह की ओर आगे बढ़ने वाला होता है। अर्थ-नीति जब अशिक्षित और शक्तिहीन वर्ग के श्रम का अनुचित लाभ उठाने की होती है, तब समाज विलासी, आलसी और संग्रहनिष्ठ बनता है। समाजवाद अर्थ-नीति को सर्वसाधारण उपयोगी यानी शोषण-हीन बनाने की प्रवृत्ति में संलग्न है। वैसा कुछ बनता-सा दीख पड़ता है। फिर भी वह सत्ता और भय पर आश्रित है। अपरिग्रह का सिद्धान्त आत्माश्रित है। वह हृदय में आये तो सत्ता के दबाव के बिना ही समाज शोषणहीन बन जाए। पर जैसे जाति के आधार पर छोटा-बड़ा होने की मान्यता मिटे बिना जातिवाद नहीं मिटने वाला है वैसे ही धन-राशि प्रतिष्ठा, बड़प्पन, विलास और सुविधा अतिरेक का साधन बनी रहेगी, उस स्थिति में न अपरिग्रह-वृत्ति जीवन में आने वाली है और न धन का आकर्षण छूटने वाला है। व्यवस्था सुधार समाजवादी योजना का फलित है। अपरिग्रह के सिद्धान्त का फलित है वृत्तियों का सुधार। वृत्तियों के सुधार के लिए व्यवस्था सुधार का परिणाम वृत्ति-सुधार या हृदय-परिवर्तन होना चाहिए। इस भूमिका में दोनों के साध्य एक न होने पर किंचित् सोपक्ष बन पाते हैं। सुधरी हुई व्यवस्था के बिना वृत्तियों के सुधरने में कठिनाई आती है। इसलिए साधारणतया वृत्ति-सुधार को शोषणहीन व्यवस्था की अपेक्षा रहती है। वृत्ति-सुधार हुए बिना व्यवस्था-सुधार टिकाऊ नहीं बनता। इसलिए व्यवस्था-सुधार को वृत्ति-सुधार की अपेक्षा रहती है।

आडम्बर और विलासपूर्ण जीवन रहे, तब अणुव्रतों की कल्पना सफल नहीं हो सकती। अणुव्रती अणुव्रतों का पालन भी करे और जीवन को आर्थिक भार से बोझिल बनाये रखे, ऐसा बनना संभव नहीं। विलासी जीवन में धन चमकता है। सादगीपूर्ण जीवन में व्रत चमकते हैं। धन और व्रत, दोनों एक साथ नहीं चमक सकते। न्याय साधनों द्वारा जीवन-निर्वाह उपयोगी धन मिट जाता है किन्तु आडम्बर और विलास योग्य धन नहीं मिलता। विलास के लिए धन का अतिरेक और उसके लिए अन्यायपूर्ण तरीकों का अवलम्बन-ऐसा होता है कि व्रत टूट जाते हैं। इसलिए अणुव्रती को जीवन-व्यवस्था का चालू क्रम बदलता पड़ता है। ऐसा किये बिना वह व्रत और विलास दोनों के साथ ही न्याय नहीं कर सकता। न वह सफल व्रती ही बन सकता है और न सफल विलासी ही रह सकता है। इस पर से अणुव्रती के लिए जीवन-व्यवस्था के परिवर्तन की बात आती है। शोषणहीन समाज-व्यवस्था में उसे कोई कठिनाई नहीं, किन्तु समाज-व्यवस्था वैसी न बनने पर भी कम-से-कम उसे तो अपना जीवन-क्रम बदलना ही होगा। धन के द्वारा बड़ा बनने की भावना, दूसरों से अधिक सुविधा पाने की भावना, दूसरों के श्रम द्वारा अनुचित लाभ कमाने की भावना, शोषण और अवैध तरीकों द्वारा धनार्जन की भावना छोड़ देना उसका सहज धर्म हो जाता है। अणुव्रत विचार का लक्ष्य है- व्यक्ति-व्यक्ति में सहज धर्म का विवेक जगाना, प्रत्येक व्यक्ति अपनी आन्तरिक प्रेरणा द्वारा बुराइयों से बचे, बचने का उपाय करे, व्रती बने, तथा अपनी वृत्तियों में अपेक्षित सुधार के साथ-साथ व्यवस्था सुधार में भी अपना योगदान देता रहे।

2.8 अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक

2.8.1 आचार्य तुलसी : जीवन परिचय

बीसवीं सदी के आध्यात्मिक परिदृश्य पर प्रमुखता से उभरनें वाला जो नाम है, वह है, अणुव्रत अनुशास्ता श्रीतुलसी। भारत की संत परम्परा को अपनी तेजस्विता से प्रभावित करने वाले इस महापुरुष ने भारत को जो दिया, वह इस देश की अनुपम थाती है। अपने त्याग और तपोबल के द्वारा राष्ट्र की अस्मिता को हर कीमत पर बचाये रखना जैसे उनका जीवन संकल्प थे। जब-जब राष्ट्र के जन-जीवन में गिरावट आई, उनके दिल को चोट लगी। उस गिरावट को देखना उन्हें कभी स्वीकार नहीं हुआ। राष्ट्रीय चरित्र को जब-जब आघात लगा, लोगों को उन्होंने झकझोरा।

भारतीय जनता शताब्दियों से चले आये विदेशी शासन से मुक्ति पानें के लिए संघर्ष कर रही थी। स्वतन्त्रता सेनानियों के अपरिमित बलिदानों के परिणामस्वरूप सन् 1947 में भारत को आजादी मिली। राष्ट्र के कर्णधार कहे जाने वाले लोग उस समय आर्थिक, औद्योगिक, शैक्षणिक आदि विभिन्न प्रकार की विकास योजनाओं में व्यस्त हो गये। अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी की सन्त चेतना एक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विचार से झंकृत हुयी। देश के भौतिक विकास के साथ-साथ चारित्रिक विकास उन्हें जरूरी लगा। उनका विचार था कि इस बुनियाद को मजबूत किये बिना देश का संतुलित विकास नहीं हो पाएगा। इस स्थिति में राष्ट्र अनेकानेक संकटों से घिर जायेगा।

राष्ट्र के अहिंसक और नैतिक चरित्र के निर्माण के लिये 2 मार्च, 1949 को उन्होंने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। आदमी अपने पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करते हुये नैतिक व मानवीय मूल्यों का क्षरण न होने दे, इसके लिये छोटे-छोटे नियमों की एक आचार संहिता प्रस्तुत की गयी। जीवन की जिस किसी दिशा में व्यक्ति अपना विकास करे, पर सच्चा इन्सान होना न भूले। इन्सानियत को अपनाकर चलना-यह अणुव्रत का आधारभूत संदेश है।

अणुव्रत का संदेश जन-जन तक पहुँचाने के लिये स्वयं अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ प्रचुर मात्रा में साहित्य सर्जन किया। अणुव्रत को राष्ट्रीय सन्दर्भ में प्रस्तुत कर उसे दार्शनिक आधार प्रदान किया। अणुव्रत के दर्शन को व्याख्यायित करने के साथ-साथ व्यापक स्वरूप देकर उसकी प्रासंगिकता और अनिवार्यता को उन्होंने सिद्ध कर दिया है। देश का प्रबुद्ध वर्ग आज यह कहने लगा है कि अणुव्रत ही देश को अब नई दिशा दे सकता है। अणुव्रत के माध्यम से जन-जन में मानवता की भावना पैदा करने के लिये आचार्य तुलसी ने लगभग एक लाख किलोमीटर की पूरे देश भर में पदयात्रायें कीं। अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी ने अपनी पदयात्रा को एक मिशन का रूप दिया। कच्छ से कलकत्ता और पंजाब से कन्या कुमारी तक पूरे भारत वर्ष की वह ऐतिहासिक पदयात्रा मानवता को प्रतिष्ठित करने के मिशन के रूप में हुयी। इसीलिये लोग उन्हें ''मानवता के मसीहा'' और ''मानवतावादी सन्त'' के रूप में अधिक जानते हैं।

उनके सद्प्रयासों से ही आज कुरूढिवादी परम्परायें समाप्त हो चली हैं। प्रारम्भ में इस समाज सुधार के कार्य का भी प्रखर विरोध हुआ। समाज के भीतर और बाहर दोनों से उन्हें संघर्ष झेलना पड़ा किन्तु उन्होंने न तो कभी हार मानी और न ही कभी विरोध की परवाह की। साामाजिक उत्थान का जो कार्य उन्हें करना था, निर्विकारभाव से वे करते रहे। इतना ही नहीं अपने विरोधियों के प्रति भी सहिष्णुता का भाव रखते हुये उन्होंने कहा ''जो हमारा करे विरोध, उसे हम समझें विनोद।'' विरोधियों के प्रत्युत्तर में अपनी ओर से कभी दो लाइनें भी नहीं लिखी। अपनी सारी ऊर्जा को ध्वंस की बजाय निरन्तर निर्माण में लगाते रहे। यही कारण कि कालान्तर में उनके विरोधी भी समर्थक बनते गये। तमिलनाडु में अणुव्रत अनुशास्ता जब पदयात्रा करते हुये पहुँचे, उस समय वहां हिन्दी विरोधी आन्दोलन प्रचण्ड रूप ले चुका था। अन्नामले विश्वविद्यालय इस आन्दोलन का केन्द्र बिन्दु बना हुआ था इस विश्वविद्यालय के छात्र हिन्दी के विरोध में खुल कर सड़कों पर आ गये थे कुछ छात्र विरोधी आन्दोलन में शहीद हो गये। उसी विश्वविद्यालय में अणुव्रत अनुशास्ता को प्रवचन देने के लिये आमन्त्रित किया गया। कुलपति सहित अनेक प्रोफेसर अनुशास्ता से अनुरोध किया-आप वहां हिन्दी में न बोलें। अणुव्रत अनुशास्ता भाषा को लेकर किये जाने वाले इस आन्दोलन को खत्म करवाना चाहते थे। उन्हीं छात्रों की परिषद् के समक्ष उन्होंने हिन्दी में अपना ओजस्वी भाषण दिया। छात्रों ने तालियों की गड़-गड़ाहट के साथ उनका स्वागत किया। हिन्दी में वह ऐतिहासिक भाषण देकर अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी ने न केवल हिन्दी के महत्त्व को उजागर किया बल्कि हिन्दी विरोधी उस आग का शमन भी किया। अपने प्रयास से उत्तर दक्षिण के बीच पड़ने वाली दरार को उन्होंने बचा लिया।

अपनी पदयात्रा के दौरान अणुव्रत अनुशास्ता ने हजारों-हजारों गांवों का स्पर्श किया। लाखों-लाखों ग्रामीण आपके सम्पर्क में आये, आपके प्रवचनों को सुना और बहुत लोगों ने व्यसनमुक्त रह कर जीवन जीना स्वीकार किया। चरित्र निर्माण और नैतिक प्रशिक्षण का जो कार्य करोड़ों-करोड़ों रूपये व्यय करके भी नहीं किया जा सकता, वह कार्य अणुव्रत अनुशास्ता की यात्रा से सहज सम्भव हुआ है। आध्यात्मिक उन्नयन के लिये अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी के निर्देश से आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान की एक वैज्ञानिक पद्धति जनता के सामने प्रस्तुत की। प्रेक्षाध्यान के प्रयोगों से हजारों-हजारों लोग प्रभावित हुये है। धर्म को कर्म काण्डों और उपासनाओं की जकड़न से मुक्त कर उसे व्यवहारिक और वैज्ञानिक बनाने में प्रेक्षाध्यान के प्रयोग सफल हुये हैं।

अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी एक संत थे, पर असाम्प्रदायिक धर्म के रूप में उनकी सर्वत्र पहचान थी। धर्म को उन्होंने हमेशा सम्प्रदाय से ऊपर रखा। वे कहते थे- धर्म जब गौण हो जाता है और सम्प्रदाय हावी हो जाता है, तभी साम्प्रदायिक उन्माद पैदा होता है। असाम्प्रदायिक धर्म का प्रवर्तन कर अणुव्रत अनुशास्ता ने यह सन्देश दिया कि धर्म से न किसी को खतरा होता है और न धर्म को किसी से। साम्प्रदायिक आग्रहों से विग्रह पैदा होते हैं।

सम्प्रदाय की सीमा-रेखाओं से ऊपर उठ कर अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी मानवतावादी कार्यक्रम को लेकर ही जनता के बीच गये हैं। ''इन्सान पहले इन्सान, पिर हिन्दु या मुसलमान'' यह नारा उन्होंने राष्ट्रीय एकता और मानवता की भावना देशभर में पैदा करने के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लिये दिया था। वे स्वयं अपने परिचय में कहते हैं–''पहले मैं एक मानव हूँ, फिर धार्मिक हूँ, फिर एक धर्माचार्य हूँ।'' जिस मानव धर्म की प्रस्तुति अनुशास्ता श्री तुलसी ने की है, उसकी आवाज न केवल झोपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन तक पहुँची है बल्कि विदेशों में और अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर भी इसकी आवाज गुंजित हुयी है।

वस्तुत: संत श्री तुलसी ने असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण से जो कार्य किया है, वह भी एक अलग से अध्ययन का विषय बनता है। सर्वधर्म सद्भाव के दृष्टिकोण से उन्होंने एक पंचसूत्री योजना दी, जिका जन मानस पर व्यापक असर पड़ा। उन्होंने कहा––

1. मण्डनात्मक नीति बरती जाये। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाये। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किया जाए।
2. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।
3. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।
4. कोई सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछिनीय व्यवहार न किया जावे।
5. धर्म के मौलिक तत्व अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रहचर्य और अपरिग्रह को जीवन व्यापी बनाने के लिये सामूहिक प्रयत्न किया जाये।

अणुव्रत आन्दोलन में सन्त आचार्य तुलसी का नेतृत्व एक आध्यात्मिक व्यक्तित्व का नेतृत्व है, किसी धर्म निरपेक्ष भौतिकवादी या राजनेता का नहीं। इसलिये आचार्य तुलसी ने जब आन्दोलन को सर्वधर्म सद्भाव का माध्यम बनाया और हिन्दु धर्म की जगह हिन्दू राष्ट्र की बात की तब भी जनता के मन में साम्प्रदायिक बनाम धर्म निरपेक्षता का ऊहापेह नहीं जगा। अपनी इसी आध्यात्मिक त्वरा के कारण वे धार्मिक आंदोलन को भी सामाजिक क्रान्ति के आंदोलन का हिस्सा बना सके।

अहिंसा और शांति के संदेश को विदेशों में जन–जन तक फैलाने के लिये अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी ने गृहस्थ और साधु के मध्य समण श्रेणी की पृथक स्थापना कर धार्मिक जगत में एक जबरदस्त क्रान्ति की। समण श्रेणी की पृथक स्थापना से सात समन्दर पार सत्य और अहिंसा की बुलंदी के द्वार खुल गये। यह समण श्रेणी देश विदेशों में अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान के माध्यम से अहिंसा व विश्व शांति के क्षेत्र में प्रभावी कार्य कर रही है। अहिंसा और शांति की स्थापना अणुव्रत अनुशास्ता का प्रमुख लक्ष्य रहा है। इसी लक्ष्य को सामने रखकर अहिंसा प्रशिक्षण के कार्यक्रम प्रारम्भ किये गये। अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी ने धर्माचार्य की भूमिका में रहते हुये भारतीय राजनीति को अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व से प्रभावित किया है। संत की गरिमा से हट कर वे राजनीति में कभी लिप्त नहीं हुये, किसी दल के साथ प्रतिबद्ध नहीं हुये। निष्पक्ष और तटस्थ रह कर सभी दलों के प्रमुखों को उन्होंने दिशादर्शन दिया है। राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू, पंडित जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण, आचार्य कृपलानी, आचार्य विनोबा भावे, डॉ. राममनोहर लोहिया, हरिभाऊ उपाध्याय, जैनेन्द्र जैसे वरिष्ठ लोग अणुव्रत अनुशास्ता तुलसी को अत्यन्त आदर और सम्मान देते रहे। राष्ट्रीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में विचार विमर्श के लिये अणुव्रत अनुशास्ता की सन्निधि में बैठकर इन सभी लोगों ने अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति की है।

वर्तमान राजनीति के सभी प्रमुख दलों के लोग अणुव्रत अनुशास्ता की नि:स्वार्थ राष्ट्र सेवा और उनके मानवतावादी कार्यों से अत्यन्त प्रभावित हुई। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने अपने ग्रन्थ ''लिविंग विद परपज'' में 14 महापुरुषों का जीवन वृत प्रस्तुत किया है। उनमें से अणुव्रत अनुशास्ता एक हैं। सन् 1961 में आचार्यकाल के 25 वर्ष की सम्पन्नता के अवसर पर तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन ने उन्हें सम्मानित किया। 1971 में राष्ट्रपति वी.वी. गिरी ने सम्मानित किया। तब आपको युगप्रधान की उपाधि से अलंकृत किया गया था। षष्टिपूर्ति के अवसर पर 1974 में राष्ट्रपति पखरूदीन अली अहमद ने और आचार्य काल के पचास वर्ष के सम्पूर्ण के ऐतिहासिक अवसर पर 1986 में राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने सम्मानित किया। उस समय उन्हें ''भारत ज्योति'' अलंकरण प्रदान किया गया। 31 अक्टूबर 1993 में अणुव्रत अनुशास्ता को इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरूस्कार से सम्मानित किया गया। यह पुरूस्कार राष्ट्रीय एकता के संवर्धन में उल्लेखनीय योगदान के लिये उन्हें दिया गया। प्रधानमंत्री नरसिंह राव ने इन्दिरा गांधी की पुण्यतिथि पर एक भव्य समारोह में यह पुरस्कार उन्हें समर्पित किया।

मध्यप्रदेश से प्रकाशित नई दुनिया समाचार पत्र ने अपने संपादकीय में लिखा–''प्रसिद्ध संत तुलसी को वर्ष 1992 के लिये इन्दिरा गांधी एकता पुरस्कार से सम्मानित किया जाना राष्ट्रीय जीवन में नैतिकता के महत्त्व को रेखांकित करता है। इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय

एकता पुरस्कार समिति ने तीन हजार से अधिक व्यक्तियों और संस्थाओं के नामों पर विचार करने के बाद आचार्य तुलसी का चयन किया। राष्ट्रीय एकता के लिये आचार्य तुलसी से अधिक उपयुक्त व्यक्ति की कल्पना करना कठिन है। आचार्य तुलसी राष्ट्रीय एकता के श्रेष्ठतम प्रतीक हैं।''

आचार्य तुलसी ने छह दशकों से अधिक समय से तेरापंथ के आचार्य पद का दायित्व संभाला उनकी कार्य कार्य कुशलता का ही सुपरिणाम है कि आज तेरापंथ आकाश की ऊचाइयों का स्पर्श कर रहा है। छोटा-सा तेरापंथ धर्मसंघ आज समग्र जैनों की पहचान बन गया है। जिस धर्मसंघ को पूरे देश में भी लोग जानते-पहचानते नहीं थे, उसकी आवाज आज सात समुद्र पार विदेशों में भी गूंज रही है। जन-जन का विश्वास आपनें अर्जित किया है। आचार्य तुलसी के छह दशकों का कार्यकाल तेरापंथ के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अकित रहेगा।

अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी का जन्म 20 अक्टूबर, 1914 लाडनूँ (राजस्थान) में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी वही हुई। उस समय किसे पता था कि राजस्थान के साधारण कस्बे में जन्मा यह बालक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर विश्व को दिशादर्शन देने में सक्षम होगा। बालक तुलसी ने उच्च शिक्षा तब तक नहीं पाई थी, जब वे अपने धर्मगुरू के चुम्बकीय आकर्षण में आबद्ध हुये थे। गुरु के प्रथम दर्शन में ही अभिभूत हुये तुलसी ने सन्यास लेने की ठान ली। उच्च शिक्षा न होने पर भी सद्संस्कारों का बहुत बड़ा ख्जाना उनके पास था। ग्यारह वर्ष की नाजुक अवस्था में गृहस्थ जीवन की समस्त सुविधों को छोड़ कर तेरापंथ धर्मसंघ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी के पास दीक्षित हो गये।

मुनि तुलसी की प्रतिभा, योग्यता और विलक्षण विशेषताओं से प्रभावित होकर आचार्य कालूगणी ने अगस्त 1936 में उन्हें युवाचार्य के रूप में अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। इस घटना के कुछ ही दिनों बाद आचार्य कालूगणी जी का देहावसान हुआ। 22 वर्षीय युवा मुनि तुलसी के कंधों पर विशाल तेरापंथ धर्म संघ का नेतृत्व करने का दायित्व आ गया। जैन इतिहास की यह विरल और अद्भुत घटना थी। मुनि तुलसी आचार्य तुलसी के रूप में सामने आये। नई पहचान, नया दायित्व, और बढ़ती हुयी सीमाओं के साथ तेजस्विता और वर्चस्विता उनके व्यक्तित्व के अंग बनने लगे। अपने दायित्व की गुरूता और गंभीरता को उन्होंने समझा। चातुर्य और प्रशासनिक कौशल से संघ पर अपनी पकड़ मजबूत बना कर संघ को कुशल नेतृत्व देने के संकेत दिये। धर्मसंघ को गतिशील बनाने और युगानुरूप ढालनें के लिये कुछ प्राथमिकतायें तय की। साध्वी समाज को शिक्षित करना उनकी अहम् प्राथमिकता थी। संघ को विभिन्न दिशाओं में नये आयाम देने प्रारम्भ किये।

भारतीय जनमानस उन्हें समाज सुधारक, जैनाचार्य, तेरापंथ के प्रशासक और अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप में अधिक पहचानता है। किन्तु प्राय: यह विस्मृत कर दिया जाता है कि वे एक उच्च कोटि के साहित्यकार, प्रखर वक्ता, गहरे चिंतक, महान कवि और कुशल गायक भी थे। उनके संत जीवन में लेखक, वक्ता, चिंतक, साहित्यकार, कवि और गायक का अदभुत समन्वय हुआ है। उनके द्वारा लिखित साहित्य का आज विश्व जनमानस में अपूर्व स्वागत हो रहा है। व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर गद्य तथा पद्य दोनों ही विधाओं में उन्होंने निर्भिकता पूर्वक समान रूप से लिखा है। राजस्थानी भाषा में शुरू हुई उनकी साहित्यिक यात्रा हिन्दी, गुजराती, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी आदि के माध्यम से उन्हें सौ से अधिक ग्रंथों के मौलिक सृजक के रूप में प्रतिष्ठित कर चुकी है। वे हिन्दी व राजस्थानी साहित्य के एक ऐसे प्रकाश स्तम्भ थे, जो विगत कई वर्षो से साहित्य की प्रत्येक विद्या, प्रत्येक राह पर अपना उजाला निरंतर बिखराये हुये हैं। दर्शन के क्षेत्र में ''जैन सिद्धान्त दीपिका'' न्याय के क्षेत्र में ''भिक्षुन्याय कर्णिका'' तत्व के क्षेत्र में ''जैन तत्व प्रवेश '' जैन तत्व विद्या'' योग के क्षेत्र में ''मनोनशासन'', ''प्रेक्षा-अनुप्रेक्षा'', अणुव्रत के क्षेत्र में 'अनैतिकता की धूप अणुव्रत की छतरी', 'अणुव्रत के अलोक में', 'अणुव्रत गति प्रगति', उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। 'दीया जले आगम का', 'सफर आधी शताब्दि का', 'जीवन की सर्थक दिशायें', 'लघुता से प्रभुता मिले', 'जागे तभी सवेरा', 'मुखड़ा क्या देखे दर्पण में', 'कुहा से में उगता सूरज', 'राजपथ की खोज', 'अमृत, अतीत का विसर्जन', 'अनागत का स्वागत', 'बीती लाहि बिसारि दे', 'क्या धर्म बुद्धिगम्य है', 'मेरा धर्मकेन्द्र और परिधि', 'गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का', जैसे ग्रन्थ भी कम चर्चित नहीं हुये है।

आचार्य कालूगणी पर लिखित कालूयशोविलास, सम्राट भरत चक्रवर्ती पर लिखित ''भरत मुक्ति'', और व्याख्यान रूप में लिखित ''चन्दन की चुटकी भली'' यह तीनों ग्रन्थ अपनें आप में केवल महाकाव्य की नहीं बल्कि एक पूरी संस्कृति, दर्शन और इतिहास है। काव्य रसियों के लिए नंदन निकुंज, सोमरस और शासन संगीत उनके अवदान है। अपनी गहरी संवेदना साधारण दृष्टि से कारण वे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जिस विषय को छू लेते वह शुष्क हो तो भी ललित बन जाता था। वे ऐसे पारस थे जिन्होंने साहित्य को स्वर्ण भांति दीप्तिमान कृतियां प्रदान की हैं। उनकी एक लघु साहित्यिक कृति ''अशांत विश्व को शांति का संदेश'', पर टिप्पणी करते हुये राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने लिखा था– ''क्या यह अच्छा होता कि दुनिया इस महापुरूष के इन नियमों को मान कर चलती।'' ''तीर्थंकर महावीर'' की वाणी, जो लगभग 2500 वर्ष प्रस्फुटित हुयी और कालान्तर में आगम ग्रन्थों के रूप में निबद्ध हुयी थी। आज के संदर्भों में उसे वैज्ञानिक व तार्किक ढंग से संपादन कर प्रस्तुति करने का कार्य किसी ''समुद्रमंथन'' से कम नहीं था। दिलचस्प बात तो यह रही कि उनके इस कार्य में किन्हीं वैतनिक विद्वानों का सहयोग नहीं लिया गया। केवल अणुव्रत अनुशास्ता तुलसी, आचार्य भी महाप्रज्ञ व उनके अपरिग्रही साधु–साध्वियों के परिश्रम का ही परिणाम है कि यह महान कार्य संभव हो सका। इस विशाल कार्य को देखकर ही सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार व श्री दलसुख भाई मालविणया ने कहा था कि ''सरकारी संस्थाऐं करोड़ों रूपये खर्च कर भी इस कार्य को सौ वर्ष में भी नहीं कर सकती थी, जिस कार्य को अणुव्रत अनुशास्ता तुलसी ने मात्र 34 वर्षों में कर दिया। सचमुच ज्ञान के संरक्षण व शोध का अनुठा कार्य कर अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी ने साहित्य जगत की जो सेवा की है, इतिहास उसे कभी भुला नहीं पायेगा। ये आगम जैन परंपरा में वैसा ही महत्त्व रखते हैं, जैसे हिन्दु और बौद्ध परंपरा में वेद और पिटक।''

वर्तमान में अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ के आध्यात्मिक मार्गदर्शन, में अनेक संस्थाएं कार्य कर रही है। अणुव्रत महासीमित अखिल भारतीय अणुव्रत न्यास, अणुव्रत विश्व भारती, जय तुलसी फाउन्डेशन, जैन विश्व भारती, तेरापंथ महासभा, आदर्श साहित्य संघ, अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद, अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मंडल आदि अनेक संस्थायें सक्रिय रूप से कार्यरत है। ये संस्थाये आचार्य तुलसी के बहुआयामी कार्य–क्रमों को संचालित करने का बीड़ा उठाये हुये हैं। जैन विश्व भारती इन्स्टीट्यूट अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी की प्रेरणा और पुरूषार्थ का एक प्रतिफल है। सन् 1991 में इस संस्थान को भारत सरकार ने मान्य विश्वविद्यालय का दर्जा दिया। अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी इस विश्वविद्यालय के प्रथम सर्वोच्च अनुशास्ता थे।

2.9 आचार्य तुलसी के अहिंसक प्रयोग

आचार्यश्री ने अपने जीवन में विष को अमृत बनाया है, संघर्ष की अग्नि को समत्व के जल से शांत करने का प्रयत्न किया है, उनके जीवन की सैकड़ों ऐसी घटनायें है, जो उनके इस अहिंसक व्यक्तित्व की अमिट रेखाएं है। पर उन सब का यहाँ संकलन एवं प्रस्तुतिकरण सम्भव नहीं है। यहाँ उनके जीवन के कुछ अहिंसक प्रयोग प्रस्तुत किये जा रहे है।

2.9.1 साम्प्रदायिक उन्माद

1. आचार्य बनने के बाद आचार्य तुलसी का प्रथम चार्तुमास बीकानेर में था। चार्तुमास समाप्ति के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा के मध्यान्ह में उन्होंने विहार किया। पूर्व निर्धारित मार्ग पर भी कुछेक कदम ही आगे बढ़े थे कि अप्रत्याशित रूप से सहसा एक अन्य सम्प्रदाय के आचार्य का जुलूस उन्हें सामने की दिशा से आता दिखाई दिया। संकीर्ण मार्ग से एक जुलूस भी मुश्किल से गुजर रहा था, वहां दो जुलूसों का एक साथ गुजरना तो संभव ही नहीं था। सामने वाले जुलुस से हटो–हटो का स्वर प्रखरता से मुखर हो रहा था। आचार्य श्री ने स्थिति की गंभीरता का आंकलन किया और बिना इसे प्रतिष्ठा का बिन्दु बनाये पास के चौक में एक और हटते हुए सामने वाले जुलुस के रास्ता छोड़ दिया। हालांकि आचार्यश्री का यह निर्णय जुलुस में सम्मिलित गर्म खून वाले अनुयायियों को बहुत अप्रिय लगा पर तेरापंथ संघ के अनुशासन की ऐसी गोरवशाली परम्परा रही है कि आचार्य का कोई भी प्रिय अप्रिय निर्णय बिना किसी असहमति के स्वीकार्य होता है। इसलिये जुलुस में सम्मिलित सभी सन्त तथा हजारों लोग भी आचार्य तुलसी का अनुगमन करते हुये एक तरफ हट गये। सामने वाले जुलुस के गुजर जाने के पश्चात् उन्होंने अपने गन्तव्य के लिये प्रस्थान किया। पूरे शहर में इस घटना की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। प्रतिपक्ष के समझदार लोगों ने भी यह महसूस किया कि आचार्य श्री ने सूझ–बूझ एवं अहिंसा नीति के आधार पर सही समय पर सही निर्णय लेकर शहर को एक सम्भावित रक्तरंजित संघर्ष से बचा लिया। तत्कालीन बीकानेर नरेश महाराज गंगासिंह जी ने कहा– ''आचार्यश्री भले ही अवस्था में छोटे हों, पर उनकी यह सूझ–बूझ वृद्धों की सी है। उन्होंने बड़ी समझदारी एवं शांति से काम लिया।'' यह उनकी अहिंसा एवं शांतिवादिता की प्रथम विजय थी।

2. सन् 1969 के आसपास की घटना है। आचार्य बाड़मेर, बायतू, होते हुये जसोल पधार रहे थे। विरोधियों ने ऐसे पेम्पलेट निकाले कि कहीं धर्मवृद्धि के स्थान पर अराजकता न हो जाए। इससे भी आगे उन्होंने नियत प्रवचन स्थल पर वंचनापूर्वक अड्डा जमा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लिया। इससे श्रद्धालुओं के मन में रोष उभर आया। आचार्यश्री इस विरोधी विष को भी शंकर की तरह पी गये। वे शहर के बाहर ही किसी के मकान में ठहर गये। पर लोग तो वहां भी पहुँच गये। उनमें कुछ श्रद्धालु थे तो कुछ आचार्य श्री आंखों में रोष की झलक देखने आये थे। आचार्य ने दोनों ही पक्षों के लोगों की मन-स्थिति को ध्यान में रखते हुये कहा, ''हमें विरोध का उत्तर शांति से देना है। मुझे ताज्जुब हुआ जब मैंने यह पढ़ा कि धर्मवृद्धि के स्थान पर कहीं अराजकता न हो जाए। क्या हम आग लगाने आते हैं? सन्यास होकर भी क्या हम रोटी कपड़ा और स्थान के लिये झगड़े? हममें क्रान्ति का भाव जागे कि गाली का उत्तर भी शांति से दे सकें। मैंने सुना है कि कुछ अनुयायी कहते हैं- आचार्य श्री को जाने दो फिर देखेंगें। यदि मेरे जाने के बाद उनकी आंखों में उबाल आ गया तो मैं कहना चाहता हूँ कि तुम लोगों ने केवल नारे लगाये हैं आचार्य तुलसी को नहीं पहचाना है।''शठे शाठ्यं समाचरेत्'' यह राजनीति का सूत्र हो सकता है, धर्मनीति का नहीं। हमें तो हृदय के द्वेष को भी भलाई से बदलना है। जो अड़ना है, उनसे हमें टल जाना है। दूसरा जलता है तो हमें जल बन जाना है। यद्यपि आये हुये उभार को आचार्यश्री के इस ओजस्वी वक्तव्य ने न केवल श्रद्धालु लोगों को शांत कर दिया बरन् विरोधियों को भी सोच की एक नयी दृष्टि प्रदान की।''

आचार्यश्री के जीवन में जब-जब विरोध वे क्षण आये, वे इसी बात को बार-बार दोहराते रहे-''विरोधी लोग क्या करते हैं इस पर ध्यान न देकर, हमें क्या करना चाहिये, यही अधिक ध्यान देने की बात है। हमें विरोध का शमन विरोध और हिंसा से नहीं, अपितु शान्ति और अहिंसा से करना है। अपना अनुभव डायरी में लिखते हुये वे कहते हैं-''अहिंसा का जोश आज मेरे हृदय में रह-रहकर उफान पैदा कर रहा है, मेरा सीना इससे तना हुआ है और यही मुझमें अहिंसा को जनशक्ति में केन्द्रित करने की एक अज्ञात प्रेरणा जागृत कर रहा है।''

2.9.2 विधायक दृष्टिकोण

आचार्य तुलसी का दृष्टिकोण विधायक था यही कारण थे कि वे हर बुराई में अच्छाई खोज लेते थे। वे मानते थे- ''जहाँ तक अहिंसा का प्रश्न है, वहां हमारा आचरण और व्यवहार अलौकि होना चाहिये इस सिद्धान्त में मेरी गहरी आस्था है।'' आचार्य तुलसी के जीवन की सैकड़ों घटनाओं इस आस्था की परिक्रमा कर रही है। जोधपुर (सन् 1954) में अणुव्रत का अधिवेशन था। साम्प्रदायिक लोगों ने विरोध में अनेक पर्चे निकाले। दीवारें ही नहीं, सड़कों को भी पोस्टरो से पाट दिया। मध्यान्ह में आचार्यवर पादविहार कर अधिवेशन स्थल पर पहुँचे। वहाँ अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये उन्होंने कहा, ''साम्प्रदायिक लोग कभी-कभी अनजाने में हित कर देते है। यदि आज सड़कों पर ये पोस्टर बिछे नहीं होते तो पैर कितने जलते? दुपहरी के समय डामर की सड़कों पर नंगे पैर चलना कितना कठिन होता? इन पोस्टरों ने हमारी कठिनाई कम कर दी। जहाँ दृष्टिकोण इतना विधायक और उदार हो वहां विरोध की कोई भी स्थिति व्यक्ति को विचलित नहीं कर सकती। उस व्यक्तित्व के सामने अभिशाप वरदान में तथा शत्रुता मित्रता में परिणत हो जाती है। कानपुर का प्रसंग है। स्थानीय अनेक पत्र-पत्रिकाओं में आचार्यश्री के विरोध में तरह-तरह की बातें छपी। इस स्थिति से उद्वेलित होकर एक वकील आचार्यवर के उपपात में पहुंचा और बोला-''अमुक पत्र का सम्पादक मेरा किराये दार है। आप विरोध का प्रत्युत्तर लिखकर दे दें, मैं उसे वैसा ही छपवा दूंगा।''आचार्यवर ने उत्तर दिया- ''कीचड़ में पत्थर डालने से क्या लाभ? आलोचना का उत्तर में कार्य को मानता हूँ। यदि स्तर का विरोध या आलोचना हो तो उसके उत्तर में शक्ति लगायी जाये अन्यथा शक्ति लगाना व्यर्थ है। निरूद्देश्य और निरर्थक विरोध प्रलाप की तरह एक दिन स्वयं शांत हो जायेगा। मुझे तो विरोध देखकर दु:ख नहीं, बल्कि नादानी पर हंसी आती है। ये विरोध तो मेरे सहयोगी हैं। इनसे मुझे अधिक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। यदि विरोध में घबराने लगे तो कुछ भी कार्य नहीं कर सकेगें।''

2.9.3 बालदीक्षा का विरोध

जयपुर में जब बाल-दीक्षा के विरुद्ध विरोध का वातावरण बना तो तेरापंथी लोगों में भी कुछ आक्रोश उभरने लगा। संगठित संघ होने के कारण अनेक स्थानों से हजारों-हजारों लोग उसका प्रतिकार करने के लिये पहुंच गये। यद्यपि उन्हें शांत रखना कोई सहज कार्य नहीं था, पर अहिंसा की तेजस्विता प्रकट करने के लिये यह हर स्थिति में आवश्यक था। उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपने अनुयायियों को प्रतिबोध देते हुये कहा- ''हिंसा को हिंसा से जीतना कोई मौलिक विजय नहीं होती। हिंसा को अहिंसा से जीतना चाहिए। हम साधन-शुद्धि पर विश्वास करते हैं, अत: पथ की समस्त बाधाओं को स्नेह और सौहार्द से ही पार करना होगा। उत्तेजित होकर काम को बिगाड़ा ही जा सकता है, सुधारा नहीं जा सकता। मैं यह नहीं कहता कि आप विरोधी के सामने झुक जाएं। यह तो उन्हीं की सफलता मानी जायेगी। किन्तु आप यदि उस समय भी शांत रहें तो यह आपकी सफलता होगी। मैं आशा करता हूँ कि कोई भी तेरापंथी भाई न उत्तेजित होगा और न उत्तेजना बढ़े, वैसा कार्य करेगा। दूसरा क्या कुछ करता है, यह उसके सोचने की बात है। पर हमारा मार्ग सदैव शांति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का रहा है और इसी में हमारी सफलता के बीज निहित है।'' आचार्यश्री का उपर्युक्त प्रतिबोध सचमुच ही अत्यन्त प्रभावी सिद्ध हुआ। लोगों के मनों में उभर रहे आक्रोश को शांत करने में उसने जल का सा काम किया। अहिंसा की तेजस्विता मूर्त हो उठे।

2.9.4 अग्नि परीक्षा बनाम अहिंसक परीक्षा

आचार्य तुलसी का चातुर्मास रायपुर में था। वहां उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। किन्तु उस चार्तुमास के दौरान कुछ लोग उनकी लोक प्रियता को सह नहीं सके। उनके खण्डकाव्य ''अग्नि परीक्षा'' को आधार बना कर कुछ गलत तत्त्वों ने साम्प्रदायिक हिंसा का वातावरण तैयार कर दिया। उन्होंने आचार्यश्री पर यह आरोप लगाया कि उन्होंने सीता को अपशब्द कहे है। जनता इस बात को सुन कर भड़क उठी। स्थान-स्थान पर आचार्यश्री के पुतले जलाये गये। पथराव हुआ और भी हिंसात्मक वारदातें होने लगी। इस वातावरण को देखकर पत्रकारों को संबोधित करते हुये आचार्यश्री ने अपना संक्षिप्त वक्तव्य दिया- ''मैं अहिंसा और समन्वय में विश्वास करता हूँ। मेरे कारण दूसरों को पीड़ा पहुँची, इससे मुझे भी पीड़ा हुयी। प्रस्तुत चर्चा के दौरान कुछ विद्वानों के मूल्यवान सुझाव मेरे सामने आये है। अग्रिम संस्करण में उन पर मैं गंभीरता पूर्वक विचार करूंगा।'' इसके बावजूद भी विरोधी सभाओं का आयोजन हुआ, जुलूस आदि निकाले गये। स्थिति जटिल एवं गंभीर बन गई। इस उपस्थिति में भी वे वीर अहिंसक की भांति अडोल रहे तथा शांति स्थापना हेतु अपना मतंव्य व्यक्त करते हुये कहा-- ''मेरे लिये प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा का प्रश्न मुख्य नहीं है। यदि शांति के लिये मेरा शरीर भी चला जाए तो भी मैं उसे ज्यादा नहीं मानता। प्रतिष्ठा की बात पहले भी नहीं थी, किन्तु परिस्थिति कुछ दूसरी थी। आज स्थिति उससे भिन्न है। मुझे निमित्त बनाकर कर हिंसा का वातावरण उभारा जा रहा है। मैं नहीं चाहता कि मैं हिंसा का कारण बनूं, पर किसी प्रकार बना दिया गया है तो मैं इसके लिये किसी को दोष नहीं देता। मैंने अपने मिशन को चलाने का बराबर प्रयत्न किया है और आगे भी करता रहूँगा। ऐसी स्थिति केवल मेरे लिये ही बनी हुयी है, ऐसा नहीं है। महावीर, गांधी और विनोबा के साथ भी ऐसा ही हुआ है।''

उनकी करुणा और अहिंसा की पराकाष्ठा को तो उस समय देखने को मिली, जब हिंसा के दौरान कुछ विरोधी व्यक्ति पुलिस के द्वारा पकड़े गये तब उनके प्रति अधिकारियों से अपना आत्मनिवेदन उन्होंने इस भाषा में रखा ''आज जो लोग गिरफ्तार हुये, उसकी मुझे पीड़ा है। मुझे उनके प्रति सहानुभुति है। मेरे मन में उनके प्रति किसी प्रकार का रोष नहीं है। मैं आप लोगों से अनुरोध करता हूँ कि यदि संभव हो सके तो आज रात्रि में ही गिरफ्तार लोगों को मुक्त कर दिया जाए।'' विरोधी लोगों द्वारा पण्डाल जलाने पर भी वे वहीं स्थिरयोगी बनकर बैठे रहे। आचार्यश्री का यह स्पष्ट मतव्य था कि अहिंसक कायर नहीं हो सकता। जो मरने से डरता है, वह अहिंसा को भी नहीं छू सकता। लोगों के निवेदन करने पर भी ''मैं यहीं बैठा हूँ देखता हूँ क्या होता है? उस भयावह स्थिति में भी वे प्रकम्पित नहीं हुये। उनकी इस दृढ़ता और मजबूती को देखकर आग लगाने वालों ने भी अपने मन में लज्जा और कायरता का अनुभव किया। इस विषम एवं हिंसक वातावरण में भी वे लोगों को ओजस्वी स्वरों में कहते रहे, ''आज मैं इस अवसर पर अपने शुभचिन्तकों को पूर्णरूप से संयमित रहने का निर्देश देता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे किसी भी स्थिति में अहिंसा को नहीं भूलेगें। हमारी विजय शांति में है। शांति नहीं थकती, थकता है विरोध।'' इस घटना से उनकी अहिंसा के प्रति गहरी निष्ठा और शांतिप्रियता की स्पष्ट झलक मिलती है।

2.9.5 उदार दृष्टिकोण

यह निर्विवाद सत्य है कि उदार व्यक्ति ही अहिंसा का पालन कर सकता है। बिना उदारता के व्यक्ति विपक्ष को सह नहीं सकता। आचार्य तुलसी उदारता की प्रतिमूर्ति थे। इसका ज्वलन्त निदर्शन है-मेवाड़ और कलकत्ता का घटना प्रसंग। कानोड़ गांव से विहार कर आचार्यवर आगे पधार रहे थे। उनके साथ में सैकड़ों लोग नारे लगाते हुये आगे बढ़ रहे थे। आचार्यवर को ज्ञात हुआ कि जुलूस जिस मार्ग से आगे बढ़ रहा है, उस मार्ग में अन्य मुनियों का व्याख्यान हो रहा है। आचार्य तुलसी दो क्षण रूके और निर्देश की भाषा में श्रावकों से कहा- ''नारे बंद कर दिये जाएं। श्रद्धालुओं ने प्रश्न उपस्थित किया- हम किसी को बाधा नहीं पहुंचाना चाहते पर अपने मन के उत्साह को कैसे रोकें? सदा से ही ऐसा होता रहा है। फिर आज यह नयी बात क्यों उठी? आचार्यवर ने उनके मानस को समाहित करते हुये कहा-
-''आगे मुनियों का प्रवचन हो रहा है। नारे लगाने से श्रोताओं को सुनने में बाधा पहुंचेगी।'' मनोवैज्ञानिक ढंग से अपनी बात को समझाते हुये आचार्यश्री ने कहा- ''तुम्हारी धर्मसभा में साधु-साध्वियों का या मेरा प्रवचन होता है, उस समय दूसरे लोग नारे लगाते हुये वहां से गुजरें तो तुम्हें कैसा लगेगा?'' आचार्यश्री की यह बात उनके अंत:करण को छू गयी और सभी अनुयायी शांति भाव से आगे बढ़ने लगे। शांत जुलूस को देख कर दर्शक तो आश्चर्य चकित हुये ही, दूसरे सम्प्रदाय के लोगों पर भी इतना गहरा असर हुआ कि वे सहयोग की भावना प्रदर्शित करने लगे। यह समन्वय एवं सह-अस्तित्व का मार्ग है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सन् 1959 कलकत्ता चातुर्मास की समाप्ति पर एक पत्रकार आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित हुआ और बोला– मुझे आपका आशीर्वाद चाहिये। आचार्यश्री ने कहा–''मैंने अभिशाप और दुराशीष कब दी थी? तुमनें चार महिने जी भर कर हमारे विरूद्ध लिखा, न लिखने की बात भी लिखी पर मैंने कभी तुम्हारे प्रति दुर्भावना नहीं की, क्या यह आर्शीवाद नहीं है? मैं उस समय भी अपनी साधना में था, आज भी अपनी साधना में हूँ। तुम्हारे प्रति मुझे रोष नहीं है। हाँ, इस बात की प्रसन्नता है कि किसी भी समय यदि मनुष्य में अध्यात्म के भाव जागते हैं तो वह श्रेय का पथ है।'' यह घटना उनके सहिष्णु व्यक्तित्व की कथा कह रही है। आलोचनायें सुन–सुन कर आचार्यश्री की मानसिकता इतनी परिपक्व हो गयी कि उनके मन पर विरोधी वातावरण का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता।

2.9.6 राष्ट्रीय समस्या हेतु कार्य

अहिंसा की शक्ति में अणुव्रत अनुशास्ता की गहरी आस्था रही थी आतंकवाद से ग्रस्त पंजाब में माहौल जब अत्यधिक भयानक था। दिन–दहाड़े गोलियों के धमाके शहरों और गांवों में सुने जाते थे, उस समय आचार्य तुलसी ने अपने शिष्य-शिष्याओं को वहां भेजा। अणुव्रत अनुशास्ता जानते थे कि आंतकवाद के डर से सैकड़ों परिवार पंजाब छोड़कर भाग जा रहे हैं, ऐसे समय में उनके मनोबल और आत्मविश्वास को बढ़ाना जरूरी है। यह काम सरकार और प्रशासन से भी कहीं बेहतर ढंग से उनके साधु–साध्वियां कर सकते हैं। लोगों ने आग्रह किया–पंजाब का माहौल बहुत खराब है, आप साधु–साध्वियों को राजस्थान की ओर बुला लें। अणुव्रत अनुशास्ता ने पलटते हुये कहा–साधु–साध्वियां अपने हैं, वहां रहने वाले हजारों लोग हमारे नहीं हैं? उन्हें हम असहाय कैसे छोड़ दें? हमारे शिष्य कम से कम जनता का मनोबल तो बढ़ायेंगे ही। उसके बाद कुछ और मुनियों को ग्रुप अणुव्रत अनुशास्ता ने वहां भेंजे।

लम्बे समय से पंजाब समस्या का कहीं कोई हल नजर नहीं आ रहा था। दिन–ब–दिन समस्या उलझती जा रही थी। उस समय अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी ने संत लोगोंवाल को अपना एक संदेश भेज कर उन्हें याद किया। 9 जुलाई को संत लोगोंवाल राजस्थान के आमेट कस्बे में अणुव्रत अनुशास्ता के पास आए। तब तक समाधान होने के आसार नजर नहीं आ रहे थे। स्वयं लोगोंवाल का केन्द्र सरकार से बातचीत करने का कोई मानस नहीं था। वे निराश हो चुके थे। अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी और संत लोगोंवाल की दो दौर में लम्बी बातचीत हुयी। उस बातचीत का ठोस नतीजा आया। लोगोंवाल ने केन्द्र सरकार से बातचीत करना स्वीकार किया। अणुव्रत अनुशास्ता की प्रेरणा से लोगोंवाल ने प्रधानमंत्री राजीव गांधी से वार्तालाप किया। उसका निषकर्ष राजीव–लोगोंवाल समझौते के रूप में देश के सामने आया। उस ऐतिहासिक पंजाब समझौते की पृष्ठभूमि में अणुव्रत अनुशास्ता की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस कार्य के लिये अणुव्रत अनुशास्ता को केन्द्र सरकार की ओर से बधाई देने के लिये ग्रहमंत्री एस. बी. चव्हाण आमेट आये। आमेट की सार्वजनिक सभा में गृहमंत्री ने अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी को इस ऐतिहासिक कार्य की सफलता के लिये आभार प्रगट किया।

2. सन् 1994 में जब संसद की प्रतिष्ठा दांव पर लगी हुयी थी, विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्रीय मुल्क उपहास का पात्र बन रहा था, देश के हर नागरिक की धड़कन जिस लोकसभा पर जुड़ी हुई है, वह निस्पंद थी। ऐसे में भला राष्ट्रीय एकता समिति के मनोनीत सदस्य, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार से सम्मानित राष्ट्र संत श्री तुलसी कैसे मौन रह सकते थे? प्रश्न सत्तापक्ष और प्रतिपक्ष का नहीं, राष्ट्र की गरिमा का था। एक सप्ताह बीत जाने पर भी संसद का गतिरोध खत्म नहीं हुआ, वह बढ़ता ही गया। लोकसभा अध्यक्ष ने गतिरोध दूर करने के अनेक प्रयास किये, पर कोई पक्ष झुकने को तैयार नहीं था। दूरियाँ बढ़ती गयी, टकराव के संकेत आने लगे। गुरूदेव श्री तुलसी ने इस अवरोध को खत्म करना आवश्यक समझा। अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी और आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रमुख नेताओं को अपना विशेष संदेश भेजा। पक्ष और प्रतिपक्ष के अनेक वरिष्ठ नेतागण अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी व आचार्य श्री महाप्रज्ञ के पास इस नई दिल्ली मसले पर मार्गदर्शन लेने अध्यात्म साधना केन्द्र पहुंचे। अणुव्रत अनुशास्ता ने उन्हें प्रेरित किया कि रस्सी को जिस तरह दोनों ओर खींचा जा रहा है, यह बहुत खतरनाक है। रस्सी बीच में से टूट जायेगी तो दोनों को नुक्सान है। आवश्यक है कि सत्तापक्ष और प्रतिपक्ष दोनों और से इस तनाव को, इस खिंचाव को कम किया जाए, और अनेकान्तवादी दृष्टि से बातचीत कर संसदीय अवरोध को खत्म करने का प्रयत्न हो। प्रधानमंत्री सहित सभी पक्षों के लोगों पर अणुव्रत अनुशास्ता के संदेश व उनकी मार्मिक अपील का असर हुआ। सभी ने इसे बहुत गंभीरता से लिया। लोक सभा अध्यक्ष ने इस आह्वान से प्रेरित होकर पुन: अपने प्रयास तेज किये। राजनीतिक दृष्टि से असुविधाजनक होते हुये भी संसदीय गरिमा व अणुव्रत अनुशास्ता की भावनाओं का आदर करते हुये पार्टियों के नेता अवरोध खत्म करने पर सहमत हो गये। 17 अगस्त की मध्यान्ह लोक सभा में गतिरोध समाप्त करने की घोषणा की गई। विभिन्न पार्टी प्रमुखों व लोक सभा अध्यक्ष ने अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी व आचार्य श्री महाप्रज्ञ तक यह संदेश पहुंचाया कि आपके मार्ग दर्शन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

से ही यह कार्य संभव हुआ है। राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने इस कार्य के प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिम्हाराव ने 17 अगस्त की शाम अणुव्रत अनुशास्ता के श्री चरणों में उपस्थित होकर आभार प्रगट किया। देश के प्रमुख समाचार पत्रों ने इस घटनाक्रम को प्रमुखता से प्रकाशित कर देश में एक नयी हलचल पैदा कर दी। पद विसर्जन 18 फरवरी, 1994 को राजस्थान के सुजानगढ़ में हजारों लोगों के एक विशाल जन समुदाय को एक विलक्षण घटना देखने को मिली। तेरापंथ का 130 वां ऐतिहासिक मर्यादा महोत्सव का वह अवसर था। उस भव्य समारोह के दौरान विशल जनसमुदाय के बीच आचार्य श्री तुलसी ने एकाएक घोषणा की, ''अब मैं अपना आचार्य पद अपने उत्तराधिकारी युवाचार्य महाप्रज्ञ को सौंपता हूँ। आज से युवाचार्य महाप्रज्ञ आचार्य महाप्रज्ञ कहलायेगें। आज से ये तेरापंथ धर्मसंघ के दसवें आचार्य बन गये हैं। युवाचार्य महाप्रज्ञ को अपना आचार्य पद सौंपा यह आश्चर्य का विषय नहीं था। नवीनता इस बात में थी कि एक यशस्वी और समर्थ आचार्य ने सम्पूर्ण सामर्थ्य होते हुये अपना पद त्याग दिया। अपने जीवन काल में किसी को आचार्य पद पर आसीन कर दिया। जैन इतिहास की यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जिस निस्पृहता के साथ श्री राम ने सिंहासन का परित्याग किया, वैसे ही निस्पृहता के साथ आचार्य तुलसी ने अपने आचार्य पर का परित्याग किया। सत्ता से चिपके रहने वालों के लिये त्याग की प्रेरणा देने वाला इससे सुन्दर और श्रेष्ठ उदाहरण दूसरा कहां मिलेगा।

2.10 अणुव्रती की पात्रता

इस विश्व में अनेक राष्ट्र, अनेक जातियाँ, अनेक वर्ग, अनेक संप्रदाय और अनेक विचार वाले लोग हैं। भौगोलिक सीमा और विचारों के भेद ने लोगों को अनेक रूपों में बांट रखा है। वास्तव में ये सारे भेद कृत्रिम हैं। बाहरी सीमाएं मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं डाल सकतीं। इसलिए अणुव्रती बनने में जात-पांत आदि के भेद बाधक नहीं बनते। अणुव्रत विधान के अनुसार जीवन-शुद्धि के विश्वास रखने वाला हर व्यक्ति अणुव्रती हो सकता है। अणुव्रत का मूल आधार है- मानवीय एकता और सह-अस्तित्व। जिस व्यक्ति का मानवीय एकता में विश्वास नहीं है, जिस व्यक्ति का सह-अस्तित्व में विश्वास नहीं है, जिस व्यक्ति का मानवीय समानता में विश्वास नहीं है, वह अणुव्रती नहीं हो सकता। मानवीय एकता, समानता और सह-अस्तित्व में जिसकी आस्था है वह अणुव्रती हो सकता है, फिर वह शाब्दिक रूप में आत्मा-परमात्मा को माने या न माने, धर्म को माने या न माने, उपासना करे या ना करे। ये उसकी व्यक्तिगत आस्था के प्रश्न हैं। अणुव्रत मानवीय आचार-संहिता है। जो मनुष्य है, वह मनुष्य होने तथा मानवता के प्रति आस्थावान् होने के नाते अणुव्रती होने का अधिकार प्राप्त कर सकता है। अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-निर्माण की दिशा है। सत्ता से सामूहिक ढांचा बदल जाता है। व्रतों से वैसा नहीं हो पाता। सत्ता बाहरी रूप बदलती है, वह अन्तर को नहीं छूती। व्रत अन्तर को छूते हैं। अन्तर का परिवर्तन आन्तरिक योग्यता पर निर्भर होता है। वह सबकी समान नहीं होती। इसलिए एक साथ वैसा नहीं बनता। इस स्थिति में व्यक्ति-निर्माण की बात शेष रहती है। व्यक्ति समाज का अंग है। यदि एक अंग भी ज्योति-पुंज बनता है, उससे समूचे समाज को आलोक मिलता है। अणुव्रत-आंदोलन आध्यात्मिक है। इसकी दिशा सबके साथ चलने की नहीं है। 'बुराइयाँ कर लोग सुख-सुविधाएं पा रहे हैं, फिर अकेला मैं ही उन्हें छोड़ सुख-सुविधाओं से क्यों वंचित रहूं? जो सबको होगा वही मुझे होगा', यह विचार अनआध्यात्मिक है। 'व्यक्ति का पतन उसके अपने बुरे कर्म से होता है, इसलिए मुझे उससे अवश्य बचना चाहिए', यह आध्यात्मिक चेतना है। व्यक्ति-निर्माण की सही दिशा यही है। आंदोलन की कल्पना है कि प्रत्येक व्यक्ति- (1) अभय, (2) सहिष्णु, (3) समभावी, (4) पवित्र, (5) सन्तुष्ट, (6) शान्त, (7) जितेन्द्रिय और (8) आग्रहहीन बने।

2.10.1 नैतिक श्रद्धा का जागरण

पहले धारणाएं बदलती हैं, फिर व्यवस्था। परिस्थितियों का परिवर्तन हुए बिना मनुष्यों का परिवर्तन नहीं होता। परिस्थितियाँ नैतिकता के अनुकूल होती हैं, मनुष्य नैतिक बनता है। वे उसके प्रतिकूल होती हैं, मनुष्य अनैतिक बनता है, यह बहुतों की धारणा है। यह परिस्थितिवाद है। भौतिकता का उत्कर्ष इसी धारणा से हुआ है। अणुव्रत-आंदोलन परिस्थितिवाद का प्रचार नहीं करता। वह आध्यात्मिक है। परिस्थितियों की अनुकूलता से उसका कोई विरोध नहीं है। किन्तु उनकी अनुकूलता में ही मनुष्य नैतिक रह सकता है- इस धारणा से विरोध है। मनुष्य परिस्थितियों की उपज नहीं है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। भोग-वृत्ति से वह दुर्बल बनता है। कठिनाइयों को सहन करने की क्षमता नष्ट हो जाती है, मनुष्य परिस्थिति से दब जाता है। आध्यात्मिकता का प्रवेश-द्वार है- त्याग। त्याग से आत्मा का बल बढ़ता है। आत्म-बल का मतलब है- भौतिक आकर्षण का अभाव। पदार्थ का आकर्षण मनुष्य में दैन्य भरता है। पदार्थ का आकर्षण टूटता है, आत्म-बल सहज उदय हो जाता है। आत्मोदय की धारणा में परिस्थिति गौण बन जाती है। परिस्थिति की प्रतिकूलता जन-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधारण के लिए एक प्रश्न है। किन्तु मनुष्य को परिस्थिति का दास बनाकर उसे नहीं सुलझाया जा सकता। परिस्थिति के रूपान्तरण से मनुष्य की वृत्ति का रूपान्तरण हो जाता है। वह कोई नैतिक विकास नहीं है। साम्यवादी अर्थतन्त्र में एक प्रकार की अनैतिकता मिट जाती है, पर क्या अनैतिकता के सभी प्रकार मिट जाते हैं? क्या उस व्यवस्था में अपराध और अपराधी नहीं होते? क्या राजनैतिक स्पर्धा नहीं होती? किसी भी किसी का आकलन करने के लिए संख्या का उपयोग होता है। अणुव्रत-आंदोलन जन-मानस को कितना छू रहा है, इसकी जानकारी के लिए अणुव्रतियों की संख्या की जाती है। पर आंदोलन का विश्वास संख्या में नहीं, व्यक्तित्व में हैं। व्रत की सफलता संख्या के विकास से नापी जानी है। चरित्र-सम्पन्न व्यक्ति संख्या में भले ही थोड़े हों, समाज के लिए पथदर्शक बन सकते हैं। व्रतों को स्वीकार कर उनके आचरण से जी चुराने वाले आंदोलन को प्रभावशाली नहीं बना सकते और अपना भी भला नहीं कर सकते। आंदोलन की भावना जन-जन तक पहुंचनी चाहिए। फिर कोई अणुव्रती बने या न बने, इसकी चिन्ता आंदोलन के संचालकों को नहीं होनी चाहिए। जो अणुव्रती बनें, उन्हें मार्ग-दर्शन मिले- इस दृष्टि से संख्या करना उचित लगता है।

2.11 सारांश

संयम का अर्थ ही विघटन है। इसका मूल व्यक्तिवाद है। व्यक्ति का अपने लिए अपने पर अपना जो नियन्त्रण है, वह संयम है। इसका संघटन हो ही नहीं सकता। अणुव्रत-आंदोलन कोई संघठन नहीं है। इसमें पद और पदाधिकारी भी नहीं है। यह व्रतों के अनुशीलन की समान भूमिका है। कुछ लोग अपने को बड़ा मानते हैं, वे व्रत लेने में सकुचाते हैं। उनके विचार से व्रत लेने की आवश्यकता छोटों को ही है। किन्तु यह विचार सही नहीं लगता। व्रत मन का दृढ़ संकल्प है। संकल्प की दृढ़ता के बिना बुराई से बचना सरल नहीं है। बड़ों का संकल्प सहज-भावतय: दृढ़ ही होता है। संकल्प एक सहज आलम्बन है, जो व्यक्ति को फिसलने से बचाता है। अत: अणुव्रती की पात्रता व्यक्ति के उदात गुणों से चरित्रार्थ होती है।

2.12 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न

1.	भारत का संविधान सब लागू हुआ था-	(अ) 1950	(ब) 1947	(स) 1952
2.	आध्यात्मिक व्यवहार की स्वीकृति के मुख्य अंग के कितने बिन्दु है।	(अ) 9	(ब) 11	(स) 12
3.	अणुव्रत आन्दोलन के मूल आधार कितने हैं?	(अ) 3	(ब) 5	(स) 7
4.	असत्य के कितने कारण बताये गये हैं?	(अ) 4	(ब) 5	(स) 6
5.	आचार्य तुलसी का जन्म कब हुआ था?	(अ) 1914	(ब) 1917	(स) 1922
6.	आचार्य तुलसी ने कब पथ-विसर्जन किया था?	(अ)1994	(ब) 1997	(स) 1996

(ब) लघु निंबधात्मक प्रश्न

1. अणुव्रत आन्दोलन किन परिस्थितियों में प्रारंभ हुआ?
2. अणुव्रत आन्दोलन का मूल आधार क्या है?
3. अणुव्रत आन्दोलन व्यवस्था में सुधार करता है कि वृत्ति में ....
4. आचार्य तुलसी के अहिंसक प्रयोगों का परिचय है?
5. अणुव्रती को पात्रता का वर्णन करें।

(स) निंबधात्मक प्रश्न

1. अणुव्रत आन्दोलन का परिचय देते हुए इसके स्वरूप का वर्णन करे।
2. अणुव्रत आन्दोलन के औचित्य पर प्रकाश डाले।
3. अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक का परिचय दें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-3 : नैतिकता एवं अनैतिकता

संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 नैतिकता क्या?
3.3 विवेक द्वारा ज्ञान प्राप्ति
3.4 अच्छाई और बुराई का ज्ञान
3.5 अच्छाई बुराई की आपसी निर्भरता
3.6 चरित्र गठन में प्रेरक
3.7 नैतिकता का आधार
3.8 नैतिक जीवन की कार्यशीलता
3.9 नैतिक नियमों और हितों के तादात्म्य का सिद्धान्त
3.10 नैतिक जीवन के आदेश
3.11 नैतिक मानक
3.12 नैतिक विकास क्यों?
3.13 नैतिक विकास की भूमिका
3.14 अध्यात्म और नैतिकता
3.15 क्या नैतिकता परिवर्तनशील है?
3.16 अहिंसा एवं मूल्य मीमांसा
3.17 निष्ठा
3.18 क्रान्ति का नया आयाम
3.19 क्रान्ति का अर्थ एवं प्रकृति
3.20 क्रान्ति तथा उद्विकास
3.21 सामाजिक क्रान्ति के कारण
3.22 सामाजिक क्रान्ति के प्रकार
3.23 क्रान्ति के परिणाम
3.24 नया आयाम
3.25 सारांश
3.26 अभ्यास प्रश्नावली

3.0 प्रस्तावना

नैतिकता क्या ? अनैतिकता का मूल, नैतिक विकास क्यों? अध्यात्म और नैतिकता, अहिंसा एवं मूल्य मीमांसा, क्रान्ति का नया आयाम।

जिस संसार में हम रहते हैं वह अच्छाई और बुराई दोनों का मिश्रण प्रतीत होता है। परन्तु अच्छाई क्या है और बुराई कहाँ से आती है? यदि कोई ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है, तो वह बुराई करने की आज्ञा क्यों देता है? यदि अच्छाई और बुराई का मानव स्वभाव से सह अस्तित्व है, तो फिर मनुष्य केवल अच्छाई की ओर ही कैसे अग्रसर हो सकेगा? क्या अच्छाई बुराई से निश्चित रूप से पृथक् है? वह कौन वस्तु है जो अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा बनाती है? ऐसे ही अनेक प्रश्न इस संसार में मानव के आगमन काल से, मानव को परेशान करते आये हैं। बुराई की समस्या आज भी एक गंभीर समस्या बनी हुई है। इन प्रश्नों का कोई संतोषसजनक उत्तर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तब तक नहीं मिल सकता जब तक जिन शब्दों का हम प्रयोग करते हैं, उनके अर्थों का अभिप्राय, हमारे मन में स्पष्ट न हो। सब अवस्थाओं में जब हम किसी वस्तु को अच्छा या बुरा कहते हैं तो हमारा निर्णय उपयोगिता के आधार पर निर्धारित होता है। विषय-सुख की दृष्टि से वह वस्तु अच्छी है जो मनोहर और रुचिकर है और बुरी यदि वह अप्रिय या अरुचिकर है। ललित कला की दृष्टि से वह कला का नमूना अच्छा है जिसके सौन्दर्य में हम खो जायें, चाहे वह सौन्दर्य गृह-निर्माण, मूर्तिकला, नृत्य, संगीत या कविता से सम्बन्धित हो।

3.1 उद्देश्य

प्रिय विद्यार्थियों, अब तक के दो अध्यायों के अन्तर्गत हमने अणुव्रत दर्शन एवं आन्दोलन के प्रयोगात्मक स्वरूप की जानकारी प्राप्त की। इस पाठ के अन्तर्गत नवीन क्रान्ति के रूप में अणुव्रत आन्दोलन के सन्दर्भ में नैतिक दर्शन एवं प्रयोग के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करेंगे। इस पाठ में निम्न बिन्दुओं को विचार का केन्द्र बनाया जायेगा :-

3.2 नैतिकता क्या?

नैतिक दृष्टि से विचार करते समय जब हम 'अच्छा' शब्द का प्रयोग करते है तो उसका तात्पर्य अभ्युदय और सत्कर्म दोनों से ही होता है और 'बुरा' शब्द इनसे उलटे अर्थों के लिये प्रयोग किया जाता है। विस्तृत दृष्टि से 'अच्छे' का सदा मतलब होता है अभीष्ट और 'बुरे' का मतलब होता है अवांछनीय। 'अच्छे' से तात्पर्य होता है वह जिसका हम स्वागत करते हैं, जिसकी प्राप्ति की ओर सदा संलग्न रहते हैं तथा जिसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और जिसको सुरक्षित रखने के इच्छुक रहते हैं। 'बुराई' से तात्पर्य होता है वह जिससे हम दूर रहना या बचना चाहते हैं, जो अमान्य है और जिसका हम सभी प्रकार से विरोध करते हैं। यह सब हम अपने जीवन के दैनिक कार्यों के प्रत्येक 'अच्छे-बुरे' स्तर पर देखते हैं, भले ही उसका सम्बन्ध चाहे विषय-सुख से हो या ललित कला से हो या नैतिकता से हो।

नैतिकता शब्द का अनुवाद ऐथिक्स (मॉरेल) है। ऐथिक्स शब्द की व्युत्पत्ति इथॉस तथा ग्रीक शब्द ऐथिका से है। लैटिन शब्द 'मॉरस' से मॉरेल शब्द व्युत्पन्न है। ऐथिका, इथास या ऐथिक्स शब्द का अर्थ रीति, प्रचलन अथवा जनसमूह की आदतों से सम्बन्धित है। नैतिक दर्शन या मॉरल फिलास्फी नीति या ज्ञान के प्रति स्वाभाविक प्रेम अथवा जिज्ञासा का शास्त्र है।

मूल रूप से ऐथिक्स का सम्बन्ध तीन प्रश्नों से है : (1) हमें क्या करना चाहिए? (2) अच्छे का अर्थ क्या है? तथा (3) क्या हम वह सब करने के योग्य हैं जो हमें करना चाहिए? 'जेम्स हेस्टिंग्स' के अनुसार नैतिक दर्शन की विषय वस्तु मानव आचरण एवं चरित्र है, तथा मानव आचरण और चरित्र के निर्धारक तत्त्व नैतिक मूल्य हैं। समाजशास्त्र जो कि समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करता है, उसमें नैतिकता अथवा चरित्र का अध्याय आज तक नहीं पढ़ाया गया। किन्तु मूल्य (वेल्यु) तथा प्रतिमानित व्यवहार (नार्मस) समाज शास्त्र की विषयवस्तु अवश्य है। मूल्य का अर्थ ऐच्छिक लक्ष्य तथा नार्मस वह साधन है जिनके माध्यम से लक्ष्य की प्राप्ति की जाती है। एक व्यक्ति में एक साथ कई मूल्य होते हैं। जिनसे उसका ''वेल्यु सेट'' बनता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से व्यक्ति अथवा समाज अपने मूल्यों या ऐच्छिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जो प्रयास करता है उन प्रयासों को ही ''सामाजिक क्रिया'' कहा गया है। इन समस्त विश्लेषणों से यह स्पष्ट होता है कि मूल्य, इथॉस के अत्यन्त निकट है। भारतीय दर्शन परम्परा में नैतिकता एवं नीति की विशिष्ट संकल्पना का दर्शन होता है। संस्कृत में नीति की व्युत्पत्ति 'नी' धातु से है, जो 'प्रापण' (प्राप्त कराना, आगे ले जाना, नेतृत्व करना, स्थिर करना आदि) के अर्थ में प्रयुक्त होती है। इसी से नय (तर्कशास्त्र) और न्याय (निष्पक्ष निर्णय) शब्द भी निकले हैं। इसका सामान्य अर्थ है मानव-व्यवहार का उचित अथवा न्यायसंगत होना। नीति के ही अर्थ में उसके पर्याय 'धर्म' और 'आचार' का प्रयोग भी संस्कृत-साहित्य में प्रचुरता से हुआ है। वैदिक संस्कृत में नीति के लिए 'ऋत' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है 'नियम' अथवा 'सुव्यवस्था'। धर्म के समान ही 'नीति' का भी व्यापक अर्थ स्वीकार किया गया है। 'कामन्दक-नीतिसार', 'शुक्रनीतिसार' और 'नीतिवाक्यामृत' में 'नीति' शब्द का ग्रहण 'राजनीति' के अर्थ में हुआ है। कामन्दक ने दण्डनीति का लक्षण देते हुए 'नीति' शब्द की व्याख्या 'नयनान्नीतिरुच्यते' (नयन करने से नीति कही जाती है) की है। शुक्राचार्य ने नीतिशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी है - ''नीतिशास्त्र सबकी जीविका का साधन, लोक की स्थिति बनाये रखने-वाला, धर्म, अर्थ और काम का मूल और इस कारण से मोक्ष देनेवाला है।'' नीति की इस परिभाषा में नैतिक विकास के सभी स्तरों शुद्ध उपयोगितावाद से परमार्थ तक का समावेश है। आजकल की सरल परिभाषा में नीति वह शास्त्र है, जो शुद्ध तथा अशुद्ध सत्य तथा असत्य, उचित तथा अनुचित अथवा शुभ तथा अशुभ के आधार पर मानक चरित्र का विवेचन करता है। संस्का का ''धर्ममूल'' शब्द इस परिभाषा के निकट है, यद्यपि इसमें अदृष्ट और अपूर्व- दो रहस्यवादी तत्त्व-सम्मिलित है। ''मोक्षप्रद'' शब्द तो नीति का आध्यात्मिक, अर्थात् उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नीति की परिभाषा में शुद्ध और अशुद्ध का सम्बन्ध पदार्थ अथवा क्रिया के गुण से है, सत्य और असत्य का सम्बन्ध तर्क अथवा कारण से है, उचित और अनुचित का सम्बन्ध सामाजिक प्रथा या परम्परा से है, शुभ और अशुभ का सम्बन्ध जीवन के मूल्यों से है। वास्तव में, अपने पूर्ण रूप में, नीति वह शास्त्र है, जो जीवन के मूल्यों का विवेचन करता है। शैशव से लेकर आजीवन मनुष्य विश्व में होने वाली भौतिक घटनाओं के कारणों की जिज्ञासा करता है। इससे ज्ञान और विज्ञान की वृद्धि होती है। इसी प्रकार मानवीय व्यवहारों के बारे में भी उसकी विचिकित्सा होती है। मनुष्य यह कार्य किसलिए करता है, क्यों करता है, इसमें अच्छाई है, आदि प्रश्न उठते रहते हैं, और फिर प्रश्न उठता है : मनुष्य को क्यों होना चाहिए अथवा अच्छे कर्म करना क्यों चाहिए? यह नीतिशास्त्र का केन्द्रीय प्रश्न है। परन्तु इस सम्बन्ध में अन्तिम प्रश्न है: अच्छे होने का उद्देश्य अथवा अच्छा लक्ष्य क्या है? यहाँ नीति का सम्बन्ध जीवन के लक्ष्य से हो जाता है, अर्थात् वह दर्शन-शास्त्र में प्रवेश करने लगती है। इसीलिए भारतीय साहित्य में नीति, धर्म और दर्शन का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है और उनको एक-दूसरे से पृथक् करने की चेष्टा नहीं की गई है। जीवन के अन्तिम लक्ष्य को ध्यान में रखकर नैतिक कर्त्तव्यों का विधान किया गया है। जीवन के मूल्य अथवा पुरुषार्थ चार हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें धर्म और अर्थ साधन मूल्य हैं और काम तथा मोक्ष साध्य। अन्तिम दोनों में भी मोक्ष चरम साध्य है। अत: सामान्य और विशिष्ट कर्त्तव्यों का विधान इन्हीं की प्राप्ति के लिए किया गया है। केवल मानव समाज के लिए ही नहीं, अपितु विश्व के प्राणी वर्ग के लिए भी कुछ ऐसे उपासना करने योग्य उपयोगी तत्व हैं, जो जीवन को पवित्र, संयमित और विकसित करने के लिए अनिवार्य साधन है, शब्दों में वे तत्व कहे गये हैं संख्या से 3 - 1. धर्म, 2. दर्शन, 3. नीति। धर्म चिन्तनात्मक, दर्शन अन्वेषणात्मक और नीति अरणात्मक है। अब विचार यह है इन तीनों के स्वरूप में अन्तर क्या है? कारण कि उन तत्वों के ज्ञान के बिना जीवन में यथार्थ रूप से उनकी योग्य उपासना नहीं हो सकती। उन तत्वों के स्वरूप को व्याख्या इस प्रकार है -

1. जो वस्तु का स्वाभाविक स्वरूप है वह धर्म है, जैसे - आत्मा के ज्ञान, दर्शन, शांति सुख और शक्ति।
2. आत्मा के धर्मों को जो प्रमाण, नये और लौकिक युक्तियों से निर्विरोध सिद्ध करता है वह दर्शन है।
3. मानव समाज जिसके द्वारा अपने सदाचार एवं सत्कर्तव्य में स्थापित होता है उसे नीति कहते हैं।

जब मानव वस्तुतत्व या आत्मतत्व पर श्रद्धा न रखकर हिंसादि पापों से, मद्यपान आदि व्यसनों से तथा अन्याय, अत्याचार आदि कुकृत्यों से अति पीड़ित सन्तप्त होता है, तब धर्म या ईश्वर की शरण में जाता है। जब मानव अनेक विचारों की उलझन में उलझ जाता है अथवा संशय विपर्यय-विमोहात्मक विचारों में व्यग्र हो जाता है अथवा विवाद के गर्त में पतित हो जाता है, उस समय मानव दर्शन की ओर दौड़ लगाता है।

जिस समय मानव सदाचार को भूलकर भ्रष्टाचारी हो जाता है, देश में या समाज के मध्य गौरवहीन हो जाता है, अथवा किं कर्तव्य विमूढ़: होकर विह्वल हो जाता है, उस समय नैतिकता के संरक्षण में आता है।

इससे सिद्ध हो जाता है कि प्रशस्त मानव जीवन के विकास के लिए अथवा सम्पूर्ण अभ्युत्थान के लिए धर्मदर्शन और नीति का समन्वय इस जीवन में आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है। कारण कि नैतिकता मानव जीवन को मनसा, वाचा, कर्मणा धर्म एवं दर्शन के शिखर पर विराजमान कर देती है। उस समय मानव अपने जन्म को सफल बनाकर आत्मानन्द में निमग्न हो जाता है, इस कारण नैतिकता का मूल्यांकन स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य हो जाता है।

जिस प्रकार जैनाचार्यों की दृष्टि में मुक्ति के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का समन्वय अनिवार्य है, जिस प्रकार वैज्ञानिक मार्टिन्यू के मत से लौकिक सिद्धि के लिए विश्वास-विचार और आचार का समन्वय अत्यावश्यक है, जिस प्रकार श्रीकृष्ण की मान्यता में जीवन्मुक्ति के लिए भक्ति ज्ञान-कर्म का समन्वय अनिवार्य है, उसी प्रकार जीवनशुद्धि के लिए धर्म दर्शन एवं नीति इन तीन तत्वों का समन्वय होना अनिवार्य है। इससे प्रमाणित हो जाता है कि नैतिकता का मूल्यांकन मानस पटल पर अंकित करने योग्य है। नैतिकता के बिना मानव में मानवता त्रिकाल में भी संभव नहीं, नीति के अनेक प्रकार होते हैं, यथा - 1. धर्मनीति, 2. राजनीति, 3. अर्थनीति, 4. कामनीति, 5. अरिषड्वर्गनीति, 6. विद्याविज्ञनीति, 7. आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्या) नीति, 8. त्रयोविद्यानीति (वेदवेदांगविद्यात्रयोविद्या) 9. वार्ताविद्यानीति (कृषि, पशुपालन, व्यापार) 10. दण्डनीति, 11. मंत्रीनीति, 12. पुरोहित (राजगुरु) नीति, 13. सेनापति नीति, 14. दूतनीति, 15. चार (गुप्तचर) नीति, 16. विचाग्रोति, 17. व्यसननीति, 18. स्वामीनीति, 19. अमात्य (सचिवप्रधान) नीति, 20. जनपदनीति, 21. दुर्गनीति, 22. कोषनीति, 23. बल (सेना) नीति, 24. मित्रवृत्ति नीति, 25. राजसंरक्षणनीति, 26. दिवसानुष्ठाननीति, 27. सदाचारनीति, 28. व्यवहारनीति, 29. विवादनीति, 30. षाडुगण्यनीति (संधिविग्रह आदि), 31. युद्ध नीति, 32. विवाहनीति, 33. प्रकीर्णकनीति (साधारण विविध विषयक नीति)।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.3 विवेक द्वारा ज्ञान प्राप्ति

यह कहा जाता है कि संसार में न कुछ अच्छा है और न कुछ बुरा है, केवल विचार ही उसको ऐसा बना देते हैं। यह सत्य है परन्तु विचार द्वारा ही तो यह निर्णय लेना संभव होता है कि अमुक कार्य उचित है या अनुचित। विचार का प्रमुख कार्य है हमारे विवेक को जागृत करना। विचार प्रतिक्रिया अपनी प्रकृति द्वारा 'द्वैत' ढंग से कार्य करती है और विपरीत द्वन्द्वों को जैसे सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, प्रेम-घृणा, अच्छा-बुरा इत्यादि, जिसका मनुष्य इस जगत् में अनुभव करता है, प्रस्तुत करती है। यह भेदवृत्ति ही पृथकत्व-ज्ञान को जन्म देती है, साथ ही मानव ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों को आधार प्रदान करती है। यदि संसार में अच्छाई के अतिरिक्त और कुछ न होता या बुराई के अतिरिक्त और कुछ न होता, तो ज्ञान भण्डार की रचना असंभव हो जाती। हम इस विश्व को वैसा ही जान सकते हैं जैसा हमारा मस्तिष्क उसे प्रदर्शित करता है। विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ अपूर्ण यंत्र हैं, और इनके द्वारा वस्तुओं का वास्तविक ज्ञान कदापि नहीं मिल सकता। यद्यपि बाहरी जगत्-सम्बन्धी हमारा इन्द्रिय-ज्ञान मायावी तथा छलने वाला दृश्य प्रस्तुत करता है, फिर भी वह मानव की उन्नति में सहायक सिद्ध होता है और उसकी चेतना को उच्चतम बनाता है। इसका कारण यह है कि मायावी परिवर्तनशील दृश्य को चीर कर ही मानव, सत्य-नियमों को ढूंढ पाता है। समस्त मानव ज्ञान का उद्देश्य पदार्थों और घटनाओं के पीछे छुपे सत्य की खोज करना है। यदि भेद करने के लिए कुछ भी न हो तो अनुभव करने के लिये भी कुछ नहीं रहता। अतः मानव सदा सद्-असद् में विवेक करता रहता है। यथार्थ ज्ञान की यही खोज मानव को निरन्तर क्रियाशील बनाये रखती है। मानव की इस क्रियाशीलता का महान् स्रोत उसका अपना मस्तिष्क है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वास्तव में मानव अपने द्वारा ही निर्मित जगत् में क्रियाशील रहता है। उसकी सृष्टि रचना सापेक्ष सत्ता को प्रस्तुत करती है। जब तक वह इस सापेक्ष सत्ता को ही केवल सत्य मानने का भूल करता है तब तक उसको चिरस्थायी सुख-शांति नहीं मिलती क्योंकि जैसे वह एक समस्या का समाधान करता है, दस और समस्यायें उठ खड़ी होती है और एक दिन उसकी जीवनलीला समाप्त होने का समय आ जाता है, पर उसकी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा अपूर्ण रह जाती है।

बाहरी जगत् में प्राप्त प्रत्येक उपलब्धि के बाद मानव की अन्तरात्मा में यह प्रश्न बारम्बार उठता है कि इसके आगे क्या है? क्या यही पूर्ण सत्य है या इन दैनिक जीवन की घटनाओं और अनुभवों के परे भी कोई महान् सत्य है? प्रत्येक मानव के जीवन में आत्म-सम्बन्धी श्रेयस्कर भावनायें जागृत होती है जिनका मूल्य शरीर सम्बन्धी श्रेयस्कर वस्तुओं से पृथक् और विशेष होता है क्योंकि वही एक यथार्थ श्रेयस् है, जो जगत् के अन्य श्रेयसों से परे है।

3.4 अच्छाई और बुराई का ज्ञान

अच्छाई और बुराई की चेतना मानव का एक विलक्षण गुण है। यह उसे नैतिक चुनाव करने की और निर्णय लेने की क्षमता प्रदान करता है। मानव की जागृति पशु-स्थिति से अच्छाई-बुराई के ज्ञान की ओर, मूढ-निर्देशिता से उद्देश्ययुक्त सदाचार या विचारयुक्त दुराचार की ओर परिवर्तन, संसार में एक नई वृत्ति को जन्म देता है। यह अतिरिक्त नैतिक वृत्ति ही मानव को पशुत्व से पृथक् करती है और उसको उच्चकोटि की बुद्धि प्रदान कर, सारी सृष्टि के ऊपर उसकी प्रतिष्ठा को स्थापित करती है। पर इस चुनाव क्षमता से मानव के जीवन कार्यों में अनिश्चितता का पैदा होना स्वाभाविक है। संसार की मुख्य समस्या अच्छाई-बुराई बीच किसी विवाद को लेकर नहीं है, समस्या इस बात को लेकर है कि क्या अच्छा है और इस विषय में मतभेद है, वस्तुओं के कारण नहीं बल्कि वस्तु सम्बन्धी मतों की व्यापकता से मानव जाति व्याकुल है। अच्छाई क्या है, इस विषय पर मनुष्यों के बीच नाना प्रकार के विचार हैं, क्योंकि उनका आंतरिक ज्ञान और दूरदर्शिता की शक्ति भिन्न-भिन्न स्तर की होती है। इसी कारण समान लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वे भिन्न-भिन्न साधनों को उचित ठहराते हैं। परन्तु शरीर सम्बन्धी अच्छाई-बुराई के सम्बन्ध में कोई विशेष मतभेद नहीं होता। स्वस्थ शरीर, पुष्टता, खाद्य पदार्थों की अधिकता, भाग्यशाली होना और अच्छे मित्रों का होना, सारी मानव जाति में अच्छा माना जाता है। बीमारी, आकस्मिक घटनायें, मृत्यु, गरीबी और प्रकृति की विनाशकारी शक्तियाँ, मानव जगत् में बुरी समझी जाती हैं। इस प्रकार के अच्छे और बुरे मामलों में मतभेद अच्छाइयों और बुराइयों की संख्या के विषय में है और किस विशेष अच्छाई या बुराई को कितना महत्व दिया जाये इसमें है। परन्तु अच्छाई और बुराई जो मनुष्य करते हैं, जब उसको नैतिक दृष्टि से देखते हैं तो मनुष्यों के बीच क्या अच्छा और बुरा, इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विश्वास देखने को मिलते हैं। नैतिक विश्वासों में अंतर इसीलिए होता है कि मानव अपने प्राकृतिक स्वभाव के कारण, केवल अधूरे सत्य की झलक देख सकता है, सम्पूर्ण सत्य की नहीं। सच्चा विश्वास, पूर्ण अनुभूति के अनुकूल होना चाहिए। अतः यह पूछना उचित होगा कि अच्छाई बुराई का अंतिम सत्य के साथ कैसा सम्बन्ध है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अच्छाई और बुराई एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सत्य अपने सापेक्ष रूप में उस एक सत्ता का दृश्य प्रस्तुत करता है जो नित्य चेतन, स्वत: तेजस्वी और सर्वव्यापक है, जिसकी अनुभूति निर्मल प्रकाश, निर्मल ज्ञान और निर्मल आनन्द के रूप में हो सकती है। सत्य अपने निरपेक्ष रूप में अच्छाई और बुराई दोनों से परे है। फिर भी अपने सापेक्ष अर्थात् अपने व्यक्त रूप में अच्छाई और बुराई दोनों का मिश्रण प्रतीत होता है। व्यक्त रूप को अव्यक्त रूप की परछाई कहना ही उचित होगा क्योंकि तीव्र प्रकाश की छाया अतिगहन होती है। जो असीम है वह मानव की परिमित ज्ञानेन्द्रियों तथा सीमित चेतना के कारण, सदा परिवर्तनशील रूपों में दिखाई देता है। इसलिए सत्य के व्यक्त रूप में, परिवर्तन के अतिरिक्त और कुछ नित्य नहीं प्रतीत होता। उत्पत्ति, पालन-पोषण और संहार का कार्य ऊपरी तल पर एक साथ चलता रहता है, पर नींव में सदा शांति और स्थिरता रहती है।

अत: निरपेक्ष की दृष्टि से, जो कार्य प्रभु की ओर ले जाता है वह अच्छा है और जो उसको प्रभु से दूर ले जाता है वह बुरा है। दूसरे शब्दों में प्रभु के गुण ही अच्छाई के लक्षण बन सकते हैं। जो यथार्थ है वह निश्चित है, रचनात्मक है, अंशों को जोड़ने वाला है और भिन्नता में एकता स्थापित करने वाला है। इसके विपरीत, बुराई निषेधात्मक है, विनाशकारी है, टुकड़े करने वाली है और जहाँ एकता और अनुरूपता है वहाँ भी विभिन्नता और भेद उत्पन्न करने वाली है। निरपेक्ष-सापेक्ष और अच्छाई-बुराई के बीच एक ऐसा सम्बन्ध है जो एक-दूसरे पर निर्भर न होकर एक दूसरे का विरोधाभास है जैसे प्रकाश और परछाईं के बीच। परछाईं की स्थिति प्रकाश पर निर्भर है परन्तु प्रकाश की स्थिति पदछाईं पर निर्भर नहीं होती। यद्यपि अच्छाई और बुराई दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में सत्य है पर वे व्यक्तता के लिये अनावश्यक नहीं, केवल सहायक हैं। निरपेक्ष के व्यक्त होने में नित्य और अनित्य दोनों अवस्थाएँ अन्तर्निहित हैं। नित्य परम सत्य है, अनित्य सापेक्ष सत्ता है जो नित्य की सत्ता को विकसित और स्थापित करती है।

3.5 अच्छाई बुराई की आपसी निर्भरता

अच्छाई और बुराई परस्पर सम्बन्धी शब्द हैं। मानव को एक के बिना दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। पूर्ण में अपूर्ण लक्षित है। जो अच्छा नहीं है वह बुरा है और जो बुरा नहीं, वह अच्छा है। एक दूसरे की पहचान आमने-सामने रखकर ही हो सकती है। अच्छाई और बुराई वस्तुओं के आपसी सम्बन्ध में स्थित होती है न कि उन वस्तुओं में। बुराई वह आवश्यक स्थिति है जिसके बिना अच्छाई का आभास नहीं हो सकता। यदि बुराई नहीं तो अच्छाई भी नहीं, जैसे अंधकार विवेकरहित विषय नहीं है उसी प्रकार बुराई भी प्रकाश अंधकार से सार्थक बनती है, जहाँ प्रकाश नहीं वहाँ अंधकार है। इसी प्रकार अच्छाई बुराई से सशक्त बनती है, जैसे जो अच्छा नहीं, वह बुरा है। कुछ बुराई हमारे ऊपर आ पड़ती है जिसको हम भोगते हैं और सहते हैं दूसरी ओर कुछ बुराई हम करते हैं। इससे पूर्ण पहचान करने का ढंग स्पष्ट नहीं होता। जब तक मानव का सापेक्ष दृष्टिकोण है, तब तक सम्पूर्ण अच्छाई या सम्पूर्ण बुराई का होना संभव नहीं। दोनों एक दूसरे से अनेक प्रकार से सम्बन्धित है। अच्छाई और बुराई के आकार सदा बदलते रहते हैं और उनका रूप, रंग, समय, स्थिति और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। जो एक समय और स्थिति में बुरा समझा जाता है वह दूसरी स्थिति और समय में अच्छा। इसी प्रकार जो एक स्थिति में अच्छा हो, वह दूसरी स्थिति में बुरा हो सकता है। कभी-कभी हम यह भी देखते हैं कि जिसको हम बुरा समझते हैं, उनका परिणाम अच्छा होता है, और जिसको हम अच्छा समझते हैं उसका परिणाम बुरा होता है। ऐसा हमारी मानसिक परिमितता के कारण होता है। हमारा मस्तिष्क, इन्द्रिय भोग-विलास में भ्रमण करने के कारण उसका आदी हो जाता है और वस्तुओं की यथार्थता की खोज करने में असमर्थ हो जाता है। परन्तु यदि मानव अपने मस्तिष्क को अखण्ड दृष्टि के योग्य बना ले, तब वह सम्पूर्ण अच्छाई की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। पर ऐसी सम्पूर्णता बुराई को कदापि नहीं मिल सकती, क्योंकि यदि बुराई में संपूर्णता या जाये, तो वह उन सब वस्तुओं का नाश कर देगी, जहाँ वह प्रस्तुत होगी और प्रत्येक वस्तु की सत्ता को समाप्त कर देगी। बुराई का अच्छाई से सम्बन्ध जितना दूरगामी होता जायेगा, उतनी ही अधिक बुराई बनती जायेगी।

तनिक विचार द्वारा यह स्पष्ट हो जायगा कि अच्छाई और बुराई के बीच अंतर जाति का नहीं, केवल मात्रा का है। जो बुरा प्रतीत होता है, वह 'अपरिपक्व अवस्था' में अच्छा है - आगे विकसित हो रहा है, परन्तु पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाया, ऐसी अवस्था में, उससे किसी प्रकार की आशा करना ऐसा है जिसका अभी समय नहीं आया, इसलिये शीघ्रता में हम उसे बुरा कह देते हैं। बुराई अप्रत्यक्ष रूप से अच्छी है, क्योंकि बुद्धिमान् लोगों को उससे दूर भागने का प्रोत्साहन मिलता है। क्योंकि बुराई का अस्तित्व है, अच्छाई का बढ़ावा मिलना ही चाहिए। अपूर्ण बुराई का होना सार्वलौकिक अच्छाई करने के हित में है। यदि प्रकृति के नियम किसी व्यक्ति को आघात पहुँचाते हैं, तो प्रकृति के दण्ड को संतोष के साथ सहन करना चाहिए, क्योंकि जिस बुराई का दण्ड हम भोगते हैं उससे महान् लौकिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लक्ष्य की सेवा होती है। बुराई की अनुशासन क्षमता की अच्छाई से कौन इनकार कर सकता है? यह बात सब लोग मानते हैं कि नैतिक प्राणियों को भला बनने, और भलाई करने के लिये, बुराई का होना आवश्यक है।

3.6 चरित्र गठन में प्रेरक

प्रत्येक अच्छाई और बुराई जो मानव के सामने आती है उसको प्रकति कृपा समझो, क्योंकि मनुष्य दोनों से ही सीखता है। भले कर्म उसको ऊपर उठाते हैं, और बुरे कर्म अपने दुष्परिणामों द्वारा मानव को सचेत करते हैं, अत: अच्छाई बुराई दोनों का चरित्र गठन करने में बराबर का भाग है। मानव जीवन अच्छाई-बुराई की शक्तियों के बीच एक निरन्तर संघर्ष है। मानव इन दो शक्तियों की खींचतान के कारण अपने आपको उनके बीच फँसा हुआ अनुभव करता है। पर स्वभावत: वह स्थिर होकर नहीं बैठ सकता। किस शक्ति की ओर खिंचे, इसका निर्णय उसे करना होता है। उसका यह निर्णय एकतरफा तो अपने स्वभाव और दूसरी ओर अपने परिवेश, जिसमें वह रहता है, उससे प्रभावित होगा। जो भी वह निर्णय लेगा उसका उसकी संकल्प-शक्ति पर प्रभाव पड़ेगा और यह संकल्प-शक्ति फिर उसके चरित्र और आचरण पर प्रभाव डालकर उसके जीवन लक्ष्य को निर्धारित करेगी। इस महत्वपूर्ण चुनाव द्वारा मानव अपने भाग्य को बनायेगा या बिगाड़ेगा। यदि वह बुरी शक्तियों की ओर झुकेगा तो छिन्न-भिन्न करने वाली शक्तियाँ उसे वर्तमान स्थिति से पाताल की गहराई में ढकेल देंगी। इसके विपरीत यदि वह अच्छाई के मार्ग को अपनायेगा, तो रचनात्मक शक्तियाँ उसको इतना शक्तिशाली बना देंगी कि वह बढ़ते-बढ़ते शिखर पर पहुँच जायेगा और उन सब कठिनाइयों और बाधाओं को पार कर लेगा, जो कि बुराई की शक्तियों के कारण, उसके मार्ग में उपस्थित होंगी।

तथापि बहुधा यह देखा गया है कि मानव इन अच्छाई-बुराई की शक्तियों को अपने वश में करने के लिये पूर्ण रूप से शक्तिशाली नहीं हो पाता। कभी-कभी उसका मन, हृदय और इन्द्रियाँ उसकी अपनी अहं भावना से प्रेरित नहीं होती किन्तु विश्वव्यापी प्रकृति की शक्तियाँ उसको पराजित कर देती हैं और आशा के विपरीत मानव अत्यधिक अच्छाई या बुराई की ओर चलने को बाध्य हो जाता है। इन अदृश्य शक्तियों के दबाव में आकर मनुष्य या तो दिव्य प्रकाश सत्य की ओर खिंच जाता है, या मानवता की भावना को दहला देने वाली भयंकर बुराई का रास्ता पकड़ने के लिये विवश हो जाता है। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव का इस संसार में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, जैसाकि अपनी मूर्खता में वह अक्सर समझ बैठता है। वास्तव में वह संसार का अभिन्न अंग होने के कारण ऐहिक नियमों के नियंत्रण में जकड़ा हुआ है। मानव द्वारा ऐहिक प्रकृति अपनी पूर्ण सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास कर रही है। वह अपना कार्य दोनों अच्छाई और बुराई द्वारा करती है, इस उद्देश्य से कि वह मानवता को द्वैत अवस्था से परे नित्य अच्छाई की ओर ले जाये।

उपरोक्त तर्क द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुराई का स्रोत खोजें तो मिलता है मानव की अपूर्णता, उसकी अपनी परिमितता और अभाव के बोध में, और मानवी होने के नाते, उसका व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की असमर्थता में। विचार-शक्ति ही मानव को, उस दुनिया से, जिसका वह अटूट अंग है, पृथक् करती है। इस प्रकार अपने व्यक्तित्व को सीमित कर और केवल अपने शरीर से ही एक रूप होने से उसमें अहंकार भावना की उत्पत्ति होती है जो संपूर्ण विश्व की सामञ्जस्यता को भंग करती है, यह स्वार्थ की भावना ही मानव-जाति के सारे दु:खों और क्लेशों का मूल कारण है। यद्यपि अच्छाई और बुराई की दोनों भावनायें मानव में एक साथ रहती है, फिर भी बुराई के दुष्परिणाम मानव के लिये सदा चेतावनी होते हैं और यह शिक्षा देते रहते हैं कि उसे निरन्तर अच्छे कामों में संलग्न रहना चाहिए। अच्छाई और बुराई एक दूसरे से परस्पर विरोधी होने के कारण पृथक् है। भलाई को ऊपर उठाने की शक्ति और बुराई को नीचे गिराने की शक्ति अच्छाई को अच्छा और बुराई को बुरा बनाती है। ईश्वर ही केवल अच्छा है और मानव को अच्छा बनने का प्रेरक है। वह बुराई करने की अनुमति केवल इसलिए देता है, कि ईश्वर के दिव्य लक्षण प्रकट हो जायें। अंत में मानव जब अपनी पूर्णता, आत्मानुभूति में प्राप्त कर लेता है, तो बुराई की स्थिति कुचली गयी और जीती गई जैसी होती है। मानव का पूर्णता की ओर यह क्रमिक विकास उसके जीवन की दिलचस्पियों में जोश भर देता है क्योकि उसे बुराई, परिमितता और अभाव के साथ संघर्ष करने के लिये अत्यधिक बुद्धिमत्ता और चतुराई से काम लेना आवश्यक है।

मानव को अच्छाई और बुराई का ज्ञान होने के लिये केवल इन दो बातों का ध्यान रखना चाहिए, बुराई की संभावना और नैतिक चुनाव करने का अवसर। परन्तु कोई भी मनुष्य, जिसमें थोड़ी सी भी समझ है, वह ऐसे मार्ग को पसंद नहीं करेगा जो मानवता के प्रतिकूल हो। मानव जाति के प्रति ईमानदारी प्रकट करने के लिये, मानव को अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा का सदा ध्यान रखना चाहिये। मानव का गौरव पशु के समान भोग-विलास में नहीं है और न ही अपने साथियों के ऊपर अत्याचार करने में। उसकी महानता इस बात में है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उच्चकोटि की नैतिकता की मिसाल पेश करे और अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता रहे। मानव गौरव की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

स्थापना करने के लिये इस सिद्धान्त का सदा ध्यान रखना चाहिये कि जो मानव को मानव से पृथक् करता है वह बुरा है और जो मानव जाति में एकता लाता है वह अच्छा है। अच्छाई या बुराई जो एक मानव दूसरे के लिये करता है उसका फल उसके करने वाले ही को मिलता है। जिस प्रकार कृपालु व्यक्तियों द्वारा भलाई के कार्य भलाई के करने वाले और जिनके प्रति भलाई की गई दोनों को सुखी बनाते हैं उसी प्रकार बुराई करने वाला मनुष्य जिनके प्रति दुर्व्यवहार किया उनकी पीड़ा और कष्टों से अपने आपकों वंचित नहीं रख सकता।

वास्तव में नैतिकता का अर्थ है व्यवहार की शुद्धि। समाज में परस्पर व्यवहार चलता है। उस व्यवहार में प्रामाणिकता बरतना, सचाई रखना - यह नैतिकता है। दूसरों के अधिकारों को हड़पने की चेष्टा नहीं होती, यह नैतिकता का मूल है। मूल बलहीन हो रहा है। इसलिए बहुत छोटी बातें भयंकर बन रही हैं। यदि उनका मूल दृढ़ होता तो इन छोटी-छोटी बातों को व्रत का रूप देने की आवश्यकता नहीं होती। व्रत संयम है। संयम का स्वरूप विभक्त नहीं होता। व्रत एक ही है। वह है अहिंसा। वैयक्तिक साधना में अहिंसा का अभिन्न रूप ही पर्याप्त था। उसका सामूहिक आचरण हुआ तब उसकी अनेक शाखाएं निकलीं। व्रतों का विकास हुआ। सत्य अहिंसा का नैतिक पहलू है। अपरिग्रह उसका आर्थिक पहलू है। अचौर्य और ब्रह्मचर्य उससे सामाजिक पहलू हैं। यथार्थ पर पर्दा डालने के लिए हिंसा का प्रयोग होता है, तब वह असत्य कहलाती है। पदार्थ-संग्रह के लिए उसका प्रयोग होता है, तब वह परिग्रह कहलाती है। वासना का रूप ले वह अब्रह्मचर्य बन जाती है।

समाज के तीन पहलू हैं - आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए आर्थिक आयोजन, आर्थिक व्यवस्था के लिए राजनीतिक एवं सामाजिक संगठन और जीवन की उच्चता के लिए नैतिक विकास आवश्यक माना जाता है। यद्यपि नीति को विकास-क्रम में शास्त्रीय रूप पीछे मिला है, तथापि नीति अपने अस्पष्ट रूप में आदिम काल से मानव-जीवन का नियमन परम्परा, परिपाटी अथवा प्रथा के रूप में करती आई है। वास्तव में नीति अथवा धर्म ही मानव-जीवन की वह विशेषता है, जो पशु-जीवन से उसको पृथक् करती है- आहार, निद्रा, भय और मैथुन पशु और मनुष्यों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं। मनुष्यों में धर्म ही विशेष है। धर्महीन मनुष्य पशु के समान होते हैं। आधुनिक मानवशास्त्री और समाजशास्त्री भी मनुष्य की इस विशेषता को स्वीकार करते हैं। एल.टी. हाबहाउस की आचार-शास्त्र का विकास (मॉरल्स इन इवोलूशन) नामक पुस्तक की भूमिका में मॉरिस जिन्सबर्ग ने लिखा है - जो तत्व मनुष्य-जाति को पशुओं से पृथक् करता है, वह है उसकी शक्ति, जो सामाजिक मूल्यों का निर्धारण और व्यवहार में उनका प्रयोग करती है। सामाजिक मूल्यों से सम्बन्ध रखने वाले नियम केवल प्रथा पर आधृत हैं और प्रथा काम करने का अभ्यास-मात्र नहीं है, एक प्रकार का शासन है। यह वह क्रिया नहीं है, जिसको कोई व्यक्ति सामान्यत: करता है, अपितु वह कर्त्तव्य है, जिसकी अपेक्षा दूसरे लोग उससे करते हैं। इस प्रकार इसमें प्रारम्भ से ही सर्वमान्यता और निष्पक्षता का तत्व रहता आया है किन्तु प्रथा सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया की उपज है, जो एक पीढ़ी को प्रदान करती आई है। मानव-आचार में मुख्य तत्व सामाजिक परम्परा है, शारीरिक वंशानुक्रम नहीं।

इस नीतिशास्त्र का सम्बन्ध अन्य शास्त्रों से भी है, क्योंकि मानव जीवन की आवश्यकताएँ और मूल्य सापेक्ष हैं। भौतिक और रसायनशास्त्र का सम्बन्ध स्थूल जगत् से है। इनके द्वारा मनुष्य अपनी भौतिक परिस्थितियों का नियंत्रण करता है। इनके आधार पर भौतिक घटनाओं की व्याख्या भी वह कर सकता है, परन्तु मानव-व्यवहार की व्याख्या इनके द्वारा नहीं हो सकती। यह सच है कि मनुष्य की बहुत-सी क्रियाएँ मानव-शरीर के भीतर रासायनिक क्रियाओं से प्रभावित होती हैं, शरीर के अंदर ग्रंथियों के विशेष प्रकार के विकार से मनुष्य के स्वभाव में काम, क्रोध, भय आदि की वृद्धि हो जाती है। नैतिक आचरण के लिए शारीरिक स्वास्थ्य और आरोग्य आवश्यक है। बर्नार्ड शॉ ने तो आनन्द की परिभाषा इस प्रकार की है, ''आनन्द क्या है? आनन्द स्वस्थ यकृत् की क्रिया है।'' परन्तु यह सब होते हुए भी भौतिक, रसायन, आयुर्वेदादि शास्त्रों का नीति से सम्बन्ध प्राथमिक है अंतिम नहीं, ये शास्त्र नीति के स्वरूप अथवा उद्देश्य की व्याख्या नहीं कर सकते, केवल उसकी भूमिका तैयार कर सकते हैं।

जीवशास्त्र अथवा प्राणिशास्त्र का नीतिशास्त्र के साथ सम्बन्ध भौतिक और रसायनशास्त्र की अपेक्षा अधिक निकट है। वे प्राणियों में जीवन और शारीरिक व्यापार का विवेचन करते हैं। मनुष्य भी एक जीवन्त प्राणी है। उसकी सहज चेतना और गतिविधि उसके व्यवहार की परिस्थिति का निर्माण करती है। इन्हीं के द्वारा प्राणियों के शरीर और संतति का विकास होता है। इसलिए बहुत-से जीवशास्त्रियों ने नीति के उद्‌भव और विकास की जीवशास्त्रिय व्याख्या की है। उपनिषदों में भी जहाँ मानव के पञ्चकोषों का वर्णन है वहाँ इस बात का संकेत है कि उस समय भी कतिपय चिंतक अन्नमय और प्राणमय कोषों तक ही मनुष्य को सीमित मानते थे। यद्यपि मानव-जीवन की यह व्याख्या अपूर्ण और भ्रान्त है, तथापि इसमें संदेह नहीं कि नीति के कई स्तरों का सम्बन्ध प्राणिशास्त्र से है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मानवशास्त्र, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान नीतिशास्त्र के और भी निकट हैं। नीतिशास्त्र सामाजिक अस्थिपंजर और संगठन के परिज्ञान के लिए सामाजिक शास्त्रों पर अवलम्बित है, क्योंकि नैतिक संस्थाएँ भी सामाजिक संस्थाओं के ही अंगभूत हैं। इसी प्रकार नैतिक तथ्यों और उनके भावुक प्रभाव की जानकारी के लिए नीतिशास्त्र को मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। संस्कृत-वाङ्मय का सम्पूर्ण धर्मशास्त्र (समाजशास्त्र) और योगशास्त्र (चित्तविकलन) नीतिशास्त्र के आधार और अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत हैं। नीतिशास्त्र बहुत-सी स्वयंसिद्धियों को मानकर चलता है, जिनका मनोवैज्ञानिक परीक्षण आवश्यक है, जैसे मनुष्य सदा सुख की खोज में रहता है, मनुष्य में उचित और अनुचित का सहज ज्ञान है। इसी प्रकार नीतिशास्त्र की कुछ सामाजिक मान्यताओं का भी समाजशास्त्रीय परीक्षण आवश्यक है, जैसे सम्पत्ति, मानव-परिवार, विवाह-संस्था की पवित्रता और अनिवार्यता आदि। मनोवैज्ञानिक और सामाजिक क्षेत्रों में नीतिशास्त्र की मान्यताआं की सम्पुष्टि और संशोधन मनोविज्ञान और समाजशास्त्र द्वारा होना चाहिए। परन्तु, भौतिक शास्त्र और सामाजिक शास्त्र के साथ नीतिशास्त्र का सम्बन्ध होने का यह तात्पर्य नहीं कि नीतिशास्त्र भौतिक अथवा सामाजिक शास्त्रों का एक अध्याय अथवा अंशमात्र है। वास्तव में नीतिशास्त्र के निजी तथ्य, अपनी समस्याएँ, अपनी पद्धति और अपने उद्देश्य हैं। उपर्युक्त शास्त्र मानव-आचार की परिस्थितियों और कारणों में सहायता कर सकते हैं। परन्तु मनुष्य का कोई व्यवहार क्यों उचित अथवा अनुचित है, अथवा मनुष्य को क्यों अच्छा बनना चाहिए अथवा मनुष्य के अच्छा होने का लक्ष्य क्या है आदि प्रश्नों का समाधान मनोविज्ञान और सामाजिक शास्त्र नहीं कर सकते।

इसलिए, नीति का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध उन शास्त्रों से है, जिनका विचार-क्षेत्र मानव-जीवन मूल्य है। वास्तव में नीतिशास्त्र के विचार में मानव-मूल्यों का प्रश्न आधारभूत है। मूल्य क्या है, सबसे सीधा और बहु प्रचलित उत्तर है - मूल्य वह है जो मानव-इच्छा अथवा कामना को संतुष्ट करता है। परन्तु यह उत्तर चाहे आदिम सभ्यता में रहने वाले बर्बर व्यक्ति को संतुष्ट कर दे, विचारशील व्यक्ति को संतुष्ट नहीं कर सकता। वह तो इच्छा की पूर्ति जीवन की सुरक्षा और प्रसार के लिए करना चाहता है। उसके लिए इच्छा की पूर्ति केवल शारीरिक नहीं, एक मनोवैज्ञानिक घटना है। उसके लिए मूल्य वह है, जो जीवन की सुरक्षा और विकास करता है। परन्तु, यह दूसरा उत्तर भी अर्द्धसभ्य मानव के लिए ही पर्याप्त है। चिन्तनशील सभ्य मानव इससे संतुष्ट नहीं हो सकता। उसके लिए मूल्य वह है, जो शुभ तथा उचित जीवन और आत्म-विकास अथवा आत्मोपलब्धि के अनुकूल हो।

नीतिशास्त्र के साथ धर्मशास्त्र का सम्बन्ध ऐतिहासिक है। विधि के जितने भी प्राथमिक सिद्धान्त और नियम हैं, वे मूलत: नैतिक प्रथाओं और आचारों पर आधृत हैं। जीवन और सम्पत्ति विधि स्वत्व के नैतिक अधिकार को मानकर चलती है। इसलिए कतिपय विधिशास्त्रियों ने समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक परिस्थितियों के योग को विधि माना है। किसी-किसी ने विधि को समाज के सदस्यों द्वारा न्यूनतम नैतिक आचरण बतलाया है। नीति से विच्छिन्न विधिक धारणाएँ अन्याय और अत्याचार को जन्म देती है। कभी-कभी शुद्ध न्याय और निष्पक्ष विधि की बात भी की जाती है किन्तु, यह विधि की यांत्रिक कल्पना है। नैतिक अर्थ में न्याय के ऊपर आधृत विधि ही मानव-समाज के कल्याण-साधन में सक्षम हो सकती है। जब विधि और नीति में संघर्ष हो, तब निर्णय नीति के ही आधार पर हो सकता है। भारतीय साहित्य में पूरा विधिशास्त्र धर्मशास्त्र के अन्तर्गत और उससे अभिन्न है। धर्म से अलग विधि का अस्तित्व नहीं माना गया है। धर्म का ही व्यावहारिक रूप नीति अैर नीति का प्रशासकीय रूप विधि है।

नीतिशास्त्र का सम्बन्ध राजनीति और अर्थशास्त्र वार्ता के साथ भी विचारणीय है। भारतीय शास्त्रकारों ने राजनीति को नीतिशास्त्र के ऊपर केवल अवलम्बित नहीं, अपितु उसको नीतिशास्त्र का अभिन्न अंग माना है। कामन्दक ने अपने राजनीति के ऊपर प्रणीत ग्रंथ को कामन्दकनीतिसार कहा है। इसी प्रकार शुक्राचार्य के ग्रंथ को शुक्रनीतिसार और सोमदेवसूरि के ग्रंथ को नीतिवाक्यामृत कहा जाता है। वास्तव में, राज्य का उद्देश्य ही नीति के आधार पर सामाजिक स्थिति बनाये रखना है। इसलिए राज्य का आधार और उपयोगिता दोनों ही नैतिक हैं। धर्मशास्त्र में राज्य के कर्त्तव्यों - प्रशासन और व्यवहार विविध जीवन-पद्धति को धर्म के अन्तर्गत ही रखा गया है और उसे राजधर्म कहा गया है। राजनीतिशास्त्र का विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जायगा कि इसका मूल्य जीवन के साधन-रूप में है, जो अंततोगत्वा नैतिक मूल्यों पर अवलम्बित हैं। नीति के सामने अर्थशास्त्र की भी वही स्थिति है, जो राजनीति की। उसका मूल्य भी जीवन के साधन-रूप में है, साध्य-रूप में नहीं। आर्थिक मूल्य ही जीवन के नैतिक मूल्यों का निर्धारण करते हैं। यह सिद्धान्त 'आर्थिक नियतिवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु देखा गया है कि जहाँ अर्थशास्त्र का नीति का छोड़कर विकास हुआ है, वहाँ सम्पत्ति और जीवन के साधन बढ़ते हैं, किन्तु मनुष्य क्षीण होता जाता है। भारतीय चिन्तन और जीवन-दर्शन के अनुसार अर्थ जीवन के चार पुरुषार्थों में परिगणित है, उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। परन्तु है वह 'काम' का साधन और उसका उपार्जन 'धर्म' के द्वारा ही होना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नीति का सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शन और धर्म से है। भारत में दर्शन और धर्म साथ–साथ अभिन्न रूप से चलते रहे हैं। ये दोनों ही नैतिक जीवन के आधार–स्तम्भ माने गये हैं। नीति के अंतिम प्रश्नों और मूल्यों का समाधान और विवेचन दर्शन के द्वारा ही होता है। इसीलिए नीति दर्शन का एक अंग मानी जाती रही है। दर्शन के किसी भी पाठ्यक्रम में नीति का स्थान सुरक्षित है। किसी भी विषय का सम्यक् विवेचन करने के लिए उसके सीमित दायरे से बाहर जाकर अन्य विषयों के संदर्भ में उसके तथ्यों का परीक्षण और सिद्धान्तों का निरूपण करना पड़ता है। सब विषयों की सार्वभौम समग्र दृष्टि दर्शन से ही प्राप्त होती है। नैतिक विचारणा का सबसे बड़ा प्रश्न है जीवन के मूल्यों का सर्वांगीण विवेचन नीति के क्षेत्र से सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर धर्म और दर्शन बराबर देते आये हैं। नीति को धर्म से केवल स्वीकृति और अनुज्ञा ही नहीं, परन्तु अपने अस्तित्व का मौलिक आधार भी मिला है। दर्शन ने धर्म और नीति के इस सम्बन्ध की यौक्तिक व्याख्या की है। नीति और भी कई स्वयंसिद्धियाँ और मान्यताएँ लेकर चलती है, जिनकी व्याख्या दर्शन से ही संभव है, जैसे –

1. कर्त्ता का इच्छा–स्वातन्त्र्य
2. नैतिक प्रभेदों की वास्तविकता
3. नैतिक मूल्यों का सार्वभौम महत्त्व
4. नैतिक मूल्यों का औचित्य और
5. मनुष्य का विश्व में स्थान और उसके सांसारिक व्यवहार का आधार।

ये दर्शन और अध्यात्म के मौलिक प्रश्न हैं, जिनका समाधान उन्हीं के द्वारा संभव है। इसीलिए भारतीय दर्शनों के अन्तर्गत ही नैतिक प्रश्नों का विवेचन करने का प्रयास किया गया है। किन्तु यह प्रयास कभी व्यापक और सफल नहीं हुआ। कभी लोकायतिक सुखवाद के नाम से, कभी बुद्धिवाद के नाम से और कभी विज्ञानवाद के नाम से यह प्रयास चला। किन्तु, सबसे अधिक प्रयास राजनीति के नाम से समाज को नीति–निरपेक्ष बनाने का हुआ।

नीति–निरपेक्षता के सिद्धान्त को चाणक्य जैसा व्यावहारिक राजनीतिज्ञ भी मानने को तैयार नहीं था। अत: वादरूप में अनेक प्रकार के ऐकान्तिक सिद्धान्तों की प्रधानता नहीं रही, खण्डन करने के लिए ही ये सिद्धान्त प्राय: उद्धृत किये जाते थे। परन्तु, आधुनिक युग में विज्ञान, बुद्धिवाद और लोकायत–दर्शन ने नयी भौतिक शक्ति और अभूतपूर्व वेग प्राप्त कर परम्परा–मानित नीति और दर्शन की भित्तियों को हिला दिया है। डारविन, मार्क्स और फ्रायड ने मनुष्य की प्राथमिक मूल वासनाओं को भौतिक धरातल पर इतने प्रबल रूप में उभार दिया है कि मनुष्य की अब–तब की सभी मान्यताएँ, आस्थाएँ और मूल्य अस्त–व्यस्त हो चुके हैं। नैतिक असमंजस, अनास्था और अव्यवस्था का वातावरण सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी परिस्थिति में भारतीय नीति के विकास का पर्यालोचन करना है और देखना है कि इससे कोई नैतिक प्रकाश मिल सकता है या नहीं।

3.7 नैतिकता का आधार

प्रश्न उत्पन्न होता है कि नैतिकता का क्या आधार है? क्या हेतुवाद (Rationalism) मानव आचरण के लिये पर्याप्त दर्शन प्रस्तुत नहीं करता? नैतिक श्रेष्ठता का वह क्या मापदण्ड है जिसको प्राप्त करने की मानव से आशा की जाती है? क्या नैतिकता का कोई केवल एकमात्र मापदण्ड है? वह क्या वस्तु है जो मानव के अपूर्ण जीवन को जिसका वह आदी बन चुका है, परिपूर्ण करती है? क्या नैतिक जीवन स्वयं कोई लक्ष्य है या वह किसी उच्च लक्ष्य का साधन है?

यह प्रश्न प्रत्येक उस व्यक्ति के हृदय में उठते हैं जो नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए तत्पर है। नैतिकता शब्द का सम्बन्ध नीति से है, जिसका अभिप्राय आचरण से होता है। आचरण ऐसे कार्य को सूचित करता है जो केवल लक्ष्य के अनुरूप ही नहीं, वरन् निश्चित रूप से संकल्पित हो। मानव के लिए ठीक आचरण निर्देश करते समय यह बात हम भूल जाया करते हैं कि मानव जाति को उन्नत और भाग्यशाली बनाने के लिये अंधेरे में टटोलने का प्रयत्न जारी है। यह इसलिए है कि मानव के कार्य उसके उद्देश्य के अनुरूप नहीं है। मानव का आचरण तभी अर्थपूर्ण होगा जब उसका आधार अंतिम सत्य की भावना से ओतप्रोत होगा। अपनी पाशविक शक्ति को दबाने के लिये मानव को अपनी दिव्य शक्ति को बढ़ावा देना चाहिये और अपनी छिपी शक्तियों को प्रदर्शित कर भगवान् के स्तर तक पहुँच जाना चाहिए। प्रत्येक मानव को भगवान् बनना है और इस समय वह उस ओर परिवर्तनशील अवस्था में है। प्रत्येक सुधारक को हर देश और काल में इस बात को बार–बार दोहराना चाहिये। यह मानव का विशेष उच्च अधिकार है कि वह जगत् की भौतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में उन्नति कराने के महान् कार्य में प्रकृति को सहयोग दे। यह दोनों क्षेत्र न तो निषेधात्मक हैं और न एक–दूसरे के विरोधी। यह अभाव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की पूर्ति करने वाले हैं। आत्मा स्थूल रूप द्वारा प्रकाशित होती है और स्थूल जीवन द्वारा, आत्मा में पूर्णता को प्राप्त करता है। सत्य के सब रूप प्रशंसनीय हैं। नैतिकता के उच्चतम स्तर तक पहुँचने के लिये, मानव की आत्मा सुदृढ़ और स्पष्ट आधार बन सकती हैं। जीवन के सभी आदर्शों में दिव्य जीवन का आदर्श ही अति जीवन है, इसलिये दिव्य जीवन को ही सच्ची नैतिकता का आधार समझना चाहिए।

स्वार्थ को नैतिकता का आधार बनाना असंभव है। केवल भौतिक जगत् से प्राप्त लाभ को आधार बनाने का भी कोई औचित्य नहीं। नैतिकता अर्थात् 'क्या ठीक है' की भावना नैतिक मूल्यों पर आधारित है और उसे सब प्रकार के भौतिक या लौकिक लाभों से दूर रखना चाहिए। यह कहा जाता है कि विवेक होने के कारण मानव नैतिक बन गया है। यह भी दावा किया जाता है कि हेतुवाद का दर्शन, नैतिकता के लिए पर्याप्त निश्चित आधार है। परन्तु यह केवल बुद्धि पर आधारित है, अत: मानव आत्मा की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं करता। हेतुवाद मानव के व्यक्तित्व की चहुँ दिशाओं अर्थात् शारीरिक, मानसिक, सौन्दर्यबोध और नीति विषयक उन्नति की ओर तो अवश्य ध्यान देता है परन्तु आध्यात्मिक दिशा को यह कहकर अस्वीकार कर देता है कि वह हवा के समान तुच्छ है जिसका कोई सांसारिक महत्व नहीं है। हेतुवाद भौतिक ऐश्वर्य को ही बढ़ावा देने तक सीमित है और इसलिये एकतरफा है। मानव जो जीवन की सभी ऊँचाइयों और गहराइयों पर चलने के लिए आतुर है, उसको केवल दिव्य जीवन में ही ऐसी इच्छा-पूर्ति मिल सकती है। नैतिकता जो केवल हेतुवाद पर आधारित हो उसको स्वयं लक्ष्य नहीं माना जा सकता, वह केवल उच्च लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है क्योंकि बिना नैतिकता के आध्यात्मिक जीवन में स्थिरता नहीं आ सकती। नैतिकता केवल सम्पूर्णता प्राप्त करने का एक साधन ही नहीं परन्तु इस सम्पूर्णता का अटूट अंग है। व्यक्ति का समस्त नैतिक जीवन जगत् के सर्वोच्च प्रयोजनों में विशेष स्थान रखता है और उसका प्रत्येक नैतिक कार्य ईश्वरीय योजना के अन्तर्गत योगदान बन जाता है। मानव का नैतिक लक्ष्य उस परम आत्म चेतना के सम्पूर्ण लक्ष्य के अनुरूप एक अखण्ड और एकमात्र मानव को दिव्य-रूप से मानव और मानवीय रूप से दिव्य बनाने का होना चाहिए। नैतिकता संसारी जीवन को अस्वीकार नहीं करती और न ही इसका तात्पर्य जीवन कर्त्तव्यों का सम्पूर्ण त्याग है, अपितु जीवन के समस्त रूपों और अवस्थाओं में गुजरकर उसको परिपूर्ण बनाना है। वास्तव में इसी में मानव जीवन की सार्थकता है।

3.8 नैतिक जीवन की कार्यशीलता

मानव कहीं भी अपने परिवेश से संतुष्ट नहीं है, उचित-अनुचित भेद-विवेक की भावना उसे सुधारक के रूप में कार्य करने की प्रेरणा देती रहती है। उचित कार्य करने की भावना प्रत्येक मानव के हृदय में विद्यमान है। सभ्यता की सारी संरचनाओं का अंतिम आधार नैतिक मूल्य होते हैं। पाठशालाओं में बच्चों के कोमल हृदयों में उचित कार्य करने की भावना भरी जाती है। विवाह पद्धतियों में भी विवाहित जोड़ों को क्या करना चाहिए इस बात पर जोर दिया जाता है। देश-व्यवस्था के कानून, अपराधियों को उचित रास्ते पर लाने के लिये, बल प्रयोग करते हैं। साम्य अर्थात् प्राकृतिक न्याय का भी आधार उचित की भावना पर रखा जाता है। संस्थायें ऐसी ही भावनाओं को लेकर फलती-फूलती हैं और मानव के व्यक्तिगत और राष्ट्र सम्बन्धी आचरण को सारे कार्यों में उचित की भावना ही आश्रय और समर्थन देती है। उचित की भावना अर्थात् नैतिक मूल्यांकन सब जगह कार्य कर रहा है और मानव संकल्पों और प्रयत्नों को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से शक्ति प्रदान कर रहा है। यदि प्रत्येक स्थिति में इस दृष्टिकोण का परिणाम भिन्न दिखाई देता है उसका कारण यह है कि मानव की दृष्टि अन्य हेतुओं को अपनाने के कारण अज्ञानमय हो जाती है, स्वार्थ का दूषित प्रभाव व्यक्ति, समूह और संस्थाओं पर होता है, यह एक सामान्य मानवीय अनुभव है। जब प्रत्येक स्थिति में मानव अपने स्वार्थ को ही ढूँढता है और उनसे लाभ प्राप्त करता है, चाहे वह कार्य नैतिक न भी हो, तब उसकी नैतिक समझ उसका मार्गदर्शन करने के लिये बहुत शक्तिहीन या बेकार हो जाती है।

अपने चारों ओर समाज के सम्पर्क में आकर व्यक्ति में नैतिक भावों को बढ़ावा मिलता है। किन्तु नैतिकता का उद्गम स्थान और अधिकार का स्रोत मानव के संकल्प स्वभाव में स्थित है। अपने स्व सम्बन्धी विचार व्यक्ति की संकल्प-शक्ति पर यथार्थ रूप से प्रभाव डालते हैं। यद्यपि प्रकृति, पालन-पोषण और परिवेश उसके संकल्प-निर्धारण पर प्रभाव डालते हैं, फिर भी मानव की अहं-भावना सदा स्वतंत्र होने के कारण उसके संकल्प को कारगर ढंग से नया मोड़ दे सकती है। संकल्प-शक्ति का प्रत्येक प्रयोग विचार, बोली और कार्य में नैतिक कारण बनता है और जीवात्मा पर कुछ गुण य दोष, कर्म-नियम के अनुकूल प्रतिपादित करता है और व्यक्ति के आगामी जीवन पर प्रभाव डालता है। नैतिकता, इस प्रकार व्यक्ति से समस्त क्रम-विकास पर प्रभाव डालती है। मानव का आध्यात्मिक स्वभाव, जो उसकी आंतरिक जीवन शक्ति है, उसकी नैतिक समझ, जिसको अंत:करण भी कहते हैं, के द्वारा कार्य करती है। हमारे कार्यों के पीछे हमारे प्रेरक हेतु और अभिप्राय जितने पवित्र होंगे उतना ही हमारा अंत:करण सफल होगा। अंत:करण ही मानव का अचूक मित्र और निर्देशक है। मानव जब अपने अन्दर इस चतुर द्रष्टा की आवाज को सुनता है, तभी वह ठीक कार्य करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.9 नैतिक नियम और हितों के तादात्म्य का सिद्धान्त

प्रकृति के नियमों के समान नैतिक नियम भी पूरी दृढ़ता से क्रियान्वित होता है, और इस बात को अवलोकन, तर्क और परीक्षण द्वारा जाना जा सकता है। नियम यह कहता है कि मानव का व्यवहार बीज बोना जैसा है, जैसा बोवेगा वैसा ही फसल काटेगा। फसल बीज से भिन्न नहीं हो सकती। नियम का तिरस्कार मानव अपने आपको हानि पहुँचाकर ही कर सकता है, चाहे वह तिरस्कार अपनी इच्छा से हो या अनजाने। चाहे भौतिक नियम हो, चाहे नैतिक नियम, उल्लंघन का फल सदा दु:खदायी होगा। नैतिक नियम के अनुसार कार्य करने से मानव का विकास तीव्र होता है और आनन्ददायक अनुभवों द्वारा होता है। उसके विरुद्ध कार्य करने से विकास में देरी और जीवन दु:खमय होता है। मानव नैतिक नियम का दुरुपयोग करे या उल्लंघन दोनों का परिणाम दु:ख होगा। उत्तम उद्देश्य मानव प्रवृत्तियों के लिये इतना ही परीक्षण विषय है जितना कि बुरे प्रलोभन। अत: महत्वपूर्ण बात यह नहीं कि मानव कहाँ खड़ा है परन्तु यह कि वह किस दिशा की ओर जा रहा है। व्यक्तिगत जीवन में या राष्ट्रीय इतिहास में, भाग्य के उलट-फेर, नैतिक नियम के उल्लंघनों की ओर ही संकेत करते हैं। नैतिक नियम के प्रति उल्लंघनों के फलस्वरूप जगह-जगह उपद्रव खड़े हो जाते हैं। जितना बड़ा उपद्रव होगा उतना बड़ा ही प्रयास फिर से नियम को स्थापित करने का होगा। मानव आचरण के लिए सबसे अच्छा और कुशल आदर्श यह है - दूसरों की ओर ऐसा आचरण करो जैसा तुम उनसे चाहते हो। विचार, बोली और कर्म में पवित्रता - यह नैतिक जीवन के अति आवश्यक स्तम्भ है। इनका अनुसरण नैतिक नियम के अनुरूप चलने में सहायक होता है।

सारभूत नैतिक सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति और समूहों के हित, चाहे उनका रूप सामाजिक, राष्ट्रीय, आर्थिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक या अन्तर्राष्ट्रीय हो, वास्तव में एक ही है। इस सिद्धान्त के अनुसार संकीर्ण स्वार्थी हितों को, विश्व के व्यापक हितों के प्रति सदा त्याग देना चाहिए, स्वार्थपूर्ण व्यक्तिगत जीवन के लिये प्रोत्साहन, जो आज का भौतिक समाज दुर्भाग्यवश देता है, उसको परोपकारी जीवन के आगे समर्पित कर देना चाहिये। उचित संस्कृति के अन्तर्गत मानव को यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी को केवल अपने लिये ही नहीं, परन्तु दूसरों की भलाई के लिये भी कार्य करना है, अपनी अहं भावना को इतना विस्तृत बना देना चाहिये कि समाज के हित प्रत्येक व्यक्ति के बन जायें। समस्त मानव जाति का हित एक है और इसलिए सब ही को मानव कल्याण के लिये प्रयत्न करना है। परन्तु मूढ़तावश हम अपने संकीर्ण स्वार्थ की प्राप्ति में लगे रहते हैं जो सामाजिक जीवन में फूट और क्लेश का कारण बन जाते हैं - चाहे वह गृह या कुटुम्ब के सरल वातावरण में हो, या किसी अधिक संगठित मालिक-नौकर के संस्थानों में हो, या राज्यों के आपसी सम्बन्धों में हो - उसका प्रत्यक्ष कारण इस सारभूत सिद्धान्त का उल्लंघन ही है।

यदि व्यक्ति सुधर जायें तो समाज अपने आप सुधर जायेगा। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों को ऐसा समतल बना ले जिसके द्वारा समस्त मानव जाति का कल्याण संभव हो जाये। छोटे-छोटे त्याग, छोटे-छोटे संकल्प (अणुव्रत) छोटे-छोटे ईमानदारी के कार्य, प्रलोभनों पर तरह-तरह की मौन विजय - यह ऐसे सुनहरे धागे हैं जो एक साथ बुन जाने के पश्चात् जीवन में चार चांद लगा देते हैं। सारा जीवन ही निष्काम बलिदान का नमूना बन जाये अर्थात् दूसरों की भलाई के लिये अपने जीवन को लगा दे, यह सत्य सारे भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास का यथार्थ आधार है। ऐसे जीवन में बुरी भावनायें अपना प्रभाव नहीं डाल सकतीं, क्योंकि इनकी जगह आत्म-त्याग सच्चाई और किसी का अहित न करने की भावनायें ले लेती हैं। मानव जीवन तब प्रेम, सहानुभूति, क्षमा, दान, नम्रता से परिपूर्ण हो जाता है। एक शब्द में जीवन सच्चे अर्थों में नैतिक बन जाता है।

3.10 नैतिक जीवन के आदेश

नैतिक जीवन का प्रथम आदेश है कि आचरण आयु के अनुकूल हो। इसका अर्थ यह है कि उसका आचरण उसकी स्थिति (आश्रम) के अनुकूल हो। उदाहरण जो बच्चों के लिये अच्छा और उचित है वह युवा के लिये नहीं। मानव जीवन को चार-चार आश्रमों में विभाजन करने का विधान इसीलिये सोचा गया है कि सत्य के दोनों अर्थात् सापेक्ष और निरपेक्ष पहलुओं की अनुभूति हो सके। मानव सापेक्ष सत्ता में रहता है और उसमें ही क्रियाशील होता है जिसकी अनुभूति उसके व्यक्तिगत और सामाजिक स्वभाव द्वारा पहले दो आश्रमों में, अर्थात् विद्यार्थी और गृहस्थ में, होती है। सापेक्ष सत्य एक विकासशील मूल्य है और मानव का विकास तब तक समाप्त नहीं होता जब तक वह आगामी दो आश्रमों अर्थात् वानप्रस्थ और संन्यास से नहीं गुजरता। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम मानव को निरपेक्ष सत्ता की अनुभूति करने के लिये अग्रसर करते हैं। इन आश्रमों के मुख्य लक्षण क्रमश: इन चार शब्दों में कहे जा सकते हैं - अनुशासन, आत्म-त्याग ध्यान और आत्मानुभूति।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विद्यार्थी आश्रम में अनुशासनीय नियमों के पालन करने के पश्चात् कुटुम्बी जीवन या गृहस्थ जीवन में प्रवेश होता है। विद्यार्थी के जीवन में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना आवश्यक है। विद्यार्थी जीवन का उद्देश्य चरित्र को शारीरिक और मानसिक शक्तियों के संरक्षण द्वारा शक्तिशाली बनाना है संक्षेप में विद्यार्थी को अपने मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण पाकर, अपने स्व का स्वामी बनना है। आजकल बिरले लोग ही गृहस्थ आश्रम से आगे के आश्रमों में प्रवेश कर पाते हैं। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की अवहेलना की जाती है। इसका परिणाम यह है कि लोग अधूरे आदर्शों और वह भी मानव प्रकृति के निचले स्तर पर रहकर संतोष कर लेते हैं। वह जीवन के उच्च स्तर के अनुभवों के लिये प्रयत्न नहीं करते। इसलिए वह सांसारिक आसक्तियों, अच्छाई-बुराई, सुख-दु:ख और नैतिकता-अनैतिकता की कीचड़ में ही फँस रह जाते हैं। जीवन के उच्च आश्रमों की अवहेलना के कारण आधुनिक जीवन में नई पेचीदगियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

3.11 नैतिक मानक

मानव जीवन के चार आश्रमों में यदि निष्कपटता और तत्परता के साथ रहा जाये तो जीवन-कार्यों के प्रत्येक क्षेत्र में नैतिक प्रकर्ष के मानक प्रस्तुत किये जा सकते हैं। क्योंकि नैतिकता सापेक्ष है इसलिए सबके लिये समान मानक नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी विकास-स्तर पर दूसरे से सामर्थ्य और योग्यता में भिन्न है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपना शिक्षक स्वयं बन सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरों से सहायता नहीं ली जाये। इसका तात्पर्य इतना है कि किसी कट्टर मत के पीछे नहीं चलना है और न ही किसी संकीर्ण सिद्धान्त में विश्वास करना है। महान् से महान् ज्ञान भी हमारी सहायता नहीं कर सकता अगर उसे हमने अपने प्रयत्नों से प्राप्त नहीं किया है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति उन महान् अनुभवी, महान् आत्माओं से प्रेरणा ले सकता है, अर्थात् जो व्यक्तिगत, सामाजिक और आध्यात्मिक सत्ता की अटूट एकता का प्रतिनिधि बन चुके हैं। नैतिक उत्तमता के मानकों के लिये एक व्यक्ति को सदा मानव जाति के श्रेष्ठतम प्रतिनिधियों की ओर देखना चाहिये।

सबसे महत्व की बात यह है कि विश्व का ठीक ज्ञान होना और उसमें किस प्रकार तालमेल से आचरण करना चाहिए-यह ज्ञान के व्यावहारिक फल हैं तथा उच्चतम संस्कृति प्रकृति को जानने में है और उसके साथ सदा चलते रहने में है। संक्षेप में नैतिकता के मानक को निम्न सूत्रों में व्यक्त कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की यह धारणा हो।

मैं पवित्र बनूँगा क्योंकि ऐसे लोग हैं जो मुझ पर विश्वास करते हैं,
मैं सत्य का अनुकरण करूँगा क्योंकि ऐसे लोग हैं जो इसको महत्व देते हैं,
मैं वीर बनूँगा क्योंकि संसार में बहुत दु:ख भोगने को है,
मैं सबका मित्र बनूँगा-चाहे वह शत्रु हो या मित्रहीन,
मैं दानी बनूँगा और दान देकर उसे भूल जाऊँगा,
मैं नम्र बनूँगा क्योंकि मुझे अपनी दुर्बलता का पता है,
मैं अपनी दृष्टि उच्च रखूँगा, हसूँगा, प्रेम करूँगा और पिछड़े वर्गों का उद्धार करूँगा,
मैं ध्यान लगाऊँगा और आत्मानुभूति करूँगा।

3.12 नैतिक विकास क्यों?

नैतिक मूल्य तो सदा प्रासंगिक रहेंगे और उनका औचित्य हमेशा बना रहेगा। नैतिक मूल्य शाश्वत हैं, सार्वदेशिक हैं, सार्वकालिक हैं। इतिहास साक्षी है कि जब-जब नैतिक मूल्यों के महत्व को नकारा गया है, समाज व देश पतन की ओर अग्रसर हुए हैं। आज भी वही स्थिति है। आज की विषम जटिल वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने मनुष्य का जीना दूभर कर दिया है, यहाँ तक की मानव अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। स्वार्थ की भावना से मनुष्य इतना ग्रसित है कि व्यक्ति में चरित्र नहीं, समाज में व्यवस्था नहीं, देश में सही नेतृत्व नहीं, सभी ओर अनैतिकता पनप रही है। आज व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण धन प्राप्त करना चाहता है। भौतिक सुख-सुविधाओं की होड़ में व्यक्ति अनैतिक कर्मों के गर्त में गिरता जा रहा है।

मानव की बुद्धि के चरमोत्कर्ष ने जहाँ उसे महानता के शिखर पर पहुँचा कर सम्पूर्ण प्रकृति को वश में करने की प्रेरणा दी है, वही उसकी बुद्धि का यह विकास उचित नैतिक मार्गदर्शन के अभाव में सम्पूर्ण मानव के विनाश का कारण बनता जा रहा है। मानव बुद्धि में विकास की अनन्त संभावनाएँ हैं। मनुष्य ने आकाश की ऊँचाइयों को छुआ है, पृथ्वी के गर्भ में छुपे रहस्यों को जाना है, सागर की गहराईयों को नापा है। मानव की अपार क्षमता उसे विकास की अनन्त संभावनाओं की ओर आकर्षित कर रही है। जहाँ एक ओर मानव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपने सुकर्म द्वारा महामानव बन सकता है, वहीं दूसरी ओर अपने कुकर्म द्वारा दानव भी बन सकता है। सुख की खोज में भटकता मानव जिस डाल पर बैठा है, उसी को काट रहा है। विज्ञान के विकास ने जहाँ एक ओर दुनियाँ बहुत छोटी कर दी है, वहीं दूसरी ओर विज्ञान के बढ़ते चरण मानव के विनाश का कारण बनते जा रहे हैं। आज हमारा यह नैतिक दायित्व है कि हम विज्ञान को विध्वंसात्मकता की ओर बढ़ते कदमों को रोकें और उसे रचनात्मक कार्यों में लगायें। इसके लिए आवश्यक है कि हम नैतिक मूल्यों को पुन: स्थापित करने का प्रयत्न करें। यह चिन्तकों का दायित्व है कि वे समाज को सही दिशा दे और नीतिदर्शन को इस गंभीर दायित्व का निर्वाह करना है। आज की अनैतिक परिस्थितियाँ एक ऐसे वैचारिक नेतृत्व का आह्वान कर रही है जो मानव को सही मार्ग दिखा सके, उसे अनैतिकता के गर्त से उबारे और यह कार्य नैतिक शिक्षा द्वारा ही संभव हो सकता है। आज की पीढ़ी नैतिक मूल्यों से प्रयाण कर चुकी हैं। नैतिकता में उसकी आस्था समाप्त हो गयी है। ऐसे में प्रबुद्ध वर्ग बहते पानी के साथ बहते रहने की नियति का निर्वाह करे या बहते पाने की दिशा परिवर्तन का बोझ उठाये, उसने असंभव को भी संभव कर दिखाया है। प्रश्न है, सही दिशा-ज्ञान का और सही-दिशा ज्ञान दे सकता है – नैतिक अंतर्दृष्टि सम्पन्न चिन्तक।

हमें आज अपनी क्षमता को पहचानना है और समाज व देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों के पालन में अपने आपको समर्पित करना है। आज देश में विघटनकारी शक्तियाँ सिर उठा रही हैं, धर्म के नाम पर खून की होली खेली जा रही है। आतंकवादी शक्तियाँ निर्दोष लोगों की हत्या कर भय के वातावरण का निर्माण कर रही हैं, लोगों को भ्रमित किया जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में प्रबुद्ध वर्ग हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठ सकता। प्रत्येक व्यक्ति के जैसे परिवार के प्रति कर्त्तव्य हैं, वैसे ही समाज के प्रति भी तथा मानव मात्र और प्राणीमात्र के प्रति भी होने चाहिए। वह इन सबके प्रति प्रतिबद्ध है। हमें आज की विषम परिस्थिति का कारण खोजना है और वह है – नैतिकता का ह्रास। आज हम देख रहे हैं कि लोगों में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था नहीं रही और यह कटु सत्य है कि बिना नैतिकता के, न तो व्यक्ति ही सही मार्ग पर चल सकता है और न समाज और न देश ही। इसलिए आज नैतिक दिशा के महत्व को समझने और समझाने की परम आवश्यकता है। नैतिक शिक्षा की प्रथम पाठशाला है परिवार, फिर विद्यालय और महाविद्यालय इत्यादि। पर आज न तो परिवार में बच्चों को नैतिक शिक्षा दी जा रही है और न शिक्षा के केन्द्रों में ही। शिक्षा के केन्द्र तो कोरी शिक्षा के केन्द्र बनकर रह गये हैं, जहाँ शिक्षा का आचरण से कोई सम्बन्ध नहीं।

व्यक्ति का जीवन एक प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों के बीच व्यतीत होता है। इन सम्बन्धों को नैतिक जगत् कह सकते हैं। इस जगत् में मूल रूप में तीन तत्व होते हैं – प्रथम तत्व – समाज के नैतिक आदर्श हैं। द्वितीय तत्व-सामाजिक संस्थाएँ हैं और तृतीय- वे परम्पराएँ जिनका अनुकरण करते हुए सामाजिक मनुष्य आदतों के रूप में अपना लेता है।

इन तीनों का सामंजस्य करना ही नैतिक विकास है। इस सामंजस्य द्वारा जब व्यक्ति आत्म साक्षात्कार की ओर अग्रसर होता है, तो उसे हम समाज में या राष्ट्र में नैतिक विकास मानते हैं। आदर्श का निर्धारण व्यक्तियों की माँग के अनुसार होना चाहिए। व्यक्ति की आदतों में भी युगानुकूल ऐसा सुधार होना चाहिए जो आदर्श से मेल खा सके। नैतिक विकास न तो जैविक है, न आर्थिक, बल्कि इस विकास की कसौटी मानव-आनन्द है।

मूल्य को जब एक आर्थिक अवधारणा माना जाता है तो सामान्यत: हमारा अर्थ किसी हद तक मानवीय आवश्यकता की पूर्ति का होता है। आवश्यकता के मूल्य को कभी-कभी साधन मूल्य माना जा सकता है और स्वत: मूल्य से इसका विभेद किया जा सकता है। प्रश्न यह है कि स्वत: मूल्य क्या है? काण्ट ने जब कहा था कि 'शुभ-संकल्प के अलावा कुछ भी शुभ नहीं है' तो वह इस बात को प्रमाणित कर रहा था कि शुभ-संकल्प स्वत: मूल्य है। उनका कहना था कि प्रसन्नता स्वत: मूल्यवान तभी है, जब उसकी पात्रता हो और पात्रता तभी होगी जब उसके साथ-साथ शुभ-संकल्प भी हो। इस प्रकार उनके मत से शुभ-संकल्प स्वत: मूल्य है।

प्रश्न यह है कि जो मूल्यवान् है, वही शुभ है तो मूल्य की कोई सर्वमत परिभाषा प्राप्त नहीं होती। कुछ लोग मूल्य को आत्मगत मानते हैं तो कुछ लोग वस्तुगत। वस्तुगत मानने का तात्पर्य मूल्य को वस्तु में निहित मानना है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। नैतिकता सापेक्षिक भी होती है। कोई वस्तु शुभ है या अशुभ, उचित है या अनुचित, यह व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। इसी प्रकार नैतिक मूल्य भी सापेक्ष होते हैं। नैतिक मूल्य उन्हें भी कहा जा सकता है जिन्हें व्यक्ति सापेक्षिक रूप से शुभ या उचित मानता है। अशुभ य अनुचित को नैतिक नहीं कहा जा सकता, परन्तु इनका भी अपने आप में कुछ मूल्य अवश्य होता है। शुभ या उचित ही नैतिक रूप में मूल्यवान कहे जा सकते हैं क्योंकि एक अनैतिक व्यक्ति भी निरपेक्ष रूप से शुभ और उचित के मूल्यों को स्वत: मूल्य के रूप में स्वीकार करता है। स्वत: मूल्य वह है जो एक तार्किक व्यक्ति द्वारा शांतिपूर्वक विचार किए जाने पर स्वत: मूल्य प्रतीत हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नैतिक विकास का प्रश्न सामाजिक प्रश्न है। आध्यात्मिकता यद्यपि वैयक्तिक होती है, किन्तु आध्यात्मिकता-हीन व्यक्ति स्वतंत्र भाव से नैतिक नहीं हो सकता। इसलिए समाज के सम्पर्क में वह नैतिकता बन जाती है। नैतिकता के बिना व्यक्ति पवित्र नहीं रहता, तथा सामूहिक व्यवस्था भी नहीं टिक पाती। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रामाणिक न रहे, ईमानदार न रहे, तब संदेह बढ़ता है। संदेह से भय और भय से क्रूरता बढ़ती है। मनोविज्ञान के अनुसार भय के दो परिणाम होते हैं - पलायन और आक्रमण। अधिकांश लड़ाइयां, अभियोग, आक्रमण और युद्ध भय के कारण होते हैं। यदि मनुष्य नैतिक रहे तो सहज ही विश्वास का वातावरण पैदा हो जाये। वर्तमान की विभीषिका और शस्त्र-निर्माण की स्पर्द्धा इसीलिए तो है कि एक दूसरे के प्रति संदिग्ध हैं, भयभीत हैं और क्रूरता अनायास बढ़ रही है। नैतिक विकास के बिना इस प्रवाह को रोका नहीं जा सकता।

3.13 नैतिक विकास की भूमिका

प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। सुख का मूल है - शांति, और शांति का मूल है - भौतिक आकर्षण से बचना। भौतिकता के प्रति जितना अधिक आकर्षण होता है, उतना ही मनुष्य का नैतिक पतन होता है। पदार्थ, सत्ता, अधिकार और बडप्पन - ये भौतिक या भौतिकता से सम्बन्धित हैं। इनकी अपेक्षाएं बढ़ती हैं, आत्मौपम्य बुद्धि मिट जाती हैं। प्राणी-प्राणी में या मनुष्य-मनुष्य में समता के भाव रहते हैं तो क्रूरता नहीं बढ़ती। उसके बिना अनैतिकता का पक्ष लड़खड़ा जता है। मनुष्य-जीवन का दूसरा पक्ष रागात्मक है। उससे प्रेरित होकर मनुष्य अनैतिक कार्य करता है। जातीयता या राष्ट्रीयता के आधार पर जो नैतिकता का विकास हुआ है, उसमें उसका स्वतंत्र मूल्य नहीं है। वह जाति और राष्ट्र के संकुचित प्रेम पर टिकी हुई होती है। जाति, भाषा, प्रांत और राष्ट्र - ये सारे समानता और उपयोगिता की दृष्टि से बनते हैं। मनुष्य जाति एक ही है - यह बात भुला दी गयी है। इस कोटि की भावनाएं ही उग्र बनकर संघर्ष और युद्ध के रूप में फूट पड़ती हैं। अपने अधिकार-क्षेत्र का विकास हो, अपनी जाति या भाषा की प्रगति हो, यह भावना यहीं तक सीमित रहे तो प्रियता को क्षम्य भी माना जा सकता है किन्तु वह प्रियता दूसरों के लिए अप्रिय परिस्थिति पैदा कर देती है, वहां मानव-जाति की अखण्डता विभक्त हो जाती है। इसलिए वह प्रेम भी अखण्ड मानवता की दृष्टि से अनैतिकता ही है, इसलिए अणुव्रत-आंदोलन का यह प्रयत्न है कि नैतिकता का विकास केवल आध्यात्मिकता के आधार पर हो। दूसरों के अहित की चेष्टा करने से भले फिर दूसरों का अहित न हो, स्वयं उसी का अहित होता है, इसलिए दूसरों के अहित की चेष्टा से बचा जाये - यह आध्यात्मिकता है। इसके आधार पर जो नैतिक विकास होता है, वह किसी के लिए भी खतरनाक नहीं होता। यह विचार जितना दार्शनिक है, उतना ही वैज्ञानिक है। इसकी प्रक्रिया निश्चित है। इतिहास साक्षी है कि जाति, भाषा, प्रांत और राष्ट्र को मनुष्य ने ही जन्म दिया और आगे जाकर उसकी कृतियां ही उसके लिए अभिशाप बनीं। राष्ट्र व्यक्ति के स्वार्थो का विस्तार-क्षेत्र है। परिवार के स्वार्थों का विस्तार होने लगा और वह होते-होते राष्ट्र तक होता चला गया। यह स्वार्थ या भोग के विस्तार की दिशा है। इस दिशा में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना भी विशेष मूल्यवान् नहीं है। आध्यात्मिकता इसकी विपरीत दिशा है। उसका स्वरूप है - स्वार्थ त्याग या भोग त्याग। स्वार्थ और भोग के संयम से नैतिकता का विकास अपने आप होगा।

कहा गया है- (Example is better transprecept) उपदेश से उदाहरण श्रेष्ठ है। अपने हित के लिए, अपनी शांति के लिए यदि हम वास्तव में व्यक्ति के आचरण में परिवर्तन करना चाहते हैं, समाज की कुरीतियों को दूर करना चाहते हैं, देश को सही दिशा देना चाहते हैं, तो हमें नैतिक शिक्षा के महत्त्व को समझना होगा और उसे अपने जीवन में अपनाना होगा। जहाँ शिक्षा और व्यवहार में खाई हो वह शिक्षा-शिक्षार्थी को कहां तक प्रभावित कर सकती है? बच्चों को चरित्रवान् बनाने हेतु मॉन्टेसरी शिक्षा से लेकर महाविद्यालय तक की शिक्षा की पद्धति में नैतिक शिक्षा अनिवार्य की जानी चाहिए। नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना की जानी चाहिए। समाज में सत्य-असत्य, पुण्य-पाप, उजाले और अंधेरे के समान हमेशा विद्यमान रहते हैं। हमारा यह प्रयास हो कि हम सत्य की असत्य पर, धर्म की अधर्म पर, नैतिकता की अनैतिकता पर विजय का प्रयास करते रहें और केवल शब्दों में नहीं, वरन् सच्चे मन से 'सत्यमेव जयते' का उद्घोष करें। तभी हम ''वासुदैव कुटुम्बकम्'' तथा ''विश्वबन्धुत्व'' की भावना स्थापित कर सकते हैं। केवल मौखिक रूप से ''सत्यमेव जयते'' एवं ''विश्वशांति'' की चर्चा करने से इन्हें स्थापित नहीं किया जा सकता। इन्हें वास्तविक रूप में पाने के लिए इन्हें इनके सच्चे अर्थों में आत्मसात् करना होगा और सही चिन्तन का प्रसार करना होगा। हमें यह समझना होगा कि नीति का धर्म से अटूट सम्बन्ध है। कोई भी धर्म अनैतिक आचरण की शिक्षा नहीं देता, हिंसा की शिक्षा नहीं देता। धर्म तो मानव मात्र को एकता के सूत्र में आबद्ध कर उस परम शक्ति का ज्ञान कराना है जो एक है, कण-कण में व्याप्त है, निर्गुण है, निराकार है, जब हम सब उसकी सन्तान हैं तो फिर भेद कैसा? यही सही चितन है और जिस चिन्तन को हम धारण करते हैं, वही हमारा धर्म बन जाता हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अत: आज हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम सही चिन्तन करे, ताकि सही धर्म स्थापित हो सके और वह होगा मानव मात्र के प्रति, प्राणीमात्र के प्रति सद्‌भावना का धर्म। मानव को परस्पर सहयोग द्वारा उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाला मानव-धर्म ही है इसके लिए आवश्यक है कि नैतिकता को केवल शिक्षा तक ही सीमित न रखें, उससे अपने आचरण में उतारें और व्यक्ति, समाज तथा देश को सदाचरण की ओर ले जाने हेतु नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना करें, उसके महत्त्व को समझें और समझायें। नैतिक मूल्यों को अपनायें बिना न तो व्यक्ति प्रतिष्ठा पा सकता है और न समाज।

आज धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, सत्य-असत्य का महाभारत छिड़ा हुआ है इस चक्रव्यूह से निकाल सकती है- नैतिक शिक्षा। इस नैतिक शिक्षा को शिक्षा का आवश्यक अंग बनवाने का दायित्व निभाना है, प्रबुद्ध चिन्तकों को। यदि हम चाहते है कि हमारे अतीत की धरोहर सुरक्षित रहे, हमारा दर्शन, हमारी संस्कृति जिस पर हमें गर्व है अक्षुण्ण रहें, तो हमें नैतिक मूल्यों को अपने जीवन का आवश्यक अंग बनाना होगा। जिस प्रकार अंधकार से लड़ने के लिए एक दीपक ही पर्याप्त होता है, वैसे ही नैतिक अन्तर्दृष्टि का प्रकाश नि:सन्देह समाज व देश में व्याप्त अनैतिकता के अंधकार को दूर कर सकेगा। आवश्यकता है, केवल अपने कर्त्तव्य-बोध की और दृढ़ मनोबल की। मनोवैज्ञानिक रूप से अध्ययन करें तो हमारे मन में ज्ञान, वेदना और चेष्टा की अवस्थायें होती हैं। सत्य की प्राप्ति ज्ञानात्मक अवस्था का चमोत्कर्ष रूप है, सुन्दरतम् वेदात्मक अवस्था का चमोत्कर्ष रूप है और शुभम् हमारी चेष्टात्मक अवस्था का चमोत्कर्ष रूप है। इसलिए हमने ''सत्यम् शिवम् सुन्दरम्'' को अपना नैतिक आदर्श माना है। जो मनुष्य इस आदर्श को प्राप्त करने का जितना प्रयास करता है, वह मानवीय धरातल से उतना ही ऊँचा उठता जाता है और हम उसे महात्मा देव-तुल्य और देवता की उपाधि दे देते हैं। नैतिक मूल्यों को अपनाने वाला व्यक्ति नैतिक आचरण सम्पन्न होता है। कोई आकर्षण, कोई प्रलोमन उसे अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता। उसे न केवल अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता है, बल्कि वह तो मानव मात्र के हित में अपने आप को समर्पित कर देता है। उस के कर्त्तव्य का क्षेत्र मानव-जगत् से भी परे पशु-जगत् तथा पेड़ पौधा तक विस्तृत हो जाता है। उसकी उदार भावना उसे स्वार्थ से परमार्थ की ओर ले जाती है और वह परहित के कार्य में अपने को समर्पित कर देता है आज मनुष्य स्वार्थ की भावना से ग्रसित है और यही समस्त अनैतिक आचरणों का कारण है। व्यक्ति अपने ''स्व'' को जितना परिवार, समाज व देश तथा मानव-मात्र के प्रति समर्पित करता है, उतना ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। आत्म त्याग के द्वारा ही आत्म-लाभ सम्भव है। हम अपनी नैतिक चेतना को इतनी जागृत करें कि अपने व्यक्तिगत अहं को सामाजिक अहं में लीन करने की नैतिक बाध्यता हो। इसी में मानव होने की गरिमा है।

आज नैतिकता की बातें कोई सुनना भी नहीं चाहता। ऐसे स्थिति में नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना का कार्य कठिन तो अवश्य है, पर असम्भव नहीं। नैतिक मूल्य शाश्वत होते हैं, पर देश, काल, परिस्थिति के अनुसार उन्हें अपनाने में कठोरता का पालन न कर समयानुसार उन्हें अपनाना चाहिए। अरस्तु ने सद्‌गुण को मध्यम मार्ग चुनने की आदत माना है। कहा गया है- ''अति सर्वत्र वर्जयेत'' अति सदैव बुरी होता है। इसीलिए बुद्धिमत्ता इसी में है कि मध्यम मार्ग चुना जाये। चुनाव की यह आदत ही सद्‌गुण कहलाती है। सद्‌गुणी व्यक्ति वह नहीं जो कायर है और न अति साहस के कारण खतरों को आमंत्रण देने वाला उद्‌दण्ड, वरन् सद्‌गुणी व्यक्ति वह है जो कठिनाईयों से घबराता नहीं, वरन् उनसे मुकाबला करने का साहस रखता है। उसमें नैतिक साहस होता है। न तो अत्यधिक अपव्ययी होना सद्‌गुण है और न कंजूस होना, वरन् मितव्ययी और मिताचारी होना सद्‌गुण है नैतिक मूल्यों की प्राप्ति हेतु सद्‌गुणी होना आवश्यक है और नैतिक मूल्यों को प्राप्त करना मानव-मात्र का कर्त्तव्य है।

3.14 अध्यात्म और नैतिकता

मानव सभ्यता के इतिहास में धर्म के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। धर्म की उत्पत्ति की विषय में भी अनेक मत प्रचलित हैं। आदिम धर्म में जादू-टोना, रहस्य, भय, अन्धविश्वास आदि का प्राबल्य अवश्य ही रहा होगा। प्रकृति के विभिन्न रहस्यों की बौद्धिक व्याख्या कर पाना आदिम मानव के लिए संभव नहीं था। इनकी व्याख्या करने के लिए उनके पास अन्धविश्वास, भय, जादू-टोना आदि ही थे। अत: आदिम मानव का ईश्वर इन सब शक्तियों से पूर्ण था। किन्तु जैसे-जैसे मानव सभ्यता का विकास होता गया भय और जादू-टोने का स्थान बौद्धिक व्याख्याओं ने लेना प्रारंभ किया। मानव ने प्रकृति के विभिन्न अंगों का मानवीयकरण करना प्रारंभ किया। उसने प्रकृति में स्वत: का प्रतिबिम्ब देखा। स्वयं में जो त्रुटियां और कमजोरियां थीं उनसे मुक्ति की कल्पना की और इन सभी गुणों का आरोपण उसने प्रकृति के विभिन्न उपादानों में किया। जिन नैतिक गुणों और मूल्यों का मानव में अभाव था, वे प्रकृति के विभिन्न उपादनों में देखे जाने लगे। धरती अन्नदायी और जीवन रक्षा करने वाली मां बन गयी। उसकी स्तुति की जाने लगी। बाढ़ग्रस्त नदी क्रोधित मां बन गयी उसकी मनुहार की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाने लगी। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, तारे, आकाश आदि विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को मानव ने स्वयं के रूप में देखा और उनमें देवत्व का आरोपण किया तथा उनकी पूजा की जाने लगी।

सभ्यता के विकास के साथ मानव की धर्म संबंधी धारणा का भी विकास होता गया। धर्म के विकास का अगला चरण है–मानवीय धर्म। अब मानव आराध्य के रूप में प्रकृति के विभिन्न उपादानों को नहीं बल्कि मानव के ही विभिन्न रूपों को पूजने लगा। विभिन्न मानवीय गुणों–यथा दया, करुणा, क्षमा, सहानुभूति, त्याग आदि का मूर्तिमंत स्वरूप ही ईश्वर समझा जाने लगा। मानवीय धर्म मानते हैं कि मानव सृष्टि का का सिरमौर है इसलिए ईश्वर अपना संदेश देने के लिए स्वयं मानव के रूप में इस धरा पर अवतरित होता है। ईसामसीह भगवानबुद्ध, राम, कृष्ण आदि में ईश्वर को देखना ही मानवीय धर्म है। भगवान महावीर,

धर्म के विकास का अगला चरण आध्यात्मिक धर्म है। धर्म का यह अब तक सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है। आध्यात्मिक धर्म के अनुसार एक ऐसी शक्ति है जिसकी थाह मानव बुद्धि नहीं पा सकती। यही शक्ति विभिन्न रूपों में सृष्टि में प्रकट हो रही है। आयात्मिक धर्म के भी अनेक रूप हैं। आध्यात्मिक धर्म व्यक्तिनिष्ठ ईश्वर में भी विश्वास करता है तथा किसी न किसी रूप में कार्य सिद्धान्त में भी विश्वास करता है। इसके अनुसार मानव स्वयं अपनी नियति का निर्माता है। प्रत्येक मनुष्य जैसे कर्म करता है उसी के अनुरूप उसे फल मिलता है और उसका भावी जीवन निर्धारित होता है। आध्यात्मिक धर्म यह विश्वास करता है कि विश्व में एक न्याय व्यवस्था है। समस्त सृष्टि एक निश्चित नियम के द्वारा शासित हो रही है। उसी नियम को वेदों में ऋत् कहा गया है।

मानवता के इतिहास में अब तक जितने भी धर्म विकसित हुए हैं उन सबका लक्ष्य मानव का कल्याण है। मानव कल्याण की इस स्थिति को भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों में अलग–अलग नाम से पुकारा गया है। हिन्दू दर्शन इसे मोक्ष या निःश्रेयस कहते हैं, बौद्ध दर्शन में इसे निर्वाण और जैन दर्शन में कैवल्य कहा गया है। स्पष्ट है कि धर्म के अस्तित्व को केवल उसके वर्तमान जीवन तक ही सीमित नहीं समझता। मानव का वर्तमान उसके पूर्व में किये गये कर्मों का फल है और उसका भावी जीवन उसके वर्तमान में किये गये कर्मों द्वारा निश्चित होगा। मानव के भावी जीवन को सुखद एवं सार्थक बनाने के सभी धर्म मानव के लिए कुछ विधि एवं निषेधों की व्यवस्था करते हैं। इन दोनों का लक्ष्य एक ही है मानव को मोक्ष की ओर प्रवृत्त करना। विधि के कर्तव्य हैं जो मानव को करने हैं और निषेध वे कार्य हैं जिनसे मानव को दूर रहना है।

विभिन्न धर्म ग्रंथों में वर्णित विधि या आदेश ही उस धर्म के अनुसार धार्मिक दायित्व कहलायेंगे। मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में पैदा होता है और बढ़ता है। इसलिए समाज का उस पर ऋण होता है। समाज के प्रति उसके कर्तव्य होते हैं। समाज के प्रति उसके ऋण और कर्तव्य ही उसके नैतिक और सामाजिक दात्यिव का निर्माण करते हैं। नैतिक एवं धार्मिक विधि निषेधों का लक्ष्य मानव के इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण में सुरक्षित करना है। धार्मिक दायित्वों का बल इस लोक की अपेक्षा परलोक पर या भावी जीवन पर अधिक है, जबकि नैतिक दायित्वों का संबंध मानव के वर्तमान जीवन तथा उसके सामाजिक जीवन से है। नैतिकता का केन्द्र मानव और उसके आसपास का समाज है। एक मनुष्य समाज के दूसरे मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करे, यह नीति शास्त्र का विचारणीय विषय है। इससे भिन्न मानव किस प्रकार का आचरण करे। जिससे कि उसका भावी जीवन सुखमय हो या परलोक में उसे किसी प्रकार का कष्ट न हो, यह धर्म के विचार का केन्द्र बिन्दु है। नीतिशास्त्र स्वयं को पूर्ण रूप से इस जीवन और इस लोक तक सीमित रखता है, जबकि धर्म का दृष्टिकोण अधिक व्यापक है। वह मानव को उसके समग्र रूप में देखता है। उसका भूतकाल, उसका वर्तमान और उसका भविष्य इन सबको अपने विचार का केन्द्र बिन्दु बनाता है, स्वाभाविक है कि धर्म स्वयं को मानव के इहलौकिक व्यक्तित्व तक सीमित नहीं रख सकता। संक्षेप में, सामाजिक मनुष्य नैतिकता का केन्द्र बिन्दु है जबकि धर्म के विचार का केन्द्र बिन्दु सम्पूर्ण मानव है, विशेष रूप से उसका पारलौकिक कल्याण। इस प्रकार धर्म का दृष्टिकोण समग्रग्राही है, वह वर्तमान मानव जीवन के न केवल सभी पहलुओं को बल्कि मानव की भूतकालीन सत्ता उसका वर्तमान एंव भविष्य में उस की नियति की चिन्ता करता है।

धर्म और नैतिकता के विषय में इस संक्षिप्त पृष्ठभूमि के पश्चात् हम नैतिक एवं धार्मिक दायित्वों की उत्पत्ति, उनका संबंध, उनके लक्ष्यों पर विचार करेंगे। हम इस विषय पर भी विचार करेंगे कि क्या नैतिक और धार्मिक दायित्व एक रूप हैं और यदि नहीं तो ऐतिहासिक दृष्टि से कौन से दायित्वों का स्थान पहले आता है।

सर्वप्रथम, नैतिक एवं धार्मिक दायित्वों की उत्पत्ति की समस्या को लें। मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में उत्पन्न होता, उसमें जीता और उसी में मरता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का कोई विशिष्ट स्थान होता है उस स्थान विशेष से समाज की कुछ अपेक्षाएं होती है। समाज हम से जिस आचरण की अपेक्षा करता है उनसे हमारे नैतिक दायित्वों का निर्माण होता है। कोई भी धर्म या गुरु हमसे जिस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आचरण की अपेक्षा करता है, हमारे कल्याण के लिए विशेष रूप से पारलौकिक कल्याण के लिए जिन विधि–निषेधों का प्रावधान करता है उनसे हमारे धार्मिक दायित्वों का निर्माण होता है इन दायित्वों की उत्पत्ति की समस्याओं को हम समाज शास्त्रीय मनोवैज्ञानिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से देख सकते हैं। प्रश्न यह है कि मानव सभ्यता के विकास में मत के पहले धर्म का स्थान आता है या नैतिकता का? दोनों ही पक्षों के विचारक अपने मत के समर्थन में सबल प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। संभवत: ऐसा कोई समय न रहा होगा जब केवल धर्म ही रहा हो या नैतिकता ही रही हो। दोथें साथ–साथ चलते हैं। धर्म का संबंध मनुष्य की आस्थाओं से है जबकि नैतिकता का संबंध हमारे व्यवहार के 'चाहिए' पहलू से है और इन दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। आचरण के औचित्य की समस्या आचरण के साथ ही प्रारंभ होती है। इस प्रकार धर्म एवं धार्मिक नैतिकता साथ–साथ ही मानव समाज में उत्पन्न होती है। यही बात नैतिक एवं धार्मिक दायित्वों के विषय में भी सत्य है। यह अवश्य है कि प्रत्येक युग में दोनों का स्वरूप बदलता रहता है। इस प्रकार धर्म और नैतिकता में संबंध वैकल्पिकता का नहीं बल्कि साहचर्य का है।

3.15 क्या नैतिकता परिवर्तनशील है?

वास्तव में नैतिकता का अखण्ड रूप है–आध्यात्मिकता या भौतिक आकर्षण से मुक्ति। वह है अहिंसा। अहिंसा और आध्यात्मिकता एक है, शाश्वत है, देश और काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित नहीं होती। आध्यात्मिकता का खण्ड रूप है–नैतिकता। स्वरूपत: वह भी अपरिवर्तित है किन्तु प्रकारों के रूप में वह परिवर्तनशील भी है। देश–काल की स्थिति के अनुसार बुराई के प्रकार बदलते रहते हैं। बुराई नया रूप लेती है, नैतिकता का रूप भी नया हो जाता है। वास्तव में अनैतिकता का रूप भी एक ही है। वह है हिंसा। हिंसा के नये प्रकार का प्रतिकार करने के लिए अहिंसा का नया प्रकार बनता है। स्वरूप न हिंसा का बदलता है और न अहिंसा।

नैतिकता का स्रोत आध्यात्मिकता है। आध्यात्मिकता का अर्थ है आत्मा की अनुभूति और उसके शोधन का प्रयत्न। वह वैयक्तिक वस्तु है। बाहरी जगत् में व्यक्ति सामाजिक बनता है, अन्तर्जगत में वह अकेला होता है। अकेलेपन में जो अध्याय होता है, वही दो में नैतिकता बन जाती है। नैतिकता अध्यात्म का प्रतिबिम्ब है।

नैतिक होने के लिए आध्यात्मिक होना बहुत जरूरी है। आध्यात्मिक होने का अर्थ है–अपने भीतर प्रवेश करना, अन्तर्जगत् में होने वाली प्रकंपनों और घटनाओं का अनुभव करना। क्षण–क्षण में उत्पन्न होने वाली इच्छाओं को जानना। इच्छा के प्रति जागरूकता बढ़ते ही उसे भोगने की बात कमजोर हो जाती है। कोई आदमी इच्छा को जानकर ही नैतिक बन सकता है। आज का कथन है–वर्तमान परिस्थिति नैतिक होने के बाधक है। यह निष्कर्ष सही नहीं है। बाधा परिस्थिति पैदा नहीं करती। बाधा पैदा करता है इच्छा का द्वंद्व। इच्छा का अपने–अपने क्षेत्र में महत्त्व है। वह मानवीय चरित्र की अभिव्यक्ति है, जीवन–यात्रा का एक अनिवार्य अंग है। उसकी उपेक्षा करना संभव नहीं है और उसकी हर आज्ञा को शिरोधार्य करना खतरे से खाली नहीं है। इन दोनों के बीच में मार्ग खोजना है और वह है–इच्छा का परिष्कार। इच्छा का दूसरा नाम है– नैतिकता। कई समस्याओं से घिरे वर्तमान भौतिकवादी जगत् के लिए इस महत्त्वपूर्ण क्षण में जिस वस्तु की आवश्यकता है वह है आध्यात्मिकता । केवल आध्यात्मिकता के द्वारा ही मनुष्यों में व्याप्त तमाम मानसिक व शारीरिक दुर्बलताएं दूर हो सकती हैं और आज उत्पन्न कई समस्याओं व संकटों से छुटकारा पाया जा सकता है। आध्यात्मिकता का अर्थ धर्म नहीं है। धर्म विश्वास और अंधविश्वासों से भरा होता है। आध्यात्मिकता का अर्थ है–हमें अपने हृदय–स्थित पुरूषोत्तम को खोजना और प्राप्त करना चाहिए और उसके साथ सजीव संबंध स्थापित करना चाहिए। अपने संपूर्ण जीवन और धर्म को उसके साथ सतत् तादात्म्य में परिवर्तित करना चाहिए।

मनुष्य बुद्धिजीवी है, उसकी जैसी चिन्ता या भावना होगी, वैसा ही उसका जीवन गठित हो जाता है। इसी कारण मानव जाति और मानव समाज पर दर्शनशास्त्र का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है। आधुनिक युग सभ्यता का जो रूप हम देख रहे हैं, वह दार्शनिक जड़वाद का ही मूल रूप में परिणाम है। वर्तमान युग में मानव जीवन आत्म विरोधी व द्वंद्वपूर्ण हो गया है। मनुष्य चाहता तो सुख–शांति है परन्तु उसका आचरण सुख–शांति के मूल में कुठाराघात करता है। मानव जीवन को समृद्ध और सर्वांग सम्पन्न बनाने के लिए वर्तमान काल में विज्ञान द्वारा जो साधन प्राप्त हुए हैं वे बड़े चमकप्रद है। यदि मानव जाति अपने व्यापार को यथा संगत भाव से सुव्यवस्थित रीति से चला सके तो केवल कुछ व्यक्ति या श्रेणियों का ही नहीं, बल्कि पृथ्वी के समस्त प्राणियों का जीवन स्वस्थ, सम्पन्न, सौंदर्यमय औार सुखी हो जाये किन्तु ऐसी सुव्यवस्था का कोई सूत्र विज्ञान से नहीं मिलता है। इसके लिए चाहिए मानव हृदय और मानव प्रकृति का आमूल परिवर्तन और यह परम अध्यात्म–तत्त्व के ज्ञान द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। गीता में ऐसे ज्ञान का अनुसंधान मिलता है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–सकल ज्ञानों से श्रेष्ठ ज्ञान में तुझको फिर बतलाता हूं, जिसको जानकर मुनिगण इस दु:ख द्वंद्वमय जीवन को अतिक्रम करके परमसिद्धि को प्राप्त हो गए हैं। गीता में अनेक धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन किया गया है किन्तु वास्तव में उनका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को अपने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर्तव्य का ज्ञान कराना ही हैं। यहां पर हम गीता के निष्काम कर्मयोग को लक्ष्य में रखेंगे, क्योंकि वर्तमान में मनुष्यों के नैतिक मूल्यों के पतन का तथा उत्पन्न कई समस्याओं का कारण निष्काम भाव से कर्म न करना हैं, मन इन्द्रिय पर संयम न होना है। इस जगत् में सर्वत्र कर्म की प्रधानता है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा हैं–''कोई भी पुरूष क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता किन्तु नि:संदेह सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।'' इन गुणों के (सत, रज, तम) क्रम विकास द्वारा ही सत् और असत् भला और बुरा, प्रेम और घृणा आदि द्वंद्वात्मक भावों की उत्पत्ति होती हैं। अत: इन गुणों से उत्पन्न विकारों पर विजय प्राप्त करना ही कर्मों की कुशलता है।

विकारों से युक्त कर्म नैतिक व सुखदायी नहीं हो सकते। अत: प्रत्येक परिस्थिति में अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्म की शिक्षा दी है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है–'हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनास्कत हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्म योग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है। उपर्युक्त श्लोकों में निष्काम कर्म के सिद्धांत का विवेचन युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक पद्धति से किया है। मन के द्वारा इंद्रियों को वश में करने से पहले मन का वश में होना आवश्यक है। यह चंचल और अस्थिर मन जिन कारणों से विचरण करता हैं, उनसे संयमित करके आत्मा के ही वश में लावे अर्थात् आत्मा में ही स्थिर करे। यद्यपि मन अत्यन्त चंचल है और उसकी गति वायु की गति से भी अधिक तीव्र हैं, फिर भी निरन्तर अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा उसे वश में करना संभव है। केवल हठपूर्वक मन के तीव्र वेग को रोकने का प्रयत्न करना, जल प्लावित नदी का प्रवाह रोकने के प्रयत्न के समान हैं। इसका व्यर्थ होना निश्चित हैं। जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों का निग्रह कर, इन्द्रियों के भोगों का मन से स्मरण करता रहता है, वह मिथ्यावादी कहा जाता है। इसलिए संयम के द्वारा इस शक्ति का अपव्यय रोककर उसे संग्रहित करने को कहा जाता है। किन्तु इस संग्रहित शक्ति का उपयोग तत्काल ही श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति के लिए नहीं किया जाए तो संयम बांध को तोढ़कर यह शक्ति मनुष्य के संतुलित व्यक्तित्व को ही प्रवाह में बहाकर ले जायेगी। इस शक्ति का प्रयोग कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मक्षेत्र में समुचित रूप से कर्म बिना फल की इच्छा के अनासक्त होकर करना चाहिए। श्रीकृष्ण ने कहा है– 'तू कर्मफल के हेतु वाला मत हो और अकर्म में भी तेरी आसक्ति न हो। क्योंकि आसक्ति से किया हुआ कार्य अंत में दु:ख पहुंचाने वाला होता है, साथ ही आसक्त व फल की कामना से कर्म करने वाला व्यक्ति अपने कर्तव्य का सही पालन नहीं कर सकता। अनासक्त होकर कर्म करने का यह अर्थ नहीं कि अकर्म में प्रीति हो जाए। श्रीकृष्ण ने कहा है–'यज्ञ के लिए किए हुए कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म में प्रवृत्त हुआ यह पुरुष कर्मों द्वारा बंधता है, इसलिए हे कौंतेय! आसक्ति को त्यागकर यज्ञ के निमित्त ही कर्म का सम्यक् आचरण करो। यहां यज्ञ शब्द का अर्थ है–वे सब कर्म जिन्हें मनुष्य नि:स्वार्थ भाव एवं समर्पण की भावना से विश्व के कल्याण के लिए करता है। अत: निष्काम कर्मयोग के द्वारा ही मनुष्य सम्यक् आचरण कर सकता है। साथ ही लोक हित के लिए कार्य कर सकता है। युक्त पुरुष कर्म फल का त्याग करके परमशांति को प्राप्त होता है और अयुक्त पुरुष फल में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बंधता है।

व्यक्ति का अनासक्त या आध्यात्मिक भाव बाह्य स्वरुप में परिलक्षित होता है जो कि समाज के साथ जुड़े हुए होते हैं। समाज और राज्य की परिचारिका नीति बाहरी प्रकाश है। नीति का आधार सद्–व्यवहार और समाज की भलाई है। अध्यात्म का अन्तर शोधन और आत्मा की भलाई। अध्यात्म जड़ है, नीति उसकी शाखा। जड़ के बिना शाखा का स्थायित्व नहीं होता, अध्यात्महीन नीति थोड़े में लड़खड़ा जाती है। इसलिए उसे अध्यात्म का अवलम्ब लेना ही चाहिए। इसमें एक दार्शनिक कठिनाई भी है। जैसे नीति का विचार सर्वसाधारण है, वैसे अध्यात्म का विचार सर्वसम्मत नहीं है। आत्मा, अमरत्व, पुनर्जन्म, अपने किये कर्मों का अवश्य भोग, परमात्म पद–ये अध्यात्मवाद की पूर्व मान्यताएं हैं। अनात्मवादी को ये स्वीकार नहीं होता। नीति सामाजिक जीवन की उपयोगिता है, इस दृष्टि से वह आत्मवादी को भी मान्य होती है पर आध्यात्मवाद नीतिवादी को मान्य नहीं होता, अतएव समाज की भूमिका से परे विकास पाने वाले चरित्र का मूल्य आंकने की दृष्टि उसमें नहीं होती। अणुव्रत इस समस्या का समाधान है। उसका विचार न नीति है और न उस पर टिका हुआ है। उसका आधार शुद्ध आध्यात्मिकता है, उसकी आराधना का ध्येय आत्म–शोधन के द्वारा परमात्मा की ओर प्रयाण है। नीति का परिमार्जन उससे सहज हो जाता है इसलिए नीतिवाद और आत्मवादी दोनों के लिए वह समन्वय का मार्ग है।

आज व्यक्ति का जीवन उद्देश्य–शून्य, दिशा–शून्य हो गया। वह चलना चाहता है पर दिशा नहीं मिल रही हैं। उसमें बुद्धि–कौशल है, विवेकशक्ति है पर जीवन की सही दिशा ढूंढने में या तो वह समर्थ नहीं है या उसे ढूंढने का प्रयत्न नहीं हो रहा है। उसी के परिणामस्वरूप पूंजी का मोह, आकर्षण और अधिकाधिक उपार्जन हो रहा है। पूंजी का अर्जन कितना और कैसे करना इस परिमाण और साधन की मर्यादा का विवेक नहीं रहा है। इसीलिए अनावश्यक संग्रह और निकृष्टतम स्थानों से धन कमाने में मनुष्य की शक्ति खप रही है। फलस्वरूप मनुष्य का जीवन बोझिल बन रहा है, अनेक अनिष्ट विकल्प खड़े हो रहे हैं। पदार्थपरक विकास जीवन में शांति लायेगा, सुख लायेगा और जो लोक–प्रतिष्ठा का पक्ष है वह भी बलवान बनेगा, एक ऐसी मान्यता है। इसने विशेष रूप से वैज्ञानिक और शिक्षित जगत् को आकृष्ट

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

किया है या यों कहना चाहिए कि वह जगत् ही उस मान्यता का स्रष्टा है। किन्तु दूसरी मान्यता संयम-विकास और प्रतिरोधात्मक शक्ति के विकास की है। उनकी ध्वनि है-आवश्यकताओं पर नियंत्रण करो, अपना संयम करो, वृत्तियों का प्रतिरोध करो, वस्तुओं का अतिमात्र उपयोग मत करो। दोनों भिन्न दिशाएं हैं। चौराहे पर खड़े व्यक्ति को निर्वाचन करना है, उसे कहां और किस रास्ते से जाना है? पदार्थ-विकास ने जगत् को अशांत और विषम बना रखा है यह प्रकाश की भांति स्पष्ट है। विलास और बड़प्पन की वृत्ति संयम की बाधक बनी हुई है। यह भोगवाद की परिस्थिति है। इसके निर्माण के दो हेतु हैं-व्यक्ति की आत्मिक कमजोरी और व्रत-पालन के अनुरूप भूमिका का अभाव। राष्ट्र, समाज और परिवार का वातावरण व्रत के अनुरूप नहीं होता, तब तक व्यक्ति को व्रत-पालन की सहज प्रेरणा नहीं मिलती। जीवन-निर्वाह की अनिश्चितता, प्रतिष्ठा और भोग-विलास की तीव्र भावना से धन के अतिमात्र संग्रह की वृत्ति पुष्ट होती है। निर्वाह की चिन्ता का संबंध समाज-व्यवस्था से है। भोग-विलास की तीव्र भावना का संबंध व्यक्ति की अपनी भावना से है। समाज की व्यवस्था उत्तरदायित्वपूर्ण और प्रतिष्ठा की मान्यता का आधार योग्यता हो तथा व्यक्ति में भोग-नियंत्रण की शक्ति बढ़े, तभी सामूहिक रूप से अध्यात्म एवं नैतिकता का साहचर्य सिद्ध होगा।

3.16 अहिंसा एवं मूल्य मीमांसा

आत्मौपम्य का सिद्धान्त अहिंसा का पहला सिद्धान्त है। पदार्थ के अपरिग्रहण का सिद्धान्त अहिंसा का उच्छ्वास है, प्राण-तत्त्व है। यही अहिंसा का सम्यग् दर्शन है। जो लोग इस दर्शन को नहीं जानते, वे अपने संकुचित स्वार्थों की सीमा में जीते हैं। उनकी पूर्ति के लिए हिंसा का उच्छृंखल प्रयोग करते हैं हिंसा की बाढ़ केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही अवांछनीय नहीं है किन्तु पर्यावरण की दृष्टि से भी अवांछनीय है। इहलौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से अवांछनीय है। इसीलिए महावीर ने कहा था-

एस खलु गंथे- हिंसा ग्रन्थि है।

एस खलु मोहे- यह मोह है।

एस खलु मारे- यह मृत्यु है।

एस खलु णारए- यह नर्क है।

तं से अहियाए- हिंसा मनुष्य के लिए हितकर नहीं है।

तं से अबोहीए- वह बोधि का विनाश करने वाली है।

अहिंसा अपने चित्त की पवित्रता से आती है। राग, द्वेष और मोह का आवेश न हो, यह है पवित्रता। प्राण का मोह भी एक आवेश है। भले ही फिर वह अपने प्राण का मोह हो या फिर किसी दूसरे के प्राण का। कष्ट न हो, यह रागात्मक आवेश है। मैं कष्ट न पाऊं, यह भी रागात्मक आवेश है। कोई दूसरा कष्ट न पाए यह भी रागात्मक आवेश है। अनावेश का संकल्प यह है कि हम ऐसा आचरण करें, जिससे स्वयं को भी कष्ट न हो, दूसरों को भी कष्ट न हो, किसी को कष्ट न हो और कोई कष्ट आए तो उसे झेलने की क्षमता हो।

हमारा मूल्यांकन का एक दृष्टिकोण है। जो व्यक्ति परमार्थ की भूमिका पर मूल्य आंकता है वह बाहरी बात का मूल्य बहुत कम आंकता है। उसकी दृष्टि में मूल्य होता है अन्तर की वृत्तियों का। वह देखता है कि व्यक्ति की आन्तरिक वृत्तियाँ कैसे है? उसकी भूमिका कैसी है? उसने किस भूमिका पर काम शुरू किया है? समाज को जरूरत है अहिंसा की, इसलिए कि वह सुख से जी सके। समाज को जरूरत है अहिंसा की, इसलिए कि वह शांति के साथ जी सके, स्वस्थ रह सके। व्यावहारिक अहिंसा के आधार पर हमने इस जरूरत का अनुभव किया किन्तु हमारी एक भूल रह गई। हमने पारमार्थिक अहिंसा की ओर बहुत कम ध्यान दिया। आत्मा की समानानुभूति और समानता के बिन्दु का कम से कम हमने स्पर्श किया है।

मनुष्य में हिंसा का जन्म हुआ है। वह आकस्मिक नहीं है। उसके पीछे अनेक कारण हैं। जब तक पारमार्थिक अहिंसा का विकास समाज में नहीं होगा, वास्तविक अहिंसा से प्रभावित नहीं होगी, तब तक समाज में चल रही हिंसा को कम नहीं किया जा सकेगा। हमें इस सत्य को समझना है कि पारमार्थिक अहिंसा क्या है? वास्तविक अहिंसा क्या है जिससे हम जीवन की शैली को प्रभावित करना चाहते हैं और वर्तमान जीवन की शैली को बदलना चाहते हैं? पारमार्थिक अहिंसा का आधार है- आत्मा। सब आत्माओं की समानता। जैसी मेरी आत्मा वैसी ही हर प्राणी की आत्मा। न केवल मनुष्य की आत्मा, पर हर प्राणी की आत्मा वैसी ही है जैसी कि मेरी है। यह आत्मा की समानता का सिद्धान्त ही पारमार्थिक अहिंसा का आधार बन सकता है। जैसी सुख-दुःख की अनुभूति मेरी है वैसी ही सब प्राणियों की है। इसलिए मुझे किसी भी प्राणी को दुःख नहीं देना चाहिए, सताना नहीं चाहिए, किसी का आधार नहीं छीनना चाहिए और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

किसी को मारना नहीं चाहिए। यह चेतना जब तक नहीं जाग जाती, तब तक पारमार्थिक अहिंसा का विकास नहीं होता। जब तक उस अहिंसा का विकास नहीं होता तब तक समाज में एक दूसरे पर प्रहार और कष्ट देने का व्यवहार चल रहा है।

अनैतिकता आर्थिक और राजनैतिक वातावरण में वैषम्य से उद्‌भुत होती है–ऐसा माना जाता है। इसमें कुछ सचाई भी हो सकती है, पर अबाधित सचाई नहीं है। अनैतिकता भोग–वृत्ति से पैदा होती है, भोग की सामान्य मात्रा प्रत्येक सामाजिक प्राणी में होती है। उससे वैषम्य नहीं आता। भोग की मात्रा बढ़ती है तभी आर्थिक और राजनैतिक वातावरण का वैषम्य बढ़ता है। उससे अनैतिकता को उत्तेजना मिलती है। जो लोग अनैतिकता का मूल आर्थिक और राजनैतिक वैषम्य में ढूंढते हैं, भोग–वृत्ति के नियंत्रण की ओर ध्यान न देते हुए सिर्फ आर्थिक और राजनैतिक वैषम्य का निवारण करना चाहते हैं, उन्होंने बुराई की जड़ को नहीं पकड़ा है। भोग–वृत्ति प्रबल रहेगी तब वैषम्य मिटेगा कैसे? यह आलोचनीय विषय का महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। आर्थिक समता का प्रयत्न होता है, कुछ व्यवस्था बनती है। कालान्तर में उभरी हुई भोग–वृत्ति फिर उस पर छ जाती है। वातावरण विषम बन जाता है। भोग के लिए शक्तियेग की उपासना लगभग समूचे मानव–समाज के लिए बुरा नहीं है, पर वह केवल यात्रा का विश्रान्तिगृह है–इसे नहीं भुलाना है। आखिर वहां तक चलना है, जहां अनैतिकता की जड़ पर भोग–वृत्ति पैर रोपे बैठी है। उसे उखाड़ फेंकना है। व्रत का साध्य यही है।

समाज का समतापूर्ण और स्थिर आर्थिक और राजनैतिक ढांचा ही नैतिकता का आधार है–यह भी अर्द्ध–सत्य है। लड़खड़ाती हुई आर्थिक स्थिति में भी त्याग के संस्कारों में पलने वाले लोग अनीति से परे रहे हैं और रहते आ रहे हैं। दोनों स्थितियों को अंतिम छोर या आपवादिक घटनाएं नहीं कहा जा सकता। यह सचाई है। इसी के सहारे हमें नैतिकता का आधार ढूंढना है। बुराई न करने में अपनी भलाई का विश्वास, बुराई का बुरा फल भोगने के निश्चित नियम का विश्वास, आत्मा के अमरत्व का विश्वास–ये तीन विश्वास नैतिकता के आधार हैं। इनका विकास किए बिना नैतिकता का प्रतिष्ठान नहीं किया जा सकता। समाज के लिए अपना अर्पण और सामाजिक एकता की दृढ़ भावना भी व्यापक नहीं हो सकती। वह अपने समाज और राष्ट्र तक ही सीमित होती है। वह दूसरों के प्रति अधिक अनैतिक–कूटता के रूप में उभर सकती है, जैसा कि बहुत सारे भौतिक–विचार–प्रधान राष्ट्रों में हो रहा है। यही हाल आर्थिक और राजनैतिक साम्य के आधार में बंध जाने वाली नैतिकता का है। इसलिए हमें पथ की लम्बाई को कम नहीं नापना चाहिए। नैतिकता के सही आधार को प्रकाश में लाया जाये और उसके संस्कार दृढ़मूल किए जाए–यह बहुत बड़ी अपेक्षा है।

अनुभव बताता है कि जो लोग दूसरों के साथ अनैतिक व्यवहार करते हैं, उन्हें भी अनैतिकता पसंद नहीं है। धोखा देने के क्षणों में भी धोखा देने वाले को अनैतिकता पसंद नहीं है। उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ, हित और सुख–सुविधा का संस्कार जमा हुआ है। उस संस्कार की मादकता से उन्मत्त होकर वह अनैतिक आचरण कर लेता है, जो उसे पसंद नहीं है। इस मानवीय दुर्बलता को ध्यान में रखकर ही महर्षि व्यास ने लिखा था– **जानामि धर्म न च मे प्रवृत्ति : जानाम्यधर्म न च मे निवृत्तिः।** मैं धर्म को जानता हूं, फिर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं कर पा रहा हूं। मैं अधर्म को जानता हूं, फिर भी उससे निवृत्त नहीं हो पा रहा हूं। यह क्यों? हमने अपनत्व की रेखाएं बहुत छोटी खींच रखी है। उन रेखाओं के भीतर जो है, उसके प्रति हमारा ममत्व है और उनसे बाहर जो है, उनके प्रति हमारा ममत्व नहीं है। जहां हमारा ममत्व है, वहां हम नैतिकता को पसंद भी करते हैं और उसका व्यवहार भी करते हैं। ममत्व की परिधि से परे हम नैतिकता को पसंद करते हुए भी अनैतिक व्यवहार कर लेते हैं। यह ममत्व की रेखा व्यापक हो जाए तो वह नैतिकता के व्यवहार को भी व्यापक बना देती है।

अनैतिकता की समस्या को सुलझाने के दो विकल्प हैं–या तो ममत्व का विसर्जन या ममत्व का विस्तार। आदमी उन भावनाओं और व्यक्तियों के लिए अनैतिक व्यवहार करता है, जिन्हें अपना मान रखा है। उन पर से ममत्व हटा लेने का अर्थ होता है, अनैतिकता के जाल से स्वयं को मुक्त कर लेना। हिन्दुस्तान में व्रत की दीक्षा इसी ममत्व–विसर्जन की प्रक्रिया के संदर्भ में प्रचलित हुई थी। साम्यवादी देशों ने कानूनन ममत्व विसर्जन कराकर आर्थिक क्षेत्र की अनैतिकता के उन्मूलन का प्रयत्न किया है। लोकतंत्री समाजवाद भी उसी क्षितिज की ओर आगे बढ़ रहा है। ममत्व–विस्तार का मंत्र हमारे धर्मशास्त्रों ने दिया था। सब जीवों का अस्तित्व वैसा ही है जैसा कि मेरा है। समूचा संसार ही मेरा परिवार है। ये उसके निष्ठा–सूत्र हैं। यहां ममत्व की रेखाएं बहुत व्यापक हो जाती है। फिर उनसे बाहर कोई नहीं रहता। फलस्वरूप अनैतिक व्यवहार के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता।

3.17 निष्ठा

अहिंसा मूल्य मीमांसा के अन्तर्गत कुछ लोग कहते हैं, अनैतिकता का मूल गरीबी है। कुछ लोगों का मत है कि उसका मूल अशिक्षा है। कुछ लोगों की धारणा में उसका मूल है व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और कुछ लोगों की धारणा में उसका मूल है भौतिकवादी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दृष्टिकोण। इन तथ्यों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी यह पूर्णत: स्वीकार नहीं किया जा सकता। ये अनैतिकता के मूल कारण हैं। अनैतिक न गरीब होता है और न संपन्न होता है। अनैतिक वह होता है, जिसमें निष्ठा का अभाव हो। निष्ठाशून्य विपन्न आदमी भी अनैतिक होता है और निष्ठाशून्य संपन्न आदमी भी अनैतिक होता है। अनैतिक न अशिक्षित होता है न शिक्षित होता है। अनैतिक वह होता है जिसमें निष्ठा का अभाव है। निष्ठाशून्य अशिक्षित आदमी भी अनैतिक होता है और निष्ठाशून्य शिक्षित आदमी भी अनैतिक होता है। अनैतिक न व्यक्तिवादी या भौतिकवादी दृष्टि वाला होता है और न समाजवादी या धार्मिक दृष्टि वाला होता है। अनैतिक वह होता है, जिसमें निष्ठा का अभाव है। जिस आदमी में निष्ठा का बीज अंकुरित हो जाता है वह गरीब हो या संपन्न, अशिक्षित हो या शिक्षित, व्यक्तिवादी हो या समाजवादी, भौतिकवादी हो या धार्मिक, नैतिक होता है।

निष्ठा का अर्थ है चित्त की स्थिरता। अनैतिकता का मूल बीज ही है चित्त की चंचलता, चित्त का उद्वेग। जिन मनुष्यों का मन कहीं भी टिका हुआ नहीं है, वे समाज में अस्वस्थता फैलाते हैं, तोड़-फोड़ करते हैं और भ्रष्टाचार करते हैं। स्थिर चित्त वाले आदमी ऐसा आचरण नहीं करते। प्रश्न उत्पन्न होता है कि निष्ठा किसके प्रति होनी चाहिए? उत्तर होगा कि वह जीवन-मूल्यों के प्रति होनी चाहिए। जीवन के मूल्य मुख्यत: चार वर्गों में विभक्त हैं-

१.	वैयक्तिक मूल्य	२.	सामाजिक मूल्य
३.	राष्ट्रीय मूल्य	४.	धार्मिक मूल्य।

शांति और स्वतंत्रता-ये जीवन के वैयक्तिक मूल्य हैं। श्रम और संतुलित व्यवस्था-ये जीवन के सामाजिक मूल्य हैं। एकता और बलिदान-ये जीवन के राष्ट्रीय मूल्य हैं। मैत्री और सत्य-ये जीवन के धार्मिक मूल्य हैं।

3.18 क्रान्ति का नया अयाम

क्रान्ति परिवर्तन का चरम रूप है और इस प्रकार यह उद्विकास तथा प्रगति से पूर्णतया भिन्न है। क्रान्ति परिवर्तन की वह तीव्र प्रक्रिया है जिसमें परम्परागत सामाजिक मूल्यों और सामाजिक मान्यताओं का कोई महत्त्व नहीं रहता। इस प्रकार वास्तविक अर्थों में समाज के परम्परागत ढांचे में होने वाले आमूल परिवर्तन को ही सामाजिक क्रान्ति कहते हैं। आज हम क्रान्ति के युग में रह रहे हैं, यद्यपि बीसवीं शताब्दी का सम्पूर्ण इतिहास ही सामाजिक क्रान्ति का इतिहास है। हॉपर (R.D. Hopper) ने सामाजिक क्रान्ति की धारणा को अनेक स्थितियों द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''सामाजिक क्रान्ति वह तीव्र परिवर्तन है जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों को एक दूसरे से संबद्ध रखने वाली राजनैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और सरकार अस्थायी रूप से एक कार्यशील सत्ता के रूप में नहीं रह जाती। इस स्थिति के अन्तर्गत समाज की आधारभूत एकता समाप्त हो जाती है और सामाजिक व नैतिक आदर्श-नियम अदृश्य होने लगते हैं। इस स्थिति में सामाजिक संरचना को स्थायी रखने वाले अनौपचारिक नियमों का प्रभाव अस्थायी रूप से समाप्त हो जाता है। क्रान्ति में अधिक तीव्रता होने पर सभी प्रमुख संस्थाओं में महान् परिवर्तन होते हैं। इसके फलस्वरूप राज्य, धर्म, परिवार व शिक्षा अपने मूल रूप से दूर चले जाते हैं।'' कुछ व्यक्ति क्रान्ति की धारणा में हिंसा को एक अनावश्यक तत्त्व मानते हैं, लेकिन यह हमारा भ्रम है। क्रान्ति हिंसक भी हो सकती है, जैसी कि रूस और चीन में तथा यह शांतिपूर्ण पद्धतियों के द्वारा भी संभव है जैसा कि अमरीका और फ्रांस की औद्योगिक क्रान्ति के साथ ही क्रान्ति का एक भिन्न स्वरूप भी होता है, जो वस्तुपूरक नहीं अपितु आत्मपरक भी होता है। जो व्यक्ति का रुपान्तरण करता है। क्रान्ति का नया आयाम के पाठ के अन्तर्गत यही क्रान्ति हमारे अध्ययन का विषय होगी, किन्तु क्रान्ति के व्यावहारिक। सामाजिक सन्दर्भों पर भी विचार करना समीचीन प्रतीत होता है।

वर्तमान युग की सामाजिक विशेषताओं में तीव्र परिवर्तन हुआ है। समाज में ग्रामीण विशेषताओं की कमी और नागरिक व औद्योगिक विशेषताओं में वृद्धि हो रही है। सामाजिक संरचना में सामन्तवादी संगठन के स्थान पर अनेक वर्गों और संघों के द्वारा आधीनता और प्रभुत्व का नवीन रूप सामन आया है। प्रदत्त पदों (ascribed status) के स्थान पर अर्जित पदों (achieved status) का महत्त्व बढ़ा है। सामाजिक गतिशीलता जो पहले न तो क्षैतिजीय (horizontal) रूप में थी और न ही उदग (vertical) रूप में, आज समाज का नियम सा बन गयी है और सभी व्यक्ति परम्परागत सामारजिक संबंधों के दायरे के बाहर निकल रहे हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण सामाजिक संगठन में होने वाला परिवर्तन सामाजिक क्रान्ति ही है। इस प्रकार भले ही सरकार के रूप अथवा प्रभुसत्ता में कोई परिवर्तन न हो, लेकिन जीवन के सभी क्षेत्रों में होने वाला आमूल परिवर्तन भी सामाजिक क्रान्ति का ही परिचायक है। वास्तव में सामाजिक क्रान्ति-आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और औद्योगिक परिवर्तनों का ही संयोग है। इसके लिए संघर्ष, हिंसा और उत्पीड़न उतने महत्त्वपूर्ण साधन नहीं है जितनी कि वे पद्यतियां जिनके द्वारा व्यक्तियों के विचारों, सामाजिक मूल्यों, भावनाओं, मनोवृत्तियों और आदशों में परिवर्तन किया जा सकता हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामाजिक क्रान्ति का अर्थ भिन्न-भिन्न श्रेणियों में व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है। जिन व्यक्तियों को क्रान्ति के कारण अपनी सामाजिक स्थिति के कम हो जाने का भय होता है वे क्रान्ति को एक अवाञ्छनीय घटना मानते हैं, जबकि क्रान्ति के कारण जिन व्यक्तियों की सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनैतिक स्थिति गिरने की कोई आशंका नहीं होती, वे क्रान्ति का प्रत्येक स्थिति में स्वागत करते हैं क्योंकि यह स्थिति उनके लिए आशावान हो सकती है। यही कारण है कि सामाजिक क्रान्ति को किसी विशेष परिभाषा के द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। हम अधिक से अधिक इसकी प्रवृत्ति और इसके प्रति उत्तरदायी कारणों का ही उल्लेख कर सकते हैं।

3.19 क्रान्ति का अर्थ एवं प्रकृति

सामाजिक क्रान्ति की सर्वमान्य धारण के बारे में अत्यधिक विवाद है। कुछ व्यक्ति केवल सामाजिक और राजनैतिक संगठन में उत्पन्न होने वाले तीव्र और व्यापक परिवर्तन को क्रान्ति कहते हैं। जबकि अनेक विद्वानों के अनुसार प्रत्येक औद्योगिक परिवर्तन क्रान्ति का ही एक चरण होता है। ब्रिन्टन का कथन है कि समाजशास्त्रीय रूप से सामाजिक क्रान्ति का अर्थ वर्तमान सामाजिक संरचना के अन्तर्गत व्यक्तियों की मनोवृत्तियों और सामाजिक मूल्यों में इस प्रकार परिवर्तन हो जाना कि वे उसको नये दृष्टिकोण से देखना आरंभ कर दें। इन परिवर्तनों से, कम से कम कुछ समय के लिए, सामाजिक विघटन व्यापक रूप ले लेता है। यह स्थिति राजनैतिक शक्ति में होने वाले परिवर्तन के पहले और बाद, दोनों समयों पर स्पष्ट होती है। किम्बाल यंग (Young) का कथन है कि क्रान्ति आकस्मिक रूप से होने वाला सामाजिक परिवर्तन है जिसमें तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था को बलपूर्वक उलटकर एक नये प्रकार के सामाजिक और कानूनी नियंत्रण की स्थापना कर दी जाती है। क्रान्ति की इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि इस स्थिति में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक, सभी परिवर्तनों का समावेश होना आवश्यक है। इस आधार पर सामाजिक क्रान्ति के बारे में चार प्रमुख विचारधाराओं का उल्लेख किया जा सकता है, यद्यपि ये सभी विचारधाराएं एक दूसरे से संबंधित है-

१. क्रान्ति प्रमुख रूप से एक राजनैतिक तथ्य है, जो प्रभुसत्ता में होने वाले परिवर्तनों से संबंधित है। इस धारणा के अनुसार क्रान्ति में केवल वही परिवर्तन सम्मिलित होने चाहिए जिनका नियमन (regulation) सेना के द्वारा होता है।

२. क्रान्ति का अर्थ समाज के अन्दर पाये जाने वाले प्रमुख वर्गों और समूहों (elite) की स्थिति में परिवर्तन होना है अर्थात् इसमें शक्ति सम्पन्न वर्गों का स्थान यदि अन्य समूहों के हाथों में आ जाये, अब इस तीव्र परिवर्तन को हम सामाजिक क्रान्ति कहेंगे।

३. क्रान्ति का संबंध सामाजिक संरचना के किसी भी एक प्रमुख पक्ष में होने वाले आमूल परिवर्तन से है। यह पक्ष चाहे धार्मिक हो, आर्थिक, राजनैतिक अथवा औद्योगिक जीवन से संबंधित हो। उदाहरण के लिए, समाज सुधार के वर्तमान प्रयत्नों ने धार्मिक जीवन को बिलकुल बदल दिया है। इसी प्रकार भाप के इंजन के आविष्कार द्वारा सम्पूर्ण यातायात की व्यवस्था में परिवर्तन हो जाना भी क्रान्ति का ही एक उदाहरण है।

४. अन्तिम विचारधारा यह है कि सामाजिक क्रान्ति का अर्थ केवल समाज की प्रमुख संस्थाओं के प्रति व्यक्तियों को मनोवृत्तियों में परिवर्तन हो जाना है। वास्तव में, हम जिसे आर्थिक, राजनैतिक अथवा सामाजिक क्रान्ति कहते हैं, वह केवल इन पक्षों से संबंधित संस्थाओं के प्रति व्यक्तियों की मनोवृत्तियों में होने वाला परिवर्तन ही है।

क्रान्ति की उपर्युक्त चारों विचारधाराओं का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक क्रान्ति का अर्थ केवल परिवर्तन की उस तीव्र प्रक्रिया से है जिसके अन्तर्गत एक समाज के सदस्य अपनी समाजिक संस्थाओं, सामाजिक मूल्यों, सामाजिक संबंधों, अन्तर्क्रियाओं और विश्वासों के प्रति नवीन मनोवृत्तियों को विकसित करके सामाजिक संरचना में आमूल परिवर्तन कर देते हैं। यह परिवर्तन केवल कुछ व्यक्तियों की मनोवृत्तियों में ही न होकर बल्कि सामान्य जनता की मनोवृत्तियों में होना अनिवार्य है। यह मनोवृत्तियां क्रान्ति होने के बहुत पहले से ही विकसित होने लगती हैं और एक विशेष समय पर (जो वर्षों लम्बा हो सकता है) स्पष्ट रूप से हमारे सामने आ जाती है। यदि मनोवृत्तियों में होने वाला यह मनोवैज्ञानिक परिवर्तन पहले से ही उत्पन्न न हुआ हो, तब ऐसे परिवर्तन को हम सामाजिक क्रान्ति न कहकर बल्कि राजद्रोह (rebellion), विप्लव (insurrection) अथवा बलवा (revolt) ही कहेंगे। इस प्रकार क्रान्ति की धारणा को समझते समय यह सदैव ध्यान रखना पड़ेगा कि आकस्मिक रूप से राजनैतिक सत्ता में होने वाला परिवर्तन क्रान्ति नहीं बल्कि राजद्रोह होता है, लेकिन जब इस परिवर्तन के साथ सामाजिक परिवर्तन भी जुड़ जाता है तब इसे हम क्रान्ति कहते हैं। यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि सामाजिक क्रान्ति के समय नैतिकता के विचार का कभी लोप नहीं होता। इतना अवश्य है कि व्यक्ति परम्परागत नैतिकता के स्थान पर इनके नवीन मानदण्डों को विकसित कर लेते हैं और इसी आधार पर अपने को संगठित भी रखते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त आधार पर सामाजिक क्रान्ति की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए थामस और जैनिकी (Thomas and Znaniecki) ने कुछ ऐसी दशाओं का उल्लेख किया है जिनका क्रान्ति से पहले पाया जाना आवश्यक हैं। इसमें से कुछ प्रमुख दशाएं (Pre-requisits of revolution) इस प्रकार हैं–

१. सामाजिक क्रान्ति के लिए, व्यक्तियों में अपने सम्पूर्ण समूह, समुदाय, वर्ग अथवा राष्ट्र के लिए नवीन सामाजिक मूल्यों की आवश्यकता का अनुभव करना आवश्यक है।

२. अधिकतर व्यक्ति परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को समाप्त करने के लिए चेतन और प्रयत्नशील हों।

३. सामाजिक संस्थाएं व्यक्तियों की वर्तमान आवश्यकताओं को संतुष्ट करने में सफल न हो रही हों। सोरोकिन ने भी इस पूर्वदशा को आवश्यक मानते हुए यह कहा है कि क्रान्ति होने के लिए व्यक्तियों के सामाजिक मूल्यों में संतुलन न होना आवश्यक स्थिति है, यह स्थिति सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक व्यवस्था के बीच एक खाई उत्पन्न कर देती है और इसी के फलस्वरूप सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सामाजिक क्रान्ति का अर्थ सामाजिक मनोवृत्तियों में तीव्र परिवर्तन होना है। यह मनोवृत्तियां अधिकार व्यवस्था, विभिन्न लिंगों के पारस्परिक संबंधों, परिवार की संरचना, वर्ग-संबंधों, सामाजिक मूल्यों, परम्परागत नियंत्रणों, निषेधों, नैतिकता तथा नियंत्रण के साधनों से संबंधित होती हैं।

3.20 क्रान्ति तथा उद्विकास

सामाजिक क्रान्ति के इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि क्रान्ति और उद्विकास की प्रकृति, प्रक्रिया तथा दशाएं एक दूसरे के पूर्णतया भिन्न हैं। इन दोनों प्रक्रियाओं की प्रकृति में पायी जाने वाली कुछ प्रमुख भिन्नताओं को निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है–

१. सामाजिक क्रान्ति एक सामाजिक धारणा है जिसमें हम समाज में उत्पन्न होने वाले तीव्र परिवर्तनों को सम्मिलित करते हैं जबकि उद्विकास की प्रक्रिया व्यावहारिक रूप से केवल प्राकृतिक क्षेत्र में ही देखने को मिलती है। इस प्रकार इसे एक प्राकृतिक प्रक्रिया कहकर संबोधित किया जा सकता है।

२. क्रान्ति एकाएक अथवा अप्रत्याशित रूप से होने वाले तीव्र परिवर्तनों को स्पष्ट करती है जिसमें परिवर्तन की किसी निश्चित दिशा की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। उद्विकास एक क्रमिक परिवर्तन है जिसमें परिवर्तन से संबंधित प्रत्येक स्तर पहले से ही निश्चित होता है।

३. उद्विकास की प्रक्रिया किसी वस्तु अथवा स्थिति से पहले से ही निहित आन्तरिक तत्त्वों के प्रभाव से क्रियाशील होती है जबकि क्रान्ति का कारण समाज की वे विभिन्न दशाएं हैं जिनके अन्तर्गत हम रह रहे हैं। इसका अर्थ है कि उद्विकास की प्रक्रिया स्वाभाविक है जबकि क्रान्ति मनुष्य के सक्रिय प्रयत्नों पर निर्भर होती है।

४. कुछ विद्वानों का कथन है कि उद्विकास एक सर्वव्यापी तथ्य है जो प्रत्येक समाज को सदैव अधिक या कम मात्रा में प्रभावित करता रहता है। इसके विपरीत क्रान्ति सामाजिक व्यवस्था में उत्पन्न होने वाली आकस्मिक और अस्थायी स्थिति है। किसी भी समाज की प्रक्रिया कुछ महीनों अथवा अधिक से अधिक कुछ वर्षों तक ही क्रियाशील रह सकती है।

५. क्रान्ति के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली नवीन सामाजिक व्यवस्था पहले की अपेक्षा अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी। इसके प्रभावों को किसी निश्चित नियम के द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। उद्विकास के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु अथवा स्थिति एक निश्चित नियम से ही प्रभवित होती है-अर्थात् यह सरलता से जटिलता में परिवर्तित होती जाती है।

3.21 सामाजिक क्रान्ति के कारण

सामाजिक क्रान्ति के प्रति उत्तरदायी कारकों के विवेचन में हमारे सामने प्रमुख प्रश्न यह आता है कि क्रान्ति का संबंध यदि हमारी मनोवृत्तियों से है तब वे कौन से कारक हैं जो हमारी मनोवृत्तियों को प्रभावित करके सामाजिक व्ययवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन उत्पन्न रकते हैं? वास्तव में, यदि समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को यह विश्वास होने लगे कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के द्वारा उनका दमन (repression) किया जा रहा है। (चाहे यह विश्वास वास्तविक हो अथवा काल्पनिक) तब उनमें वे मनोवृत्तियां विकसित हो जाती है जो क्रान्ति का आधार है। इसके बाद भी यह जानना आवश्यक है कि केवल दमनकारी शक्तियां ही क्रान्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। क्रान्ति के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रति उत्तरदायी कारक तब तक प्रभावपूर्ण नहीं हो सकते जब तक कि कुछ विशेष परिस्थितियां समाज में उत्पन्न न हो जायं। इनमें कुछ प्रमुख परिस्थितियां इस प्रकार हैं–१. विस्तृत असंतोष जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति को उचित न समझने के कारण विकसित कर लेता है, २. व्यक्तियों में व्याप्त यह असंतोष इस प्रकृति का होना आवश्यक है जिससे सामूहिक विरोध की भावना पैदा हो सके, ३. क्रान्ति के लिए सुधारवादी योजना व्यक्तियों के मस्तिष्क में होना आवश्यक है जिसको आधार मानकर व्यक्ति परिवर्तन के प्रति जागरूक हो सकें, ४. क्रान्ति के पहले भले ही कोई उचित नेतृत्व न हो लेकिन एक बार इसके आरंभ हो जाने के बाद व्यवस्थित नेतृत्व आवश्यक है और जबकि उच्च वर्ग में पुरानी सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने की शक्ति नहीं रह जाती और निम्न वर्ग इसे किसी भी कीमत पर बनाये रखना नहीं चाहता। उपयुक्त परिस्थितियों के अन्तर्गत सारोकिन ने अपनी पुस्तक Sociology of Revolution में सामाजिक क्रान्ति के प्रति उत्तरदायी आगामी कारकों को प्रमुख महत्त्व दिया है।

3.21.1 युद्ध – अनेक असफल युद्धों ने सामाजिक और आर्थिक क्रान्तियों को जन्म दिया है। उदाहरण के लिए १९१२ में तुर्की में, १८७०–७१ में फ्रान्स में, और १९१७–१८ में रूस, आस्ट्रेलिया, हंगरी, जर्मनी व बल्गेरिया में क्रान्तियां हुई हैं। युद्ध के समय और बाद में सामाजिक तथ्यों, मूल्यों और सामाजिक दर्शन में व्याप्त गतिशीलता अपनी चरम सीमा पर होती है। युद्ध के समय बौद्धिक क्षमताएं विध्वंसकारी दिशा में कार्य करने लगती हैं जिसके कारण कला और विज्ञान का रूप बदल जाता है।

3.21.2. जनसंख्यात्मक कारक –जनसंख्या में बहुत तेजी से वृद्धि अथवा ह्रास होने के परिणामस्वरूप, एक ही समाज के अन्दर विभिन्न वर्गों के आकार में असंतुलित रूप से परिवर्तन होने लगता है। अनेक विद्वानों ने जनसंख्या के आकार और घनत्व (size and density) को सामाजिक संगठन का प्रमुख आधार माला है। उनके अनुसार जनसंख्या में होने वाली तीव्र वृद्धि परिवार, विवाह और सामाजिक संबंधों के रूप में तीव्र परिवर्तन उत्पन्न कर देती है। जनसंख्या में अति वृद्धि व्यक्तिगत साधनों की मात्रा में कमी करती है। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति नवीन पारिवारिक संरचना पर विचार करने के लिए बाध्य होते हैं। हमारे लोकाचार और प्रथाएं भी जनसंख्या के आकार और घनत्व में परिवर्तन हो जाने से अनुपयोगी रह जाती है। इससे नवीन समस्याओं का जन्म होता है। उदाहरण के लिए, जनसंख्या की समस्या ही शिशु हत्या, गर्भपात, बहुपति विवाह, विलम्ब विवाह और गर्भ–निरोधक साधनों के उपयोग की समस्या को उत्पन्न करती है।

3.21.3. विचारों में परिवर्तन–विश्व के इतिहास में सामाजिक क्रान्ति एक बड़ी सीमा तक विचारों में होने वाले परिवर्तन पर ही आधारित रही है। विद्युत के समान विचार भी शक्ति का सबसे बड़ा स्रोत है जो कितनी भी ताकतवर वस्तु को और कितनी भी दूरी से प्रत्येक तथ्य को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। सामाजिक क्रान्ति विचारों की क्रान्ति का ही परिणाम है। जब एक समाज के अधिकतर व्यक्ति इस विचारधारा से प्रभावित होने लगते हैं कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में उनको उचित स्थान नहीं मिल रहा है, संस्थाएं उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने में असफल हो रही हैं और ईमानदार व्यक्तियों का शोषण हो रहा है, तब क्रान्ति अवश्यम्भावी हो जाती है। क्रान्ति के फलस्वरूप यह आवश्यक नहीं है कि नये विचार समाज को पहले से अधिक संगठित कर ही दें, लेकिन विचारों में होने वाले परिवर्तन परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को छिन्न–भिन्न अवश्य कर देते हैं।

3.21.4. आर्थिक दशाएं – आर्थिक दशाओं के उतार–चढ़ाव सामाजिक क्रान्ति का प्रमुख कारक हैं। सामाजिक क्रान्ति में आर्थिक दशाएं प्रत्यक्ष कारक न होकर अप्रत्यक्ष कारक हैं क्योंकि आर्थिक शक्तियां सामाजिक समस्याएं उत्पन्न करती हैं और बाद में सामाजिक समस्याएं क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करती हैं। समाज में विभिन्न वर्गों का निर्माण आर्थिक आधार पर ही होता है और आर्थिक जीवन में परिवर्तन होने से इन वर्गों की सामाजिक स्थिति भी परिवर्तित हो जाती है। अनेक विद्वानों ने व्यक्तियों की विचारधाराओं, विश्वासों, कला और साहित्य में होने वाली क्रान्ति को भी आर्थिक कारकों से ही संबंधित मान लिया है।

3.21.5. सुरक्षात्मक तनाव –प्रत्येक समाज की व्यवस्था के लिए व्यक्तियों को पारस्परिक हितों को ध्यान में रखना आवश्यक है। यह भावना समाप्त हो जाने से प्रत्येक व्यक्ति अपने को असुरक्षित समझने लगता है और सम्पूर्ण समाज को इसके लिए उत्तरदायी मानता है। परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था के मार्ग में अधिक बाधाएं आती हैं, तब कुछ समय तक परिवतन की प्रक्रिया स्थिर रहती है लेकिन बाद में यह क्रान्ति का रूप ले लेती है।

3.21.6. स्वतन्त्रता से संबंधित तनाव– व्यक्तियों में स्वतंन्त्रता की धारणा सामाजिक क्रान्ति का सदैव से ही एक महत्त्वपूर्ण कारक रही है। यह धारणा व्यक्तियों में यह भावना उत्पन्न करती है कि सामाजिक और राजनैतिक शक्तियों के परिवर्तन से वे अधिक स्वतन्त्र हो सकेंगे। फ्रान्स की क्रान्ति में स्वतन्त्रता, समानता आकैर बन्धुत्व व्यक्तियों का प्रमुख नारा था। तानाशाही समाजों में क्रान्ति का प्रमुख करण यह था कि उच्च वर्ग वैयक्ति स्वतन्त्रता को अनावश्यक और अवांछनीय मानता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.21.7. स्तरीकरण संबंध तनाव – सामाजिक ढांचे को स्थिरता होने से भी अनेक सामाजिक तनाव विकसित होते हैं, जिनकी अन्तिम अभिव्यक्ति सामाजिक क्रान्ति के रूप में होती है। यदि सामाजिक संरचना में शीर्ष गतिशीलता की संभावना नहीं होती तब सम्पूर्ण व्यवस्था में किसी न किसी समय आमूल परिवर्तन हो जाना अवश्यम्भावी है। व्यक्ति अपनी प्रकृति से गतिशील प्राणी है और पुरानी सामाजिक व्यवस्था में इस प्रवृत्ति का दमन करने के तत्त्व निहित होते हैं। निम्न वर्गों के योग्य व्यक्ति भी इस दमन से तब तक छुटकारा नहीं पाते जब तक कि सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में ही परिवर्तन न हो जाये। किसी भी समाज में निम्न वर्गों की सदस्य संख्या उच्च वर्गों के सदस्यों से कहीं अधिक होती है इसलिए क्रान्ति को समाज का एक स्वाभाविक नियम माना जा सकता है।

उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त आगबर्न ने सामाजिक क्रान्ति को दो अन्य कारकों के आधार पर स्पष्ट किया है– १. संस्कृति से संबंद्ध विभिन्न पक्षों में असमान गति से परिवर्तन २. व्यापक कठिनाइयां और दमन। प्रथम स्थिति के कारण समाज के सम्पूर्ण अधिकार कुछ प्रतिष्ठित और धनाढ्य व्यक्तियों के हाथ में आ जाते हैं जबकि निर्धन वर्ग और अधिक दमनीय स्थिति में आ जाता है। इसके फलस्वरूप जन सामान्य में आन्तरिक असंतोष की मात्रा बढ़ने लगती है और वे संगठित होकर अपने अधिकारों की मांग करने लगते हैं। इसके बाद दूसरी स्थिति का आरंभ होता है तबकि एक ओर तो उनके पास जीवन–यापन के साधनों की मात्रा निरन्तर कम होते जाने के कारण आर्थिक, परिवारिक, राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में उनकी कठिनाइयां निरन्तर बढ़ती जाती है और दूसरी ओर उनकी इच्छाओं का शक्ति से दमन किया जाने लगता है। यहीं से स्थिति विस्फोटक बन जाती है। व्यक्ति समाज के नियमों की परवाह न करके सामूहिक रूप से एक नवीन व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं, भले ही इसमें हिंसा का भी समावेश हो जाये। इसी स्थिति को हम क्रान्ति कहते हैं।

3.22 सामाजिक क्रान्ति के प्रकार

परविर्तन संस्कृति का सहज स्वभाव है। एक दृष्टिकोण से संस्कृति एक विराट मूल्य–व्यवस्था है। दूसरे दृष्टिकोण से संस्कृति समाज की अभिव्यक्ति है। मूल्य–व्यवस्था के रूप में संस्कृति निरन्तर बदलती रहती है। प्रत्येक युग के कुछ अपने मूल्य होते हैं। प्रत्येक युग समालोचना के अपने मानदंड ढूंढ निकालता है। प्रत्येक युग का जीवन, कला, साहित्य और इतिहास के प्रति अपना दृष्टिकोण होता है। प्रत्येक युग का अपना साहित्य और दर्शन होता है। प्रत्येक युग परिवर्तन को प्रोत्साहित करता है और इसलिए नए–नए सामाजिक आंदलोनों का श्रीगणेश करता है। अभिव्यक्ति के ढंग या संस्कृति की शैली समयानुसार बदलती रहती है। कला, साहित्य, दर्शन और आदर्श की शैलियों के नियम एक प्रकार से परिवर्तन के नियम हैं, किसी भी अभिव्यक्ति का ढंग अपने आप में संपूर्ण नहीं होता। वह लोगों को थोड़ा समय तक ही संतोष दे सकता है। जब वह परिपक्व हो जाता है , तब वह पके फल की तरह समाज–रूपी पेड़ से गिर जाता है और नई अभिव्यक्ति के ढंग उसकी जगह ले लेते हैं।

सामाजिक परिवर्तनों में सामाजिक क्रान्तियों का बहुत बड़ा हाथ होता है। हम सामाजिक क्रान्तियों को सामूहिक प्रयत्नों के द्वारा एक नयी व्यवस्था स्थापना के रूप में देख सकते हैं। उनका प्रारंभ अशांति के वातवरण में होता है। जीवन की प्रचलित प्रणाली से असंतोष तथा जीवन की नवीन प्रणाली–स्थापना के आशा–ये दो चीजें उन्हें प्रेरणा तथा शक्ति देती है। सामाजिक क्रान्ति नवीन–जीवन–प्रणाली की आवश्यकता की ओर संकेत करती है। प्रारंभिक दशा में सामाजिक क्रान्ति की कोई स्पष्ट रूप–रेखा नहीं रहती, उसका संगठन मजबूत नहीं रहता और वह अनावश्यक समझी जाती है। सामूहिक दृष्टिकोण उसके प्रति अनुकूल नहीं रहता। सामाजिक क्रान्ति अपने विकास की दशा में समाज की प्रकृति को ग्रहण कर लेती है। यह एक संगठित और विशिष्ट रूप में प्रथा, परंपरा, दृढ़–नेतृत्व, श्रम के स्थायी विभाजन, सामाजिक मूल्य–संक्षेप में एक प्रकृति, एक सामाजिक संगठन और जीवन की एक नवीन योजना का रूप धारण कर लेती है। अध्ययन की सुविधा के लिए सामाजिक क्रान्तियों का वर्गीकरण तीन शीर्षकों में किया जा सकता है।

१. सामान्य सामाजिक क्रान्ति
२. असामान्य सामाजिक क्रान्ति
३. स्पष्ट सामाजिक क्रान्ति

साधारणत: सामाजिक क्रान्ति कहने पर हमारे मस्तिष्क में श्रमिक–क्रान्ति, युवक–क्रान्ति, नारी जागरण और शंति–आंदोलन जैसी क्रान्तियों का रूप उभर आता है। क्रान्ति की पृष्ठभूमि का निर्माण जनता के मूल्यों और महत्त्वों में धीरे–धीरे होने वाले व्यापक परिवर्तनों से होता है। उन परिवर्तनों को सास्कृतिक प्रवाह के नाम से पुकारा जा सकता है। जन–समूह के विचारों, विशेषकर उनके परंपरागत कर्त्तव्यों और अधिकारों की बद्धमूल धारणाओं को बदलने के लिए ही ये सांस्कृतिक विचारधाराएं प्रवाहित रहती है। किसी विशेष समय में बहुत–से लोग अपने परंपरागत विश्वास को नये दृष्टिकोण से देखने लगते हैं। इच्छा और आशा के तत्त्वों से उनके दृष्टिकोण का निर्माण होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह जनजीवन के दृष्टिकोण को बदलने वाले नए मूल्यों के आगमन की ओर संकेत करता है। आधुनिक इतिहास में स्वास्थ्य के बढ़े हुए महत्त्व, नि:शुल्क शिक्षा में विश्वास, मतदान–अधिकार की वृद्धि, नारियों की मुक्ति और बच्चों के प्रति बढ़ती हुई सजगता, विज्ञान का बढ़ा हुआ मूल्य आदि उपयुक्त प्रकार की सांस्कृतिक धारणाओं के ही उदाहरण हैं।

सांस्कृतिक धाराएं नवीन मूल्यों की जिन अभिवृत्तियों को अपने साथ लाती हैं उनमें कुछ ऐसे मनोरंजक मनोवैज्ञानिक परिवर्तन है जिनसे सामाजिक क्रान्तियों को सामान्य रूप से प्रेरणा मिलती है। साधारणत: उनका यह अर्थ होता है कि लोगों ने अपने प्रति एक ऐसी नयी धारणा बना ली है, जिसका मेल जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से नहीं खाता। प्रकृति और रुचि की भिन्नता को प्राप्त कर नयी दिशाओं की ओर सजग होकर बढ़ने वाला यह जनसमूह अभूतपूर्व का अनुभव करता है। उनके इस नवीन स्वरूप की रूपरेखा, जिसका विकास सांस्कृतिक प्रवाहों के प्रत्युत्तर में होता है, बिल्कुल ही अनिश्चित और अस्पष्ट रहती है और ऐसे स्वरूप के प्रत्युत्तर में उनका आचरण भी अनिश्चित रहता है, उसका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं रहता, उद्देश्य की यही अनिश्चितता और व्यापक अस्थिरता ही सामाजिक क्रान्तियों को समझने के लिए समाधान प्रस्तुत करती हैं।

सामान्य सामाजिक क्रान्तियां विषम और अनिश्चित प्रयत्नों का रूप ले लेती हैं। उनकी एक सामान्य दिशा होती है, जिसकी ओर वे धीर–धीरे रुकते हुए किन्तु अटल रूप से आगे बढ़ती है। आंदोलन होने के कारण शुरू में वे असंगठित और नेतृत्व–हीन होती हैं। उनकी न कोई स्वीकृत सदस्यता रहती है और न उचित संरक्षण, नियंत्रण या जीवन ही रहता है। उनमें एक ओर प्रभावशाली उत्साह तथा दूसरी ओर उदासीनता भी दिखाई पड़ सकती हैं। कहा जा सकता है कि उनकी प्रगति अनिश्चित है तथा विकृति की भी संभावनाएं हैं। सब मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ऐसी क्रान्तियों को कुछ ऐसे लोग विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ाते चलते हैं, जिन्हें प्रत्यक्ष रूप से कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिलती तथा जिनके व्यक्तित्व अथवा सफलताओं का बहुतों को ज्ञान भी नहीं होता। संभव है कि क्रान्ति विरोध एवं असहयोग की ऐसी अभिव्यक्ति हो, जिसके मूल में एक कल्पित–लोक का वर्णन हो। अतएव, यह उलझे हुए रूप से एक ऐसे दर्शन का अंकन करती है जिसका आधार नवीन या संदेश के प्रचार में सहायक होने के कारण नवीन विचारों उगती हुई आशाओं तथा जगते हुए असंतोषों की प्रचारात्मक सहायता करता है। सामान्य सामाजिक क्रान्ति पर उनका निर्देशन तथा नियंत्रण रहता है, बल्कि इसलिए कि वे शांति–स्थापना का भी समर्थन करते हैं, अपने ही उद्देश्यों और लक्ष्यों के विषय में अस्पष्ट रहते हुए भी वे अक्सर पथ–प्रदर्शक रहते हैं। उनके उदाहरण आशाओं के जागरण, अत्याचारों के विरोध तथा जागरण के विकास में सहायक होते हैं। इन उदाहरणों से कोई भी आसानी से यह समझ सकता है कि सामान्य क्रान्तियों का विकास श्रृंखलाहीन, अप्रसिद्ध, अप्रत्यक्ष और गुप्त रूप से होता है। उनकी कार्यवाहियों और सफलताओं के प्रयोग की संभावना विभिन्न दलों में दिखायी पढ़ने वाले एकत्र प्रयत्नों के बजाय व्यक्तिगत अनुभव के ही क्षेत्र में होती है। यह स्पष्ट ही दिखाई पड़ता है कि सामान्य सामाजिक क्रान्तियां बहुत हद तक सामूहिक आचरण से प्रभावित रहती हैं। विशेषत: प्रारंभिक अवस्थाओं में सामान्य सामाजिक क्रान्तियों के ऐसे रूप की संभावना दीखती हैं, जो व्यक्तियों की स्वतंत्र इच्छाओं तथा व्यक्तिगत रूपों का संकलन मात्र होता है। जिस प्रकार सामूहिक आचरण अनिश्चित और बिना किसी स्पष्ट रूपरेखा के होते हैं, वैसे ही सामान्य सामाजिक क्रान्तियां और रूप–रेखा तथा अस्पष्ट अभिव्यक्ति वाली होती है।

जिस प्रकार सांस्कृतिक धाराएं सामान्य सामाजिक क्रान्तियों के उद्‌गम स्थान हैं, वैसे ही असामान्य सामाजिक क्रान्तियों का बीज सामान्य सामाजिक क्रान्तियों में ही छिपा रहता है। असामान्य सामाजिक क्रान्तियों को हम तीव्रतम असंतोष की प्रवृत्तियों का एकत्रीकरण तथा सामान्य सामाजिक क्रान्तियों द्वारा जगाई गई इच्छाओं एवं आशाओं का एक ऐसा रूप कह सकते हैं जिन्हें एक विशेष लक्ष्य की दिशा में प्रवाहित कर दिया गया है।

इस प्रकार की क्रान्ति का उदाहरण सुधारवादी आंदोलन माना जा सकता है। विशेष जातीय क्रान्ति के लक्ष्य निश्चित, सुश्रंखला और स्पष्ट रहते हैं। इस प्रयत्न में यह क्रान्ति एक संस्था का, एक ढांचे का विकसित रूप प्राप्त कर एक समाज का निर्माण आवश्यक रूप से कर लेती है। यह एक स्वीकृत तथा परीक्षित नेतृत्व एवं सदस्यता के एक ऐसे निश्चित रूप का विकास कर लेती है जिसका लक्षण है आत्मचेतना। यह क्रान्ति परंपराओं के एक ढांचे का रूप स्थिर कर लेती है। साथ ही यह दिशा–संकेत करने वाले मूल्यों का निर्माण, एक विशिष्ट दर्शन, कुछ नियम–समूहों और संभावनाओं की एक सामान्य रूप–रेखा को भी निश्चित कर लेती है। इसी के भीतर श्रम का विभाजन होता है। श्रम–विभाजन एक ऐसे सामाजिक ढांचे में होता है, जिसमें व्यक्तियों को एक विशेष सामाजिक स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार व्यक्ति की वैयक्तितता के विकास के साथ–साथ व्यक्किगत धारणाओं का विकास होता है। वैयक्तितता का यह विकास, व्यक्तिगत धारणाओं का रूप सामाजिक ढांचे के वैयक्तिक रूप की प्रतिमूर्ति का प्रतिनिधित्व करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वस्तुत: स्पष्ट सामाजिक क्रान्ति का जन्म पूर्व–स्थापित संस्था के ढांचे से नहीं होता। यह तो अपनी स्वाभाविक गति में एक संस्कृति या संस्था का विकास कर लेती है। सामाजिक क्रान्तियों को इसी व्यावहारिक तथा विकासवादी दृष्टिकोण से देखना आवश्यक है। आरंभ में किसी भी सामाजिक क्रान्ति का संगठन प्रमुखत: इसी प्रवृत्ति की ओर अग्रसर करने वाले आचरणों से होता है। प्रवृत्ति ही इसका लक्षण है। इसका कोई स्पष्ट लक्ष्य एवं कोई निश्चित उद्देश्य नहीं रहता, इसके आचरण और चिंतन–प्रणाली पर अस्थिरता और सामूहिक उत्तेजनाओं का बहुत बड़ा प्रभाव रहता है। जैसे–जैसे सामाजिक क्रान्ति आगे बढ़ती जाती है, वैसे–वैसे इसकी अनिश्चित नीति संगठित और ठोस रूप ग्रहण कर लेती है। सामाजिक क्रान्तियों की ऐसी शाओं की सीमा का एक ऐसा स्पष्ट रूप स्थिर करना संभव है, जिससे इनके निरंतर विकासशील संगठन का ज्ञान हो। ये दशएं है–सामाजिक अस्थिरता, व्यापक उत्तेजना की स्थिति, बाह्य रूप रेखा के निर्माण की स्थिति, संस्थापन की स्थिति।

ऊपर जिन चार दशाओं का उल्लेख किया गया है जिसमें पहली दशा में लोग अस्थिर, ऊबे हुए रहते हैं। अतएव, उनका आचरण अनिश्चित प्रकार का होता है। ऐसे विचार और परामर्श जो उनके असंतोष को सहायता पहुंचाने वाले होते हैं, उन पर क्षणिक प्रभाव डालते हैं क्योंकि उस समय जनता वैसी ही मनस्थिति में रहती है। अतएव, इस दिशा में लोगों को उत्तेजित करने वाला व्यक्ति एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेता है। उनका यह अनिश्चित और आकस्मिक व्यवहार महत्त्वपूर्ण है। कारण यह है कि उनका यह व्यवहार सामूहिक रूप से एक दूसरे पर प्रभाव डालने की चेष्टा करता है। ऐसी अवस्था में इस बात का पता लगाना संभव है कि किस विशेष वस्तु की और उनके असंतोष की धारा विशेष रूप से हांकती है। व्यापक उत्तेजना का पता तो थोड़े अत्याचार से ही चल जाता है। किन्तु उनकी यह दशा आकस्मिक और बिल्कुल निरुद्देश्य नहीं रहा करती। इस बात का तो निश्चित ज्ञान हो जाता है कि वैसी परिस्थिति क्यों उत्पन्न हुई और उस दशा में सामाजिक परिवर्तन के तौर पर क्या करना चाहिए। फलत: लक्ष्य अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। ऐसी दशा में नेता के सुधारवादी या मत–प्रवर्तक होने की संभावना हो जाती है। बाह्य रुपरेखा के निर्माण की दशा में क्रान्ति प्रत्यक्ष रुप से संगठित हो जाती है इसके नियम बन जाते हैं। नीति, अनुशासन तथा कुशलता का ज्ञान हो जाता। ऐसी अवस्था में नेता के रजनीतिक रहने की संभावना रहती है। संस्था बन जाने के बाद की स्थितियों में क्रान्ति निश्चित समस्या के रूप में जम जाती है। क्रान्ति के उद्देश्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए निश्चित व्यक्तित्व और निश्चित विधान की स्थापना हो जाती है। ऐसी दशा में नेता के शासक रहने की संभावना रहती है। असामान्य सामाजिक क्रान्ति के विकास पर विचार करते समय हमारी रुचि इनके ढांचे और उन साधनों को जानने की ओर कम रहती है, जिनके द्वारा क्रान्ति अपनी प्रगति करने और संगठित होने के सफलता प्राप्त करती है।

उत्तेजना किसी भी सामाजिक क्रान्ति की प्रारंभिक आवश्यकता है। किसी भी क्रान्ति के प्रारंभ और पूर्व की दशाओं में इसका अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। यह संभव है कि क्रान्ति के जीवन–चक्र की बाद वाली अवस्थाओ में यह गौण रूप से वर्तमान रहे। उत्तेजना जनता को जागृत कर उन्हें क्रान्ति का सैनिक बना देने के लिए प्रयोग में आती है। यह जरूर ही समूह को उभाड़ कर अस्थिर और असंतुष्ट बना देने का प्रबल साधन है। फलत: यह समूह में पूर्व प्रचलित विचारों और परंपरागत चिन्तन तथा कार्य करने की प्रणाली को नष्ट कर उनके परंपरा के मोह को तोड़ती है। किसी भी क्रान्ति को एक विशेष स्थान प्राप्त कराने के लिए आवश्यक है कि जनसमूह अपने परंपरागत विश्वासों और चिंतन प्रणाली के बंधन से मुक्त हो जाए और उसके भीतर नवीन आकांक्षाएं और नवीन भावनाएं जागृत हों। इसी प्रकार का सामूहिक परिवर्तन उत्तेजना फैलाना चाहता है। सफल होने के लिए उत्तेजना को सबसे पहले जन–समूह को आकृष्ट करना आवश्यक है। दूसरे इसे समूह में प्रचलित नए विचारों, नवीन भावनाओं, सिद्धांतों, आलोचनाओं तथा आश्वसनों के द्वारा दिशा–निर्देश करना ही चाहिए।

उत्तेजना का कार्य दो परिस्थितियों में चलता है। पहली परिस्थिति वह वस्तुस्थिति है, जिसमें अन्याय, अविवेक और दुरुपयोग का बोलबाला रहता है फिर भी लोग वैसे जीवन को स्वीकार कर लेते हैं, उसके विरोध में चूं भी नहीं बोलते। वैसी अवस्था में जब संभावित रूप से दु:ख और गतिरोध से लड़ाई हो जाती है, तब समूह में अनुयोग के लक्षण रहते हैं। उनका अपनी परिस्तियों का अपना दृष्टिकोण उन्हें इस अनुद्योग को स्वीकार करने को मजबूर करता है, इसलिए उत्तेजना का पहला कार्य यह है कि वह उनकी ही चिंतन प्रणाली और जीवन–पद्धति की सत्यता पर प्रश्नवाचक लगाने में समर्थ करने के लिए आगे बढ़ावे। ऐसी ही दशा में वह उत्तेजना ऐसी सामाजिक अस्थिरता को उत्पन्न कर सकती है, जो पहले से वर्तमान नहीं थी। दूसरी अवस्था में समूह में जागृति, असंतोष और बेचैनी रहती है, लेकिन तब समूह के लोग या तो कार्यशील बनने में कायरता दिखाते हैं या किंकर्तव्य–विमूढ़ रहते हैं। ऐसी दशा में उत्तेजना का काम उनमें उस हद तक अशांति का बीज बोना नहीं है, जितना उनके हृदय में पहले से ही वर्तमान अशाति को और भी गंभीर, प्रकट और प्रत्यक्ष कर देता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्तेजना फैलाने वाले भी दो ऐसी कोटियों में आ सकते हैं, जो उपर्युक्त दो वस्तुस्थितियों में मोटे तौर पर मिलती है। पहले प्रकार की उत्तेजना फैलाने वाला अशांत, उत्तेजना में आ जाने वाला तथा उद्दंड प्रकृति का होता है और उसका अशांत किन्तु जोशीला व्यवहार जनता को आकृष्ट करता है। उसके व्यवहार की बेचैनी और उत्तेजना समूह को प्रभावित करती है। समूह पहले से ही उत्तेजित और अशांत रहता है, वहां इस तरह का व्यक्ति औरों की अपेक्षा अधिक सफल होता हैं। ऐसी दशा में उसके अशांत और उत्साही आचरण आसानी से दूसरों को उभाड़ सकते हैं क्योंकि वे पहले से ही अशांत और उत्तेजित रहते हैं। दूसरे प्रकार का व्यक्ति जरा गंभीर, शांत और सौम्य व्यक्तित्व का होता है। ऐसी संभावना रहती है कि वैसा आदमी कम शब्दों में कहे किन्तु जितना कहे वह इतना चुभता हुआ रहे, जनता के मर्म को ऐसे छेदने वाला हो कि जनता वस्तुस्थिति को नए दृष्टिकोण से देखने के लिए बाध्य हो जाए। उपर्युक्त सामाजिक स्थितियों के लिए यह दूसरे प्रकार का व्यक्ति ही अधिक उपयुक्त है। इस दशा में उसका कार्य जनता को आत्म-साक्षात्कार करा देना है और उसे जनता को उसी की उन विषमताओं, अभावों और अनौचित्य से परिचित करा देना है, जो समूह में फैली रहती है। समूह ने जिन वस्तुओं को पहले स्वयं-सिद्ध के यप में ग्रहण कर लिया था, उन्हीं की टीका-टिप्पणी करने के लिए उन्हें ही बाध्य करता है। साथ ही, वह जनता का नवीन इच्छाओं, नवीन प्रवृत्तियों और नवीन आशाओं के निर्माण की प्रेरणा देता है।

उत्तेजना का काम कुछ अंशों में जनता को अशांत और उत्तेजित कर मुक्त रूप से क्रान्ति की नई दिशओं की ओर बढ़ा देना भी है। विशेष रूप से उसका काम जनता की स्वविषयक धारणाओं, अधिकारों और कर्तव्यों के विचारों को बदल देना भी है। ऐसी नई धारणाएं, जिनमें यह विश्वास सन्निहित रहे कि पूर्ववंचित सुविधाओं को पाने का स्वाभाविक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति का है, सामाजिक क्रान्ति को प्रभावशाली प्रेरणा और शक्ति देती है। जनसमूह में नवीन धारणाओं का निर्माण करने वाली उत्तेजना सामाजिक क्रान्ति की सफलता के लिए आधारभूत महत्त्व की है।

वातपवरण, जनसमूह तथा संस्कृति-भेद के कारण उत्तेजना फैलने की नीति में परिवर्तन होते हैं। एक परिस्थिति में अत्यंत सफल होने वाली उत्तेजना दूसरी परिस्थति में बेकार ही नहीं, खतरनाक भी हो सकती है। यह तथ्य विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में उत्तेजना के उचित रूप के चुनाव की ओर संकेत करता है। साथ-साथ क्रान्ति नये प्रकार की नैतिकता का विकास करती है। आदर्श का निर्माण और उसके अनुसार प्रबंध-कुशलता का विकास भी होता है। सामाजिक क्रान्ति के द्वारा सामाजिक परिवर्तन संपूर्ण रूप से होता है और विकास के लिए नए क्षितिज के दर्शन होते हैं।

3.23 क्रान्ति के परिणाम

क्रान्ति यद्यपि समाज और राजनैतिक व्यवस्था में होने वाला अचानक परिवर्तन है, लेकिन यह समाज ही सम्पूर्ण संरचना को इतना अधिक परिवर्तन कर देती है कि साधारणतया इस की कल्पना भी नहीं की जा सकती। क्रान्ति के कुछ परिणाम अल्पकालीन होते हैं, जिनका प्रभाव थोड़े समय में ही समाप्त हो जाता है, जबकि इसके अधिकांश परिणाम दीर्घकालीन होते हैं। अल्पकालीन परिणाम विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न रूप में देखने मिलते हैं, जबकि दीर्घकालीन परिणाम लगभग सभी समाजों में समान प्रकृति के होते हैं। 'लेपियर' तथा कुछ अन्य विद्वानों ने क्रान्ति के इन परिणामों की जो व्याख्या की है उसके आधार पर क्रान्ति से उत्पन्न परिस्थितियों को संक्षेप में आगामी विवेचन के अनुसार समझा जा सकता है-

3.23.1 क्रान्ति के अल्पकालीन परिणाम

वैयक्तिक विघटन-क्रान्ति व्यक्ति के सामने बिल्कुल नई परिस्थितियां उत्पन्न करती हैं। इस दशा में पुराने सामाजिक मूल्यों का महत्त्व समाप्त हो जाता है। व्यवहार के नये आदर्शों को प्रात्सोहन दिया जाने लगता है। नई-नई संस्थाओं के द्वारा व्यक्तिगत व्यवहारों पर नियंत्रण लगाया जाता है। अधिकांश व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था का विरोध करने लगते हैं। प्रत्येक व्यक्ति नियमों का उपयोग अपने हित में करने लगता है। इसके पश्चात् भी कोई व्यक्ति व्यवस्थित रूप से अपनी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता। इसके फलस्वरूप कुछ समय के लिए व्यक्तियों के मन में तनावपूर्ण स्थिति पैदा होती है और इस प्रकार वैयक्तिक विघटन की जटिल समस्या उत्पन्न हो जाती है।

आर्थिक असुरक्षा-क्रान्ति की अवधि में अधिकांश व्यक्तियों के सामने आर्थिक असुरक्षा की समस्या उत्पन्न हो जाती है। यह असुरक्षा केवल इसीलिए पैदा नही होती कि अपराधों और नियोजित हमलों की संख्या बढ़ जाती है बल्कि इसलिए कि व्यक्ति को प्रशासनिक सत्ता की ओर से कोई आर्थिक सुरक्षा प्राप्त नहीं हो पाती। कुछ समय के लिए अन्य समाजों से सम्पर्क टूट जाने के कारण भी व्यक्तियों का आर्थिक स्तर गिर जाता है और उन्हें जीवन यापन की पर्याप्त सुविधाएं नहीं मिल पातीं। उत्पानद की मात्रा कम होने तथा श्रमिक वर्ग के निरंतर असंतुष्ट रहने के कारण आर्थिक असुरक्षा का और अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनैतिकता तथा भ्रष्टाचार में वृद्धि–अधिकांश समाजों में क्रान्ति की अवधि में अनैतिकता और भ्रष्टाचार को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला है। क्रान्ति की दशा में सामाजिक नियंत्रण समाप्त हो जाने के कारण व्यभिचार तथा यौन अपराधों को प्रोत्साहन मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति मानसिक तनाव से छुटकारा पाने के लिए सरलतापूर्वक अनैतिक कार्यों की ओर खिंच जाता है। इतना ही नहीं, क्रान्ति के समय साधनों াक अभाव हो जाने के कारण शक्ति–सम्पन्न व्यक्ति भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने लगते हैं। बहुधा क्रान्ति की अवधि में राष्ट्रीय चरित्र भी कमजोर पड़ जाता है।

पारिवारिक विघटन–सामाजिक क्रान्ति का एक प्रमुख परिणाम पारिवारिक विघटन के रूप में हमारे सामने आता है। इस अवधि में परिवार के युवा सदस्य परम्परागत व्यवस्था को तोड़ने में लगे होते हैं, स्त्रियां आर्थिक कार्यों से वंचित हो जाती है, वृद्ध व्यक्तियों में इतना साहस और शक्ति नहीं रहती कि वे आर्थिक साधन एकत्र कर सकें, उचित नियंत्रण के अभाव में बच्चे घर के बाहर नारे लगाते घूमते हैं, शिक्षा–व्यवस्था शिथिल पड़ जाने से किशोर बच्चों पर कोई नियंत्रण नहीं रह जाता और तनावपूर्ण वातावरण के कारण परिवार में सभी सदस्य एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखने लगते हैं। इसके फलस्वरूप क्रान्ति की अवधि में पारिवारिक विघटन की घटनाएं सबसे अधिक मात्रा में होती है।

3.23.2 क्रान्ति के दीर्घकालीन परिणाम

वर्ग व्यवस्था में परिवर्तन–संसार में होने वाली सभी क्रान्तियों का एक प्रमुख उद्देश्य बन्द सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर एक खुली सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना रहा है। इसके फलस्वरूप एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना होती है, जिसमें सभी व्यक्ति अपनी योग्यता, प्रयत्नों और रुचियों के अनुसार समाज में एक विशेष स्थिति प्राप्त कर सकें। इसी के परिणामस्वरूप क्रान्ति का एक दीर्घकालीन परिणाम सामाजिक संरचना में आमूल परिवर्तन हो जाना है।

राजनैतिक सत्ता का स्थानान्तरण–क्रान्ति का एक आवश्यक दीर्घकालीन परिणाम राजनैतिक सत्ता पर कुछ नये व्यक्तियों का अधिकर हो जाना है। साधारणतया यह व्यक्ति वे होते हैं जो नये सामाजिक मूल्यों, व्यवहार के नये ढंगों, एक भिन्न उत्पादन प्रणाली और समानता पर आधारित अधिकर–व्यवस्था के पक्ष में होते हैं। यदि यह परिस्थिति काफी समय तक बनी रहती है तो निश्चित रूप से राजनैतिक व्यवस्था में होने वाला परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप प्रत्यक्ष रूप से श्रम करने वाले व्यक्तियों को अधिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जबकि बुर्जुआ वर्ग की शक्ति में कमी हो जाती है।

गतिशीलता में वृद्धि–क्रान्ति प्रत्येक स्थिति में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक गतिशीलता में वृद्धि करती है। क्रान्ति के फलस्वरूप लम्बी अवधि से निर्जीव पड़े व्यक्ति पुनः शिक्षा और उद्योग के प्रसार में लग जाते हैं। वे उदार दृष्टिकोण अपनाने लगते हैं तथा संस्कृति को आधुनिक बनाने का प्रयत्न करते हैं। इन परिस्थितियों में व्यक्ति की सामाजिक और आर्थिक स्थिति उसकी योग्यता और प्रयत्नों के अनुसार बदलती रहती है। यही कारण है कि क्रान्ति के पश्चात एक लम्बी अवधि तक व्यक्ति जागरूक रह कर प्रगति की ओर बढ़ने का प्रयत्न करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि क्रान्ति अल्पकाल में तो समाज के सामने अनेक गंभीर समस्याएं पैदा कर देती हैं, लेकिन नकुछ समय के बाद यह उपयोगी प्रतीत होने लगती है। इस संबंध में एक विशेष बात यह है कि यह अल्पकालीन परिणाम केवल तभी उत्पन्न होते हैं जब क्रान्ति का आधार राजनैतिक होता है और एकाएक उत्पन्न होती है। इसके विपरीत यदि क्रान्ति नियोजित रूप से हो और इसका उद्देश्य सामाजिक अथवा आर्थिक जीवन को अधिक व्यवस्थित बनाना हो, तो इससे दीर्घकालीन लाभ प्राप्त होने की संभावना अधिक होती है। इस प्रकार क्रान्ति उपयोगी भी हो सकती है और हानिकारक भी, यह इसके उद्देश्य और प्रकृति पर निर्भर है।

3.24 नया आयाम

सामाजिक क्रान्ति एवं परिवर्तन के उपर्यक्त विवेचन एवं अणुव्रत आन्दोलन के दर्शन के संदर्भ में निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है कि अणुव्रत आन्दोलन ने सामाजिक परिवर्तन का जो दर्शन एवं चिन्तन प्रस्तुत किया, उसे क्रान्ति का नये आयाम की संज्ञा देना उपयुक्त प्रतीत होता है। वास्तव में क्रान्ति की परिभाषा है –सामाजिक धारणाओं, व्यवस्थाओं और व्यवहारों का पुनर्जन्म। उसका सूत्रधार है–मनुष्य। मनुष्य का नया जन्म होता है, तब–तब नए प्रश्न उपस्थिति होते हैं। आज का नया प्रश्न है–हम क्या करें?

इस नया उत्तर है–जो सूझे सो करें। कम–से–कम इतना ध्यान अवश्य रखें कि हमारे ही समान सुख–दुःख की अनुभूति वाले सामाजिक प्राणी के हितों की बलि चढ़ाकर अपने हितों का प्रासाद खड़ा न करें। राजनैतिक क्रान्ति द्वारा सत्ता और अर्थ के स्थानों में परिवर्तन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हुआ है। सत्ता उच्चवर्ग के हाथों से खिसककर उस वर्ग के हाथ में आ गयी है जो शोषित था। अर्थ का अधिकार व्यक्तिगत क्षेत्र से हटकर सामुदायिकता के क्षेत्र में चला गया। यह परिवर्तन कोई कम नहीं है, अभूतपूर्व परिवर्तन है। पर मानवता के स्तर पर यह अंतिम नहीं है। विकास की संभावनाओं का अभी बहुत कम परिवर्तन हुआ है। अहिंसा की व्यापक निष्ठा के बिना वह हो भी नहीं सकता। अब तक जो क्रान्ति हुई है वह मानवीय उत्पीड़न और शोषण की प्रतिक्रिया है। इसलिए इसे प्रतिक्रियात्मक क्रान्ति माना जा सकता है। क्रियात्मक क्रान्ति अभी नहीं हुई है।

3.25 सारांश

सत्ता और अर्थ का रूपांतरण होने पर भी मनुष्य का पुनर्मूल्यन नहीं हुआ है। आज भी सत्तारूढ़ व्यक्ति का वही मूल्य है, जो एक राजा का था। मूल्य सत्ता को प्राप्त है, मनुष्य का स्वतंत्र मूल्य नहीं है। क्षमता और कार्य के भेद ने मनुष्यता को भी विभक्त कर रखा है। व्यवस्था के तारतम्य के नीचे जो मानवीय एकता की अनुभूति होनी चाहिए वह विकसित नहीं है। इसीलिए मानवता अखंड नहीं है। इस खंडित मानवता से ही अनेक विकृतियां और बुराइयां उत्पन्न हो रही है। आज का अहिंसक भी असहाय-सा दिखाई दे रहा है। वह जाने-अनजाने हिंसा द्वारा प्रस्थापित मूल्यों को ही मान्यता दिए चला जा रहा है। उसका बाह्याचार पर इतना बल है कि वह अध्यात्म की गहराइयों में झांक ही नहीं पा रहा है। अहिंसक का क्षेत्र संन्यास ही नहीं है। उसकी साधना-भूमि है समूचा समाज। अहिंसक की पैनी दृष्टि बाहरी आवरणों को चीरकर गहराई में पैठ जाती है। वहां मनुष्य, मनुष्य ही है और कुछ नहीं है। सब बंधनों, व्यवस्थाओं, प्रवृत्तियों से परे, केवल मनुष्य और उसके ही जैसा मनुष्य।

3.26 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. मूलरूप से ऐथिक्स का संबंधस कितने प्रश्नों से है?
   (अ) 3 (ब) 5 (स) 7
2. नीति के कितने प्रकार हैं?
   (अ) 33 (ब) 35 (स) 42
3. जीवन के मूल्य मुख्यत: कितने वर्गों में विभक्त है।
   (अ) 4 (ब) 5 (स) 9
4. फ्रांस की क्रान्ति कब हुई थी?
   (अ) 1970-71 (ब) 1917 (स) 1947
5. सामाजिक क्रान्ति को कितने शीर्षकों में वर्गीकरण किया जा सकता है?
   (अ) 3 (ब) 6 (स) 4

(ब) लघु निबंधात्मक प्रश्न

1. नैतिकता का अर्थ एवं अवधारणा लिखें।
2. उचित-अनुचित का ज्ञान पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
3. नैतिकता का आधार क्या है?
4. नैतिक जीवन के आदेश पर अपने विचार व्यक्त करे
5. नैतिक विकास की भूमिका क्या हैं?
6. क्या नैतिकता परिवर्तनशील है? वर्णन करे।

(स) निंबधात्मक प्रश्न

1. नैतिकता का अर्थ स्पष्ट करते हुए अच्छाई और बुराई की आपसी निर्भरता पर एक निंबध लिखे।
2. नैतिक जीवन की कार्यशीलता क्या है?
3. नैतिक विकास क्यों आवश्यक है?
4. क्रान्ति का अर्थ एवं उद्‌विकास का वर्णन करते हुए अणुव्रत आन्दोलन के नये आयाम की चर्चा करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-4

अणुव्रत आन्दोलन का प्रसार एवं कार्यक्रम

संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 आन्दोलन का सूत्रपात
4.3 अणुव्रत आन्दोलन का जन्म
4.4 आन्दोलन की प्रसार यात्रा
4.5 अणुव्रत संघ से अणुव्रत आन्दोलन
4.6 विकास के अगले चरण
4.7 अहिंसक आन्दोलन के अहिंसक सैनिक
4.8 आन्दोलन का अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार
4.9 कल्याणकारी कार्यक्रम
4.10 सारांश
4.11 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.0 प्रस्तावना

अणुव्रत आन्दोलन का नाम जैन परम्परा से लिया गया है। भगवान् महावीर ने धर्म को दो भागों में विभक्त किया है--मुनिधर्म और श्रावक धर्म। मुनियों के लिए भगवान् ने पंच महाव्रतों की व्यवस्था की और श्रावकों के लिए पांच अणुव्रतों और सात शिक्षा व्रतों की। वह हिंसा और अहिंसा के बीच का मार्ग है, यथाशक्य अहिंसा का मार्ग हैं।

हिंसा है जीवन का पूर्ण असयंम और अहिंसा है जीवन का पूर्ण संयम। पूर्ण असयंम में रहना मनुष्य के लिए अहितकर है और पूर्ण संयम की साधना कठिन है। अणुव्रत इस चिन्तन का निष्कर्ष है कि मनुष्य पूर्ण संयम न कर सके तो न्यूनतम संयम अवश्य करे। वह न्यूनतम संयम ही अणुव्रत है। नामकरण करते समय यह विकल्प उठा कि यह आन्दोलन जैन-अजैन सभी के लिए है, तब इसका नाम अणुव्रत-आन्दोलन क्यों रखा जाए और इसे असम्प्रदायिक कैसे मानेंगे? अणुव्रत आचार-संहिता का प्रारूप और नामकरण स्थिर होने तक यह कुछ व्यक्तियों के चिन्तन की सीमा में सीमित था। जब इसको लोक-चेतना तक पहुँचाने का प्रसंग आया, एक बार फिर छोटी संख्या में विचार-विमर्श हुआ। कुछ व्यक्तियों का अभिमत रहा- यह नाम व्यापक नहीं है। कुछ लोगों को इस नाम में साम्प्रदायिकता का दर्शन हुआ। कुछ अन्य आशंकाएं और भय सिर उठाने लगे। अनेक नाम सोचे गये, पर उपयुक्त नाम जंचा नहीं।

4.1 उद्देश्य

अहिंसा एवं अणुव्रत के सन्दर्भ में हमने अणुव्रत दर्शन, अणुव्रत आन्दोलन एवं इसके सन्दर्भ में नैतिकता के विभिन्न सन्दर्भों की विवेचना की। यहाँ हम अणुव्रत आन्दोलन के प्रसार एवं कल्याणकारी कार्यक्रमों का अध्ययन करेंगे।

4.2 आन्दोलन का सूत्रपात

आचार्य तुलसी का यह विचार था कि नाम बहुत बड़ा और काम छोटा, यह नहीं होना चाहिए। अणुव्रत शब्द इस भावना का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ है। छोटे-छोटे व्रतों से बड़ा काम हो सकता है। सन्देश का निराकरण करते हुए आचार्यश्र तुलसी ने कहा कि ''अणुव्रत शब्द भले ही व्यापक न हो, पर व्रत शब्द की व्यापकता असंदिग्ध है। अणुव्रत जैन परम्परा का शब्द है, किन्तु इसकी आचार-

संहिता के पीछे न तो कोई साम्प्रदायिकता है और न कोई अभिनिवेश है। इसलिए अणुव्रत शब्द को जनमानस की स्वीकृति मिल जानी चाहिए। भारतीय मानस व्रत से बहुत प्रभावित है। मैं चाहता हूँ कि व्रत-दीक्षा के माध्यम से उसे नया मोड़ दिया जाए।'' सन्देहों की निवृत्ति के बाद अणुव्रत का नाम स्थिर हुआ। इस संकल्प की पृष्ठभूमि पर आन्दोलन को अणुव्रत आन्दोलन की संज्ञा मिली है।

अणुवती संघ की परिकल्पना पहले ही मूर्त्त-रूप से चुकी थी। काम के गति देने के लिए किसी आन्दोलनात्मक प्रक्रिया की अपेक्षा अणुव्रती संघ को ''अणुव्रत आन्दोलन'' का नाम दे दिया गया। अणुव्रत आन्दोलन के पन्द्रह वसन्तों के बाद आन्दोलन को स्थित्यात्मक मोड़ देना आवश्यक था, इसके लिए आन्दोलन शब्द को छोड़कर केवल ''अणुव्रत'' नाम रखा गया। जैन आगमों का परिभाषिक शब्द अणुव्रत इस युग में बहुत उपयोगी बन रहा है। वर्तमान युग को अहिंसा व नैतिकता की दिशा की ओर प्रेरित करने के लिए अणुव्रत की शक्ति का पूरा उपयोग हो तो वास्तव में एक नये युग का निर्माण हो सकता है।

4.3 अणुव्रत आन्दोलन का जन्म

आचार्य तुलसी के आचार्यकाल के दूसरे दशक का प्रारम्भ नव-निर्माण की कल्पना के साथ हुआ। प्रथम स्वतन्त्रता दिवस 15 अगस्त, 1947 को उन्होंने भारतासियों से ''असली आजादी अपनाओ'' का आह्वान किया था। असली आजादी का अर्थ है नैतिक विकास। यही चिन्तन जो भारतीय जनमानस के सामने धुंधले स्वरूप में था, 1948 मार्च को सरदारशहर, राजस्थान में प्रायोगिक रूप में अणुव्रत आन्दोलन के रूप में सामने आया। 2 मार्च का वह दिन सरदारशहर में नयी संभावनाओं के साथ उदित हुआ। जनता में आचार्य तुलसी द्वारा पूर्व-घोषित नयी योजना के प्रति कुतूहल था, जिज्ञासा थी। कुछ व्यक्तियों के मन में सन्देह था कि इस योजना को सुनकर वर्तमान की व्यावसायिक समस्याओं के युग में अणुव्रती बन पाना सहज नहीं होगा। अतः निराशावादियों के मन में सन्देस था।

उनका सन्देह अकारण भी नहीं था, क्योंकि धार्मिक जगत् में धर्म और नैतिकता के संबंध की अनिवार्यता साध्य नहीं रही थी। व्यक्ति के लिए धार्मिक होना अपेक्षित माना जाता था, पर नैतिक होना जरूरी नहीं समझा जाता था। इधर आशावादियों में योजना के अहिंसक व नैतिक पक्ष की सत्यता देखकर विश्वास भी था। आचार्य तुलसी ने उपस्थित जनमानस के सामने योजना के प्रारंभिक रूप को रख दिया। व्रतों के अस्वीकार का सन्देह निर्मूल हो गया। प्रथम प्रस्तुति में ही लोगों ने उस दृष्टिकोण को पसन्द किया। सरदारशहर के विशाल प्रवचन समवसरण में हजारों-हजारों स्त्री-पुरुषों की उपस्थिति के बीच आचार्य तुलसी ने कहा-''अणुव्रत की आचार-संहिता के लिए कम-से-कम पच्चीस व्यक्ति मुझे मिलें, यह मेरी आशंसा है। मुझे विश्वास है इससे नैतिकतास का नया आयाम खुलेगा। उन्होंने आह्वान कर जैसे ही विराम लिया वैसे ही अणुव्रती बनने की स्पर्धा शुरू हो गई। प्रथम आह्वान में ही 7 व्यक्ति अणुव्रती बने। प्रथम बार अणुव्रती बनने वालों का नामांकन आचार्य तुलसी ने स्वयं अपने हाथों से किया। उनमें से कुछ मुख्य नाम निम्न है :-

1. श्री छोगमल चौपड़ा (गंगाशहर- राजस्थान)
2. श्री सुगमचन्द आंचलिया (गंगाशहर- राजस्थान)
3. श्री जब्बरमल भंडारी (जोधपुर-राजस्थान)
4. श्री नेमीचन्द गधैया (सरदारशहर-राजस्थान)
5. श्री जयचन्दलाल दफ्तरी (सरदारशहर-राजस्थान)
6. श्री भँवरलाल दूगड़ (सरदारशहर-राजस्थान)
7. श्री कन्हैयालाल दूगड़ (सरदारशहर-राजस्थान)
8. श्री भागचन्द दूगड़ (सरदारशहर-राजस्थान)
9. श्री देवेन्द्र कर्णावट (राजसमन्द-राजस्थान)
10. श्री जेठमल भंसाली (श्रीडूंगरगढ़-राजस्थान)
11. तत्कालीन मुन्सिफ (सरदारशहर-राजस्थान)
12. श्रीमती हुलासीदेवी भूतोड़िया (लाडनूँ-राजस्थान)
13. श्रीमती मनोहरदेवी आंचलिया (गंगाशहर-राजस्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नैतिक आन्दोलन की पृष्ठभूमि निर्मित हो चुकी थी। जनता द्वारा अणुव्रत आचार-संहिता का अभिनन्दन नैतिकता का अभिनन्दन था। अणुव्रती संघ का काम आगे बढ़ा। तेरापंथ समाज के साधु-साध्वियाँ और गृहस्थ कार्यकर्ता कार्यरत हुए। काम को गति देने के लिए किसी आन्दोलनात्मक प्रक्रिया की अपेक्षा अणुव्रती संघ को ''अणुव्रत आन्दोलन'' का नाम दिया गया।

4.4 आन्दोलन की प्रसार यात्रा

आन्दोलन के सूत्रपात के साथ ही चरित्र-निर्माण की रूपरेखा के चिन्तन को प्रायोगिक धरातल मिला, तथा विकास के अनेक सोपान जुड़ते गये। अणुव्रत विकास-यात्रा के अनेक चरण हैं। सामयिक समस्या के सन्दर्भ में नये-नये उन्मेष आये हैं। भारत का विभाजन साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण हुआ था। साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण सब लोग आक्रांत थे। राजनीति के योद्धा साम्प्रदायिकता को उभार कर अपना स्वार्थ साध रहे थे। इस स्थिति में अणुव्रत ने जनता के सामने इस मंत्र को दोहराया :

1. धर्म का स्थान पहला है, सम्प्रदाय का स्थान दूसरा है।
2. सम्प्रदाय अनेक हो सकते हैं, धर्म सबका एक है।
3. धर्म राजनीति से अलग है। उसमें राजनीति का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

इस मंत्र ने जनमानस को झकझोरा और इससे धर्म और सम्प्रदाय की वास्तविकता को समझने की प्रेरणा मिली। धार्मिक व्यक्ति का जीवन अनैतिक नहीं हो सकता, पर धर्म की धारणा परलोक के साथ जुड़ी हुई थी, इसलिए वर्तमान जीवन में स्वार्थ-साधना और परलोक को सुधारने के लिए धर्म की आराधना चल रही थी। धार्मिक व्यक्ति अनैतिक व्यवहार कर रहे थे और उपासना द्वारा उसके पाप से मुक्ति पा लेने की कल्पना से मन को आश्वासन दे रहे थे। इस वातावरण में अणुव्रत ने यह मुखर किया :-

1. धर्म केवल परलोक सुधारने के लिए नहीं है। उससे वर्तमान जीवन भी सुधाना चाहिए।
2. जिसका वर्तमान नहीं सुधरता, उसका परलोक कभी नहीं सुधरता।
3. धर्म का चरित्र-पक्ष मुख्य है, उपासना पक्ष गौण है।

इस विचारधारा ने एक नई स्थिति का निर्माण किया। स्वयं को वास्तविक मानने वालों को अपनी वास्तिकता का भान हुआ। जो स्वयं को आस्तिक मानकर चल रहे थे, उन्हें अपने आचरण में नास्तिकता का आभास मिला। उपासना पद्धति से जुड़ा हुआ धर्म अधिक आकर्षक होता है। अणुव्रत में कोई उपासना पद्धति नहीं है, केवल नैतिक आचरण का संदेश है, इसलिये इसमें आकर्षण कम है। फिर भी वर्तमान युग के बौद्धिक मानस को इस आन्दोलन ने काफी आकर्षित किया। सम्प्रदाय से भय रखने वाले इस निविशेषण धर्म के साथ अपनी भावना को जोड़ते चले गये। यह अनायास मानवधर्म का मंच बनता चला गया।

सरदारशहर चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् आचार्य तुलसी ने जैन मुनि परम्परा के अनुसार वहाँ से विहार किया। यात्रा लक्ष्य जयपुर था, इसे अणुव्रत-यात्रा की संज्ञा दी गई। यह यात्रा भविष्य में होने वाली सुदीर्घ अणुव्रत-यात्राओं की पृष्ठभूमि थी। इस यात्रा से पूर्व आचार्य का। प्रवृत्ति-केन्द्र उनका श्रावक-समाज ही था। इस यात्रा के साथ कार्य-क्षेत्र बढ़ा ओर प्रवृत्तियों का केन्द्र व्यापक बना। जैन लोगों ने अणुव्रत-चर्चा में रस लिया तो जैनेत्तर लोग पीछे नहीं रहे। सम्प्रदायों की दीवारें टूटी, सीमाओं का विस्तार हुआ और जन-जन के बीच अणुव्रत के सम्बन्ध में परिचर्चाएं होने लगी।

अणुव्रत आन्दोलन एक अभाव की पूर्ति था, इसलिए थोड़े समय में ही वह बहुत प्रख्यात हो गया। जनता ने एक प्रकाश-रश्मि के रूप में उसका स्वागत किया। छोटे-छोटे गांवों में सैकड़ों की संख्या में लोग एकत्रित होते, आन्दोलन के व्रतों को सुनते और इन्हें अपनाते। मार्क्स का यह विचार निराधार नहीं है कि संघर्ष के बिना विरोधी समागम के बिना विकास या गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता है। अणुव्रत आन्दोलन के बारे में भी बहुत दिनों तक यही क्रम चालू रहा। जनता के विचारों का घर्षण होता रहा और छन-छन कर लोग अणुव्रती बनते रहे। थोड़ी-सी संख्या से आरंभ होने वाला अनुष्ठान एक ही वर्ष में 621 तक पहुँच गया। आज यह संख्या लाखों को पार कर चुकी है।

4.4.1 प्रथम वार्षिक अधिवेशन

जयपुर चातुर्मास को समादित करने के बाद अणुव्रत आन्दोलन को व्यापकता देने की दृष्टि से आचार्य तुलसी ने दिल्ली प्रवास करना तय किया। मध्मवर्ती नगर अलवर, भरतपुर, आगरा, मथुरा, वृन्दावन आदि स्थानों से यात्रा कार्यक्रम था। अणुव्रत आन्दोलन के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विकास के सोपान तय करता राह में लोगों से किये गये सम्पर्क बनाता रहा। साहित्यकार, पत्रकार, अध्यापक, प्राध्यापक और प्रबुद्धजीवी लोगों ने अणुव्रत-चर्चा में अच्छा रस लिया। आन्दोलन के स्वीकारात्मक स्वरूप का उदाहरण यह दिया जा सकता है कि मथुरा, वृन्दावन जैसे वैष्णव भक्ति प्रधान क्षेत्रों में अणुव्रत की स्वतन्त्र गोष्ठियाँ आयोजित हुई। इससे इस विचारधारा की पुष्टि हई कि अणुव्रत वर्तमान युग की माँग है तथा इसको और अधिक उत्साह से फैलाना चाहिए।

दिल्ली पहुंचने के बाद आचार्य तुलसी ने चिन्तन किया कि यहाँ अणुव्रत का अधिवेशन होना चाहिए। चिन्तन की पृष्टभूमि में एक साधारण अधिवेशन का प्रारूप था। अधिवेशन से पहले एक पत्रकार-गोष्ठी का प्रस्ताव सामने आया, जिसे आचार्य तुलसी ने अपनी सहमति दे दी। इन्हीं दिनों दिल्ली के प्रसिद्ध पत्रकार सत्यदेव विद्यालंकार आचार्य तुलसी के सम्पर्क में आये। उन्होंने अणुव्रत की योजना देखकर पसन्द की। उन्होंने अणुव्रत का काम अधिक तीव्रता से करने का सुझाव देते हुए कहा- आज देश को इसकी बड़ी अपेक्षा है।

इससे एक वातावरण बनेगा, आपका साम्प्रदायिक रूप बदलेगा, अणुव्रत को सार्वजनिक मान्यता मिलेगी और आपको काम करने का अवकाश मिलेगा। उनके व आदर्श साहित्य संघ के संयुक्त प्रयास से नया बाजार, दिल्ली में एक पत्रकार गोष्ठी का आयोजन हुआ। देश और विदेश के अनेक पत्रकार उस गोष्ठी में आये। अनेक पत्रकारों ने अपनी पूर्वबद्ध धारणा के आधार पर आचार्यश्री से बाल-दीक्षा, आदि विषयों पर कई शंकाओं का समाधान माँगा। आचार्यश्री के स्पष्टीकरण से पूर्वबद्ध की धुंध दूर हुई और सब पत्रकारों ने अपने-अपने पत्रों में उस गोष्ठी के संवाद प्रकाशित किए। इससे वातावरण को एक मोड़ मिला।

अणुव्रत के वार्षिक अधिवेशन के संबंध में आचार्यश्री का कई प्रबुद्ध व्यक्तियों के साथ विचार-विमर्श होता रहा। उसी क्रम में एक सुझाव आया कि राजेन्द्र बाबू (तत्कालीन राष्ट्रपति) से मिलना चाहिए। कार्यकर्ताओं ने उसने सम्पर्क साध और उन्होंने राष्ट्रपति भवन में आचार्यश्री को आमंत्रित किया। वहाँ इनके साथ बातचीत हुई। अणुव्रत योजना की अवगति पाकर उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा-"देश को अभी-अभी आजादी मिली है। इस समय ऐसी योजना बहुत उपयोगी हो सकती है। आप इसकी क्रियान्विति में अपनी शक्ति लगाइए।" आचार्यश्री ने अपनी कठिनाई प्रस्तुत करते हुए राजेन्द्र बाबू से कहा- हम काम कैसे करेंगे? हमारे विचारों को लोग साम्प्रदायिक परिवेश में देखते है। हमारी यह योजना नितान्त असाम्प्रदायिक है, पर लोगों की दृष्टि में उसका प्रतिबिम्ब दूसरा है।" उनकी बात सुनकर राष्ट्रपति बोले-"आप चिन्तन करें, यह काम आपको करना ही है। व्यक्तिगत सम्पर्क से, आपके विचारों को सुनने और पढ़ने से भ्रांतियाँ समाप्त हो जाएंगी और जनता इस नैतिक योजना का मूल्य आंकेगी।"

इसके अतिरिक्त काफी प्रबुद्ध लोगों से सम्पर्क बढ़ा, उन्होंने अणुव्रत योजना को बल दिया और संचालन का साहस पुष्ट हुआ। अणुव्रत अधिवेशन का आयोजन व्यापक स्तर पर करने का निर्णय लिया गया। चाँदनी चौक दिल्ली में अधिवेशन स्थल रखा गया। हजारों लोगों जिसमें पत्रकार, राजदूत आदि की उपस्थिति ने कार्यक्रम की सफलता के बारे में किये गये संदेह को निर्मूल साबित कर दिया। कार्यक्रम का सबसे आकर्षक पहलू था सार्वजनिक समारोह में 621 व्यक्तियों द्वारा समग्र अणुव्रत-प्रतिज्ञाएं खड़े होकर विधिवत ग्रहण करना, यानि ब्लैक-मार्केटिंग, मिलावट, रिश्वत् आदि अप्रामाणिकता का परित्याग। उन लोगों ने एक-एक व्रत की व्याख्या सुनकर पाँच बार खड़े होकर संकल्प स्वीकार किए। साहित्यकारों, पत्रकारों, राजनियकों ने इसे राजधानी के इतिहास में अपूर्व अवसर माना।

दूसरे दिन लगभग सभी पत्रों के मुखपृष्ठ पर आकर्षक शीर्षकों से जैसे--"कलियुग में सतयुग का उदय", "अमावस के अन्धेरे में प्रकाश की एक किरण""600 लखपति-करोड़पतियों द्वारा चोरबाजारी न करने की प्रतिज्ञा" आदि खबरें छापी गई। यह चर्चा केवल देश के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में ही नहीं, समुद्रों पार ब्रिटेन, अमेरिका तक के पत्र-पत्रिकाओं में हुई। न्यूयार्क के प्रसिद्ध साप्ताहिक टाईम्स, 15 मई, 1950 में 'एटामिक' नाम शीर्षक से यह संवाद प्रकाशित हुआ।

अन्य अनेक स्थानों के कुछ व्यक्तियों की तरह एक पतला, दुबला, ठिगना, चमकती आँखों वाला भारतीय संसार की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यन्त चिन्तित है। 34 वर्ष की आयु का वह आचार्य तुलसी है, जो जैन-तेरापंथ समाज का आचार्य है। यह अहिंसा में विश्वास करने वाला धार्मिक, समुदाय है। आचार्य तुलसी ने 1949 में अणुव्रत आन्दोलन की स्थापना की थी। जब समस्त भारत को व्रती बना चुकेंगे, तब संसार को भी व्रती बनाने की उनकी योजना है।" लोगों को लगा, अणुव्रत आंदोलन एक ही छलांग में सात समुद्रों पार पहुँच गया है।

अन्य स्थानों की प्रतिक्रिया भी आचार्यश्री तक पहुँची। संक्षेप में वह यही थी कि आन्दोलन के नियम भारतीय जीवन को दृष्टि में रखकर बनाए गए हैं। बहुत सारे नियम सबके लिए उपयोगी नहीं है। तब आचार्य तुलसी ने व्रतों की रूपरेखा में परिवर्तन करने का निर्णय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

किया। यह आवश्यक भी था। वह रूपरेखा भारत और विशेषत: राजस्थान की परिस्थितियों के आलोक में बनी थी। वह उसी जीवन-परम्परा से विशेष प्रभावित हो, वह अस्वाभाविक नहीं था। आन्दोलन की व्यापकता के लिए उसे सर्वदेशीय रूप देना आवश्यक था, इसलिए परिवर्तन की संभावना से इन्कार नहीं किया गया। परिवर्तन के दृष्टिकोण का आधार यह रखा गया कि असंभव की मौलिक प्रकृति सर्वदा और सर्वत्र एकरूप होती है, इसलिए इसके निवारक व्रतों को ही व्यापक रूप दिया जाए तथा शेष व्रत इन्हीं के अन्तर्गत हो ओर देश-काल की आवश्यकतानुसार उनका निर्माण किया जाएं। जब जहाँ जिस बुराई की मात्रा बढ़े, उसे रोकने के लिए व्रत-निर्माण किया जाए। प्रथम अधिवेशन के स्वस्थ वातावरण में सम्पन्न होने से पूरे देश में अच्छा वातावरण निर्मित हो गया। भूमिका का निर्माण कठिन होता है, पर बीज-वपन और अंकुरण का कार्य उससे भी कठिन है। तेरापंथ संघ के उत्साही साधु-साध्वियों और कुछ गृहस्थ कार्यकर्ताओं ने अपने चिन्तन, समय ओर श्रम का योग देकर उस काम को आगे बढ़ाया, जिससे वातावरण में सघनता आई और जनता में आन्दोलन के प्रति उत्साह जगा। अणुव्रती बनने का अभियान बल पकड़ता गया ओर अणुव्रतियों की संख्या में बढ़ोतरी होने लगी।

जो लोग अणुव्रती बने, सचमुच ही उन्होंने समाज के सामने साहस का परिचय दिया। बहुत सारे अणुव्रतियों ने सहस्त्रों व लाखों के साक्षात् मिलने वाले लाभ को ठुकरा दिया। बहुतों की आय मिलावट, झूठा तोलमाप आदि न करने से सीमित हो गई। चोर बाजारी व मिलावट आदि न करने के नाम पर बहुतों को अपनी नौकरियों से हाथ धोना पड़ा। सामाजिक रूढ़ियों का पालन न करने से बहुतों को पारिवारिक ओर सामाजिक संकलेश में पड़ना पड़ा। कुछ-एक को अपने नैतिक आग्रह के कारण विधान मण्डलों व न्यायपालिकाओं के चुनावों में भी हार खा लेनी पड़ी। सब-कुछ सहकर भी उन्होंने अपना धैर्य नहीं खोया। बाधाओं में उन्हें आनन्द मिलने लगा। यह एक प्रतिस्पर्धा सी बन गई कि किसने कठिनाइयों का अधिक मुकाबला किया है। समाज में अधिक-से-अधिक अणुव्रती बनें ओर इसी प्रकार समाज के सम्मुख आदर्श उदाहरण रखते रहे, यह अणुव्रत-आन्दोलन का आज भी एक प्रमुख-ध्येय है। ऐसे थोड़े ही लोग क्यों न हो, पर वे समाज की दिशा को मोड़ते हैं।

4.5 अणुव्रती संघ से अणुव्रत आन्दोलन

प्रारम्भ में आन्दोलन के व्रतों की संख्या चौरासी थी। फिर जैसे वह जनता तक पहुँचा, जैसे-जैसे अनुभव व्यापक हुआ, वैसे-वैसे उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहा। बम्बई के चातुर्मास में उसकी रूपरेखा में परिवर्तन हुआ। तब तक आन्दोलन पाँच वर्ष की अवधि पार कर चुका था। हजारों व्यक्ति अणुव्रती बन चुके थे। लाखों व्यक्ति उसके समर्थक हो गये थे। करोड़ों तक उसकी भावना पहुंच चुकी थी। सचमुच जन-मानस में एक आंदोलन हो रहा था। आचार्य तुलसी ने चिन्तन चला कि अब अणुव्रती-संघ का नाम ''अणुव्रत आन्दोलन'' कर दिया जाए। ''संघ'' शब्दों में एक सीमा की भावना है। आन्दोलन अधिक मुक्त भावना का वाचक है। संघ का नाम अणुव्रत आन्दोलन हो गया। व्रतों की संख्या चौरासी से बयालीस हो गई। फिर परिवर्तन हुआ और व्रतों की संख्या ग्यारह हो गई। वर्तमान में यही ग्यारह व्रत प्रचलित है।

4.6 विकास के अगले चरण

अणुव्रत आन्दोलन को व्यापक लोकप्रियता मिलने के कारण लोगों में जिज्ञासा होनी स्वाभाविक थी कि अणुव्रत क्या है? इसकी चर्चा करने वाले कौन हैं? इसके द्वारा क्या होने वाला है? क्या इससे जीवन का निर्माण हो सकता है? इस प्रश्नों ने अणुव्रत की अव्यक्त चेतना को नया निखार दिया। प्रत्येक क्षेत्र में जिज्ञासा जगी। इन जिज्ञासाओं का समाधान आचार्यश्री की पदयात्राओं व व्यक्तिगत सम्पर्क से हुआ। अणुव्रत आन्दोलन के शुभारम्भ के साथ ही पाद-विहार में विशेष सक्रियता आई।

जन कल्याण, चरित्र विकास, आत्मोदय आदि उद्देश्य को लेकर आचार्य तुलसी विद्यालयों, कार्यालयों, बाजारों, मोहल्लों आदि विभिन्न स्थानों में गये ओर अणुव्रत आन्दोलन से जनता को अवगत कराया। उनके शिष्य वर्ग ने भी इस दिशा में बहुत प्रयत्न किये। वे अणुव्रतों का सन्देश लेकर उत्तर से दक्षिणी अंचल तक व पश्चिम से पूर्वी अंचल तक सारे देश में फैले जनसंपर्क का इतना बड़ा अभियान इतिहास का एक अनूठा चरण बनता है। प्रारम्भ में लोगों को लगा कि यह अभियान सम्प्रदाय विशेष का प्रचार मात्र ही न हो, पर धीरे-धीरे अणुव्रत आन्दोलन को राष्ट्रीय स्तर पर सार्वजनिक रूप मिला। जाति, धर्म, प्रान्त, भाषा आदि के भेद-भाव बिना सभी लोगों ने इसे अपनाया।

जिज्ञासा के बाद अब प्रशंसा व स्वीकरण की परिस्थितियों का निर्माण होने लगा। अब जनता अणुव्रत के निकट आने लगी, विभिन्न धर्मावलम्बी व्यक्ति अणुव्रती बने। प्रारम्भिक वर्षों में अणुव्रती बनने वालों में अधिक संख्या जैन लोगों की थी, पर दो-तीन वर्षों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के बाद अजैन लोगों की संख्या अधिक हो गई। वे केवल अणुव्रती ही नहीं बने, अणुव्रत-दर्शन के प्रचार-प्रसार में भी सक्रिय रहे। अणुव्रत के प्रसवकाल में उनके विस्तार में रुचि रखने वाले अजैन व्यक्तियों में निम्नलिखित व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय है :-

1. श्री मन्नारायणजी, यशपाल (जीवन साहित्य के सम्पादक)
2. गोपीनाथ जी अमन
3. जैनेन्द्रजी
4. मुकुट बहारीजी (''हिन्दुस्तान'' के सम्पादक)
5. शोभालालजी गुप्त, आदि-आदि

इन लोगों ने अपने प्रबुद्ध चिन्तन से अणुव्रत विचारधारा को प्रोत्साहन दिया और प्रबुद्ध समाज में उसके लिए एक स्थान बन गया। अणुव्रत कार्य में नयी दिशाओं के निर्धारण और अणुव्रती भाई-बहिनों को विशेष मार्गदर्शन देने के लिए प्रतिवर्ष अधिवेशन किया जाता। प्रत्येक अधिवेशन नया मोड़ लेकर आता। उस समय विगत वर्ष को समीक्षा के साथ भावी कार्यक्रम की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये जाते। अणुव्रत की प्रसार-पद्धति में परिष्कार का चिन्तन होता तथा अणुव्रत-संघ से सृजनात्मक गतिविधियों के विकास की चर्चा होती तथा समय-समय पर बदलती हुई परिस्थितियों और चिन्तन तथा अनुभव की प्रौढ़ता के सन्दर्भ में नये-नये आयाम खुलते रहे।

4.7 अहिंसक आन्दोलन के अहिंसक सैनिक

अणुव्रत के प्रथम अधिवेशन के बाद ही अणुव्रत-कार्य का संचालन करने के लिए एक समिति की अपेक्षा की गई, जो केन्द्रीय स्तर पर काम कर सके। केन्द्रीय समिति आवश्यकता के अनुसार दूसरे प्रदेशों में भी अपनी शाखाएं खोलकर संगठन को सुदृढ़ बनाएं, यह अपेक्षित था। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए ''अणुव्रत समित'' के नाम से एक संगठन गठित हो गया। समिति के पदाधिकारियों में अध्यक्ष, मंत्री आदि का अणुव्रती होना जरूरी था। वे स्वयं अणुव्रतों के आदर्शों को समझें, जीवन में उतारें ओर लोक-जीवन में फैलाएं, यह निश्चित किया गया।

अणुव्रत समिति एक नैतिक संस्था थी, इसलिए इसके परिवेश को भी नैतिक रखने का प्रयत्न किया। यह कारण है कि समिति के चुनाव में पद को लेकर कोई विवादास्पद स्थिति निर्मित नहीं हुई। जिन व्यक्तियों को पदाधिकार के लिए कहा जाता, वे अपनी सेवा प्रस्तुत करने के लिए तत्पर किन्तु पद के लिए अनिच्छुक पाए गए। गोपीनाथ अमन ने इस तरह का स्वरूप देखकर आश्चर्य-चकित होकर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की-- ''मैंने अपने राजनीतिक जीवन में अनेक चुनाव देखें हैं ओर अच्छे-अच्छे व्यक्तियों को पद के लिए झगड़ते देखा। पहली बार मैं देख रहा हूँ कि यहाँ कोई उम्मीदवार तो है ही नहीं। जिसे पद दिया जाता है, वह ''तुम दायित्व संभालो'' कहकर पद से विमुख हो रहा है।'' पद के लिए आग्रह और मनुहारों की यह स्थिति अणुव्रत के मंच से ही घटित हो सकती है। यदि ऐसा नहीं होता है तो नैतिकता का प्रचार स्वयं में अर्थहीन हो जाता है। गाँधीजी ने अहिंसक राज्य के कार्यकर्ताओं को इसी भावना के साथ कार्य करने की कल्पना की थी, किन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने पद प्राप्ति को ही मुख्य समझा, नैतिकता, जन-सेवा आदि मुख्य प्रश्न गौण होकर रह गये। तुलनात्मक दृष्टि से अणुव्रत आन्दोलन की यह एक महत्त्वपूर्ण सफलता है।

उस समय अणुव्रत समिति के कार्यकर्ताओं में देवेन्द्र कर्णावट, जयचन्दलाल दफ्तरी, जैनेन्द्रजी, मोहनलाल कठोतिया, प्रो. मूलचन्द सेठिया, छगनालाल शास्त्री आदि ने अपने समय और श्रम का योग देकर तन्मयता से काम किया। अणुव्रत को व्यापक बनाने में इनका योगदान मूल्यवान है। सुगनचन्द आंचलिया ने अणुव्रत भावना के साहित्य को प्रबुद्ध वर्ग तक पहुंचाने का दायित्व संभाला। साहित्य-वितरण-अभियान में श्री आंचलिया का बहुत योगदान रहा है।

अणुव्रत कार्य की दृष्टि से आदर्श साहित्य संघ के व्यवस्थापक जयचन्दलाल दफ्तरी बहुत सक्रिय रहे। 'आदर्श साहित्य संघ' तेरापंथ संघ की गतिविधियों, साहित्य और जन-सम्पर्क आदि के लिए एक संगठित माध्यम है। आन्दोलन के समय उसकी स्थापना हुए लगभग दो वर्ष ही हुए थे, फिर भी वह अपने दायित्व के प्रति जागरूक था। यात्रा में साहित्य प्रकाशन, साहित्य वितरण और जन-सम्पर्क की दिशा में 'आदर्श साहित्य संघ' के कार्यकर्ताओं तथा श्री रामलाल गोलछा ने उल्लेखनीय कार्य किया किया।

पत्र-पत्रिकाएं विचार-प्रसार का सशक्त अहिंसक माध्यम है। अणुव्रत विचार को गति देने के लिए अणुव्रत कार्यकर्ताओं ने उक्त माध्यम की अपेक्षा अनुभव की। आदर्श साहित्य संघ के जन्मदाता और संचालक जयचन्दलाल दफ्तरी, सुगनचन्द आंचलिया, देवेन्द्र कर्णावट और हनुमलजी सुराना ने इस संबंध में विचार विमर्श किया और ''जनपथ'' नामक एक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसका सम्पादन मूलचन्द सेठिया ने किया।''जनपथ'' जन-जन तक पहुंचने लगा। अणुव्रत के परिपार्श्व में प्रकाशित अन्य साहित्य भी आकर्षण का निर्मित बना। इस प्रकार अणुव्रत की प्रारम्भिक प्रवृत्तियों का प्रभाव बढ़ता रहा और लोगों की जिज्ञासाएं बढ़ती रहीं। उस समय अणुव्रत विचारधारा को स्पष्ट ओर पुष्ट करने के लिए जो साहित्य तैयार करवाया गया, वह इस प्रकार हैं :-

धर्म और लोक-व्यवहार

उन्नीसवीं शदी का नया आविष्कार

अहिंसा और इसके विचारक

अणुव्रत संघ

आँखें खोलो

लोक-चरित्र की पावनता की ओर अग्रसर करने की क्षमता होने पर भी कोई नया तत्व जन-सम्पर्क के अभाव में कार्यकारी नहीं हो सकता। अणुव्रत-आन्दोलन को विकासात्मक रूप देने के लिए व्यापक स्तर पर अभियान चलाया गया, जिसमें जन-सम्पर्क, प्रचार-प्रसार, साहित्य प्रकाशन व अपने सही स्वरूप का दिग्दर्शन कराना मुख्या था। वैचारिक स्तर पर अणुव्रत को सबका सहयोग और समर्थन मिला। किसी भी प्रवृत्ति को पोषण देने के लिए उसके विचार-पक्ष को पुष्ट करना अपेक्षित हो जाता है। अणुव्रत की विचारधारा साम्प्रदायिक संकीर्णता से बहुत ऊपर थी, अत: उसकी प्रगति व विकास में सबका सहयोग मिलता रहा। एक के बाद एक नये अभिक्रम सामने आए और इस रजत-जंयती वर्ष तक पहुंचते-पहुंचते अणुव्रत ने जन-सम्पर्क और विचार-विकास की दृष्टि से कई मंजिलें पार कर ली हैं तथा निरन्तर अपने पथ पर गतिशील हैं।

4.8 आन्दोलन का अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार

अणुव्रत आन्दोलन ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने शैशव-काल से ही अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार की संभावनाओं का आधार प्राप्त कर लिया था, जब देश-विदेश के पत्रकारों का ध्यान आचार्य तुलसी के आन्दोलन ने अपनी तरफ आकर्षित कराया, 'टाइम्स' पत्रिका ने तो आन्दोलन के द्वितीय चरण का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय ही माना था। कालान्तर में अणुव्रत आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रमों को व्यवस्थित रूप देने के लिए अणुव्रत विश्व भारती की कल्पना की गई, जो अणुव्रत प्रचार-प्रसार, अहिंसा व अन्य कार्यक्रमों को मूर्त रूप देने के लिए सक्रिय हुई। इसके अन्तर्गत प्रचार हेतु समय-समय पर विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार, अहिंसा प्रशिक्षण शिविर, कार्यशालाएं आदि आयोजित की गई और विद्वानों व समण-समणियों (गृहस्थ श्रावक व साधु के बीच की श्रेणी) को विदेश भेजा गया।

अणुव्रत विश्व भारती द्वारा शान्ति एवं अहिंसा उपक्रम पर प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन दिसम्बर 1988 में अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी ने सान्निध्य में लाडनूँ में आयोजित किया गया। अधिवेशन की निष्पत्ति में लाडनूँ घोषणा पत्र को हिंसा के उन्मूलन की दिशा में एक रचनात्मक शुरुआत के रूप में विश्व भर में सराहा गया। फरवरी 1992 में दूसरा अधिवेशन 'विश्व शान्ति निलयम' राजसमन्द में आयोजित हुआ था, जिसमें आचार्यश्री के प्रभाव के कारण खाड़ी युद्ध के बावजूद 25 देशों से बड़ी संख्या में विश्व शांति के क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसके द्वारा निष्पादित राजसमन्द घोषणा पत्र को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मान्यता प्राप्त हुई तथा अनेक संस्थाओं से व्यापक समर्थन मिला। नवम्बर 1992 में लाडनूँ में अहिंसा प्रशिक्षण पर एक अन्तर्राष्ट्रीय परिसंवाद का आयोजन एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी, जिसके प्रारम्भिक सत्र को आचार्य तुलसी एवं शांति नोबल पुरुस्कार विजेता दलाई लामा का सान्निध्य प्राप्त हुआ। अणुव्रत विश्व भारती व जैन विश्व भारती के तत्वावधान में दिसम्बर 1995 में लाडनूँ में प्रकृति के साथ समन्वय व अहिंसा प्रशिक्षण पर तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन आयोजित किया गया जिसमें देश-विदेश के शान्ति संस्थाओं के कार्यकताओं ने भाग लेकर विश्व शांति व अहिंसा के लिए संयुक्त रूप से कार्य करने का संकल्प किया। उस आन्दोलन की अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नवम्बर 1998 में सरदारशहर में आयोजित अधिवेशन को माना जा सकता है, जो पूर्म रूप से अणुव्रत एवं विश्व शांति को समर्पित किया गया। इस आन्दोलन में अन्तर्राष्ट्रीय जगत के अहिंसा एवं शांति को समर्पित विशिष्ट संस्थाओं की प्रतिभागिता ने विश्व-शांति के क्षेत्र में अणुव्रत की प्रांसगिकता को सार्थक किया। इसके उपरान्त भी समय-समय पर आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को आयोजित तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति कार्यक्रमों में सहभागिता एवं प्रतिनिधित्व का अवसर मिला।

आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गति देने के लिए अणुव्रत विश्व भारती (अणुविभा) ने अणुव्रत पुरुस्कार देने की शुरुआत की। अब तक जिन्हें यह पुरुस्कार प्रदान किया गया है, वे है : प्रो ग्लेन डी. पेज, हवाई विश्वविद्यालय होनालूलू, डॉ. देसा इकेड़ा अध्यक्ष सोका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गोकाई इंटरनेशनल, जापान एवं श्री पेरेज डे क्वेयार, महासचिव, संयुक्त राष्ट्र संघ आदि। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय जगत के महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट जन जैसे जोसेफ वार्नर रीड (संयुक्त राष्ट्र संघ), गुन्नार्र मिडर्ल है (नोबल पुरुस्कार विजेता), जॉन गाल्टूंग, डॉ. फ्रांस्सिको बाराहोना (इंटरनेशनल पीस रिसर्च इस्टिट्यूट) आदि निरन्तर रूप से इस आन्दोलन को गति देने के लिए सम्पर्क में है।

अणुविभा की अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों को और व्यापक बनाने के उद्देश्य से अनेक प्रवृत्तियां सचालित करने की योजना है, इसमें महत्त्वपूर्ण है : अणुव्रत इंटरनेश्नल, अन्तर्राष्ट्रीय अणुव्रत ग्राम, अन्तर्राष्ट्रीय अणुव्रत परिवार, अणुव्रत विश्व विद्यालय, भाषा एवं अनुवाद संस्थान, सर्वधर्म समन्वय परिषद्, अहिंसा समवाय आदि। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अणुव्रत आन्दोलन की विचारधारा को प्रचारित, प्रसारित करने एवं विश्व-शांति के लिए अहिंसा उपक्रम के माध्यम से अपना योगदान देने के लिए अणुविभा निरन्तर प्रयासरत है। यही कारण है कि अणुव्रत आन्दोलन शांति आन्दोलन के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

4.9 कल्याणकारी कार्यक्रम

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय हमें एक विघटित अर्थ व्यवस्था और सामाजिक समस्याओं से भरपूर समाज विरासत में मिला। गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा और अन्धविश्वास को तो तात्कालीन प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने संस्थागत बुराइयों के रूप में स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त दहेज प्रथा, बाल विवाह, कन्या वध, वृद्ध विवाह, गर्भपात, भूणहत्या, बलि-प्रथा, वेश्यावृत्ति, पर-स्त्री-गमन, नारी-शोषण, महँगाई, भुखमरी, मृत्यु भोज, काला धन, काला बाजारी, तस्करी इत्यादि सामाजिक समस्याएं भी भारतीय समाज को छिन्न-भिन्न कर रही थीं। हम राजनीतिक अर्थ में स्वतन्त्र अवश्य हो गये थे, लेकिन आर्थिक व सामाजिक समस्याओं ने समाज की इस तरह दुर्गति की कि स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाने रखना कठिन हो गया था। जातिवाद, अस्पृश्यता, भिक्षावृत्ति, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद तथा युवा तनाव ने हमारे सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को ही विषाक्त बना दिया था।

उपयुक्त आर्थिक और सामाजिक समस्याएं भी मूलत: नैतिकता के अभाव में पनपती है। नैतिकता के अभाव में ही मनुष्य उचित अनुचित की सीमास को तोड़कर आवश्यकता से अधिक संग्रह करने लगता है। संग्रहशील व्यक्तियों के पास ज्यों-ज्यों संग्रह बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आर्थिक समस्याएं जटिल से जटिलतर होती जाती हैं। ये आर्थिक समस्याएं सामाजिक समस्याओं को भी पैदा करती है। धन बढ़ता है, उसके साथ ही अपने अहम की पूर्ति के लिये उसका प्रदर्शन भी बढ़ता है। इससे समाज में उच्च, मध्यम और निम्न आदि कई वर्ग व स्तर बन जाते हैं। इन सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का निराकरण करने के लिये सामाजिक ढांचे में परिवर्तन की आवश्यकता हैं। इसमें परिवर्तन हेतु विश्व में समय-समय पर अनेक कार्यक्रम और आंदोलन सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्तर पर प्रायोजित किये गये और उनसे सफलता भी मिली, लेकिन इन नवीन प्रयोगों से नवीन समस्याओं और कठिनाइयों की उत्पत्ति हो गई जिनका समाधान उन प्रयोगों में नहीं था।

जयप्रकाश नारायण ने भी सामाजिक परिवर्तन एवं तनाव-मुक्ति हेतु क्रान्ति का उद्घोष किया। इसके लिये उन्होंने सप्त सूची कार्यक्रम किया। उनके अनुसार राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, नैतिक और वैचारिक इस तक क्षेत्रों में युगपात् बदलाव का नाम समग्र क्रान्ति है।

राममनोहर लोहिया ने भी अपने समय में सप्त क्रान्ति की परिकल्पना इस प्रकार दी :-

1. जातिगत विषमता का अन्त
2. विदेशी दासता का अवसान
3. स्त्री-पुरुष के मध्य समानता के स्तर की स्थापना
4. रंग पर आधारित विषमता की समाप्ति
5. सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति
6. अन्याय का प्रतिकार
7. हिंसामूलक प्रवृत्तियों का विरोध।

कार्ल-मार्क्स ने अर्थ को समस्त प्रकार की वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक बुराइयों का मूल कारण माना और अर्थ-व्यवस्था को परिवर्तित करने के लिये साम्यवाद का प्रतिवादन किया। साम्यवाद ने व्यक्ति को शोषण और परिग्रहों के दुष्परिणामों से मुक्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर दिया। इससे वर्ग-संघर्ष समाप्त हो गये। आर्थिक वैमनस्य खत्म हो गया, परन्तु इससे सामाजिक एवं राजनैतिक अतिनियंत्रण और यांत्रिकता बढ़ गयी, जिसने व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना की रीढ़ को ही तोड़ दिया। इस प्रकार इस व्यवस्था से एक प्रश्न का समाधान होते हुए भी अन्य कठिन प्रश्न उपस्थित हो गये।

अणुव्रत आंदोलन उपर्युक्त समस्याओं के स्थाई समाधान में विश्वास करता है। राज बल और धन-बल द्वारा इनका शाश्वत् समाधान सम्भव नहीं है। साथ ही इन समस्याओं का समाधान ऐसा होना चाहिए कि दूसरे प्रकार के सामाजिक विकारों का प्रकटीकरण न हो। इस हेतु वह मनुष्य की शक्ति को जागृत करता हैं। उसको उसमें व्याप्त अनन्त शक्ति से परिचित कराता है। व्यक्ति की जागृत शक्ति का उपयोग सृजनात्मक कार्य करने, सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाने, कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने में करता हैं। इस प्रकार सामाजिक बुराइयों को दूर करने में यह आन्दोलन व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति जागृत करके महत्त्वपूर्ण सहयोग देता है। अत: अणुव्रत आंदोलन ने समाज-परिवर्तन करते समय दो लक्ष्य अपने समक्ष प्रस्तुत किये :-

1. वर्तमान समाज-व्यवस्था में प्रचलित दोषों को दूर करने हेतु कार्य करना।
2. नवीन प्रकार की समस्याओं को उत्पन्न होने से रोकना।

इन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अणुव्रत प्रस्तोता आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन के रूप में नवीन प्रयोग भावनात्मक एवं चेतनात्मक स्तर पर किये। भावनात्मक स्तर ही व्यक्ति में बदलाव लाकर समाज परिवर्तन किया जा सकता है और उसे विकारों से मुक्त किया जा सकता है। उन्होंने नैतिक पतन, संकल्प की दुर्बलता, असमभाव और अनात्म तत्वों के प्रति अनावश्यक आकर्षण आदि इन समस्याओं के मूल बिन्दु पर प्रहार करने का निश्चय किया, ताकि सामाजिक, आर्थिक समस्याओं का समाधान किया जा सके। इसके लिये अणुव्रत आन्दोलन को सामाजिक परिवर्तन के चक्र के रूप में प्रस्तुत किया। अणुव्रत आन्दोलन के द्वारा उन्होंने सर्वप्रथम व्यक्ति के चरित्र-निर्माण द्वारा समाज और राष्ट्र के निर्माण का भी संकल्प किया। उन्होंने चरित्र-निर्माण का आह्वान इन शब्दों में किया :-

''सुधरे व्यक्ति, समाज से, राष्ट्र स्वयं सुधरेगा।''[5]

इस हेतु उन्होंने लम्बी पद यात्राएं भी की और जन-जन के हृदय में नैतिक उत्थान की ज्वाला प्रज्ज्वलित की। उनके आह्वान से जन-समुदाय ने शराब न पीने, धूम्रपान, शिकार, मिलावट इत्यादि न करने की प्रतिज्ञाएं ली। आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन के द्वारा समाज को परिवर्तित करने हेतु अनेकानेक रचनात्मक कार्यक्रम अपनाए, जिनका प्रयोग अपने-आप में अहिंसा के विधायक पक्ष को प्रतिष्ठित करना था। इन प्रयोगों को मूर्त्त रूप देने हेतु आचार्य तुलसी तथा वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ के लगभग 650 अहिंसक सैनिक (साधु-साध्वियां) अणुव्रत विहार (निरन्तर पदयात्रा) करते हुए इस शान्तिपूर्ण अहिंसक आन्दोलन को निम्नोक्त कार्यक्रमों के माध्यम से संचालित कर रहे हैं।

1. समाज में व्यापक अनैतिकता, हिंसा, तनाव आदि निमित्तों की खोज कर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना।
2. शिक्षण-क्षेत्र में नैतिकता व मूल्यों की प्रतिष्ठा,
3. वर्तमान राजनीति में व्याप्त अनैतिकता के तत्वों को दूर कर मूल्य आधारित अहिंसक राजनीति के लिये धरातल का निर्माण करना आदि।

इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आन्दोलन ने मनुष्य व समाज से संबंधित प्राय: सभी पक्षों को अपने कार्यक्रम के अन्तर्गत लिया है। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जो मनुष्य को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभावित करता हो और आन्दोलन की कार्य-सूचि में न हो।

4.9.1 शिक्षण-क्षेत्र

अणुव्रत का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है- शिक्षा के क्षेत्र में त्रिकोणात्मक अभियान। विद्यार्थी, अध्यापक और अभिभावक- इन तीन वर्गों में अणुव्रतों का काम करने की दृष्टि से यह अभियान चला। इस कर्य-क्षेत्र का मूल बिन्दु है विद्यार्थी संस्कार-निर्माण की दृष्टि से विद्यार्थी अनुकूल भूमि हैं। इस भूमि में नैतिकता के बीच बोने के लिए नैतिक शिक्षा का कार्यक्रम तीव्रता पूर्वक चलाया गया। नैतिक पाठशाला का एक नया प्रयोग हुआ, जो राष्ट्र के सैकड़ों स्कूलों में क्रियान्वित हुआ। विद्यार्थी अणुव्रत के अन्तर्गत आचार्य तुलसी ने विद्यार्थी की सृजनात्मक क्षमताओं का विकास करने तथा उसका उपयोग समाज व राष्ट्रों के हित में करने हेतु निम्नोक्त अणुव्रतों का विधान किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. हिंसात्मक गतिविधियों से दूर रहना।
2. अश्लील साहित्य व चलचित्रों से स्वयं को दूर रखना।
3. मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करना।
4. परीक्षा में अवैधानिक उपायों का सहारा नहीं लेना।
5. चुनाव में अनैतिक आचरण नहीं करना।
6. दहेज प्रथा में अनास्था रखना और
7. हरे भरे वृक्षों का संरक्षण और प्रदूषण रोकने में सहायता करना।

उपर्युक्त अणुव्रत यद्यपि निषेधात्मक है, किन्तु ये रचनात्मक समाज संरचना के लिये नींव के पत्थर के रूप में आवश्यक भी है, इसको अपनाने से नशाबन्दी में काफी हद तक सफलता मिलेगी। आज के वातावरण में छात्रों में मादक पदार्थों यथा सिगरेट, स्मैक, कोकीन, ब्राउन शुगर, गुटखा, शराब इत्यादि का प्रचलन बढ़ता जा रहा है, जिसको सरकार अधिनियम बनाकर नियंत्रित करने की असफल कोशिश कर रही है। सरकारी नियंत्रण जितना अधिक होगा नशे की प्रवृत्ति चोरी छिपे उतनी ही अधिक बढ़ती जायेगी। अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से छात्रों, युवाओं एवं व्यक्तियों में संकल्प शक्ति का विकास किया जाता है, ताकि वह अपनी संकल्प शक्ति के द्वारा नशा–मुक्ति आन्दोलन को सफल बना सकें।

इस प्रकार अश्लील साहित्य का पठन और अश्लील चलचित्रों को देखने से मानव मस्तिष्क पर बुरा प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति की दृष्टि नारी समाज के प्रति दूषित हो जाती है। स्त्री को माँ, बहिन और बेटी मानने के स्थान पर वह उसे भोग्या के रूप में ही स्वीकार करता है। परिणामतः पुरुष प्रधान समाज द्वारा नारी जाति पर तरह–तरह के अत्याचार किये जाते हैं। बलात्कार, हत्या, छेड़खानी इत्यादि नारी शोषण के अनेक रूप हैं। आधुनिकता के नाम पर नारी गौरव का हनन करने से भी व्यक्ति नहीं चूकता है। अत्यधिक अंग–प्रदर्शन से नारी को मात्र भोग्य वस्तु का दर्जा दे दिया गया है। नारी के प्रति शोषण व भोग्य दृष्टिकोण में परिवर्तन तभी आ सकता है, जब हम अश्लील साहित्य को पढ़ना और अश्लील चित्रों को देखना बन्द कर दें। विद्यार्थी वर्ग में इस प्रकार का संकल्प कराने से जहाँ एक ओर उनकी दृष्टि निर्विकार रहेगी वहीं दूसरी ओर वे अपनी क्षमता का रचनात्मक उपयोग कर सकेंगे।

विद्यार्थी वर्ग द्वारा पर्यावरण संरक्षण का व्रत लेने से पर्यावरण संरक्षण तथा पारिस्थितकीय संतुलन को बनाये रखने में मदद मिलेगी। इससे रेगिस्तान को हरे–भरे खेतों में परिवर्तित करने, ध्वनि तथा वायु प्रदूषण को कम करने में सहायता मिलेगी।

हिंसात्मक गतिविधियों से दूर रहने तथा चुनाव में अनैतिक आचरण नहीं करने से समाज व राष्ट्र की सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाये जाने से बचाया जा सकेगा। युगीन परिस्थितियों में यह महसूस किया गया है कि छात्र वर्ग हिंसक गतिविधियों, उपद्रवों, तोड़–फोड़ इत्यादि में निमग्न रहते हैं। वे अपनी तथा समाज व राष्ट्र की समस्या–समाधान हेतु हिंसा का सहारा लेते हैं। अगर उन्हें अहिंसा का महत्त्व तथा अहिंसक जन प्रतिरोध की महत्ता समझा दी जाए तो वे हिंसा से सहज रूप से विरत हो सकते हैं। जापान तथा कुछ राष्ट्रों में अपनी समस्याओं के निराकरण हेतु छात्र व कर्मचारी वर्ग कंधों पर काली पट्टियाँ बांधते हैं और अधिक कार्य करते हैं न कि तोड़–फोड़ हिंसा। आज देश में छात्र विध्वंस से अधिक लगा हुआ है। परीक्षा में अनुचित साधनों का प्रयोग होता है।

अगर विद्यार्थी वर्ग नकल न करने तथा अवैधानिक साधनों का सहारा न लेने का संकल्प ले तो न तो परीक्षा–फल में गिरावट आयेगी, न उनका शैक्षणिक स्तर कम होगा। शिक्षण स्तर के विकास, विद्यार्थियों के विकास के साथ उनमें चारित्रिक दृढ़ता व आत्मिक बल की उन्नति होगी। शिक्षण क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण अंग शिक्षक वर्ग समाज की भावी पीढ़ियों को दिशा निर्देश देता है। जिन आदर्शों और मूल्यों का निर्वहन शिक्षण–वर्ग करता है, विद्यार्थी भी इसी मार्ग का अनुसरण करता है। अतः आवश्यकता है कि शिक्षण वर्ग समाज को लिए एक आदर्श व नैतिकता का प्रतीक प्रस्तुत करे, अणुव्रत आन्दोलन ने इस हेतु शिक्षक–वर्ग के लिए निम्न नैतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किये हैं।

1. मैं विद्यार्थी के बौद्धिक–विकास के साथ चरित्र–विकास में भी सहयोगी बनूंगा।
2. मैं विद्यार्थी को उत्तीर्ण कराने में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूंगा।
3. मैं अपने विद्यालय में दलगत राजनीति को प्रश्न नहीं दूंगा, न इसके लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करूँगा।
4. मैं मादक और नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
5. मैं अणुव्रत प्रसार में अपना योग दूंगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अणुव्रत आन्दोलन ने राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षण-जगत् में मूल्यों की स्थापना हेतु योगदान दिया है। पाठ्यक्रम के द्वारा विद्यार्थी जगत को अहिंसा, शांति, मानवाधिकार, निशस्त्रीकरण, पर्यावरण-संरक्षण, जीवन-विज्ञान आदि मूल्यों का शिक्षण-प्रशिक्षण देने के लिए कई माध्यम व उच्च संस्थाएं अणुव्रत-आन्दोलन से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित होकर कार्यरत है। आन्दोलन ने शिक्षण-क्षेत्र में नैतिक संवाद स्थापना हेतु राष्ट्रीय शिक्षक एवं छात्र-संसद को मंच के रूप में प्रस्तुत किया है।

4.9.2 राष्ट्रीय अणुव्रत शिक्षक एवं छात्र-संसद

अणुव्रत का मानना है सब सुधारों का मूल शिक्षा है। शिक्षा के चार आयाम है--छात्र, शिक्षक, अभिभावक और शिक्षा-व्यवस्था। यदि छात्र सुधर जाता है तो सारा देश सुधर जाता है, उसके सुधार में घर, परिवार की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पर उससे भी बढ़कर शिक्षक की भूमिका है। शिक्षा-व्यवस्थाा में भी परिवर्तन अपेक्षित हैं, पर शिक्षक यदि जाग्रत नहीं है, तो सारी विकास-यात्रा गड़बड़ा सकती है।

इसी दृष्टि से अणुव्रत विश्व भारती के अन्तर्गत शिक्षक संसद का गठन किया गया। दिसम्बर, 1990 में राणावास के प्रथम अधिवेशन से यह प्रक्रिया शुरू हुई। आज विभिन्न प्रदेशों के लगभग एक लाख से अधिक सदस्य अणुव्रत शिक्षक संसद से जुड़े हैं एवं अनेक संवाहक देश के विभिन्न राज्यों में कार्यरत हैं। अणुव्रत अनुशास्ता ने अपने मंगल संदेश में शिक्षकों से कुछ आशाएं रखी हैं-- ''शिक्षक वर्ग प्रबुद्ध होता है। वह स्थिति की गम्भीरता को समझता है। उसके थोड़े-से सुनियोजित प्रयास से बहुत काम हो सकता है। देश की भावी पीढ़ी का भविष्य उनके हाथ में होता है। विद्यार्थियों को प्रारम्भ से ही नैतिक संस्कारों में डाल दिया जाए तो देश को उज्ज्वल भविष्य देने वाली नई पीढ़ी आगे आ सकती है। शिक्षकों में चरित्र-निष्ठा का विकास देश के लिए ठोस उपलब्धि हो सकती है।''

राष्ट्रीय अणुव्रत शिक्षक संसद द्वारा अब तक किया गया कार्य प्रगति पथ पर अग्रसर है। विभिन्न अधिवेशनों में पारित प्रस्तावों को देश-भर के शिक्षाविदों , संसद सदस्यों, राज्यों व केन्द्र के मन्त्री मण्डल के सदस्यों को भेजे गये, राष्ट्रीय अणुव्रत शिक्षक संसद को देश के कई राज्यों के महामहिम राज्यपाल, महानुभावों, मानवीय मुख्यमंत्रियों एवं विद्वजनों की सम्मतियाँ एवं आशीर्वाद मिला। कर्नाटक, सिक्किम, राजस्थान एवं बिहार सरकारों द्वारा संसद की गतिविधियों, जीवन विज्ञान एवं वर्गीय नियमों की पालना करने के आदेश प्रसारित हुए। इसे व्यापक बनाने के लिए संसद के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये हैं।

- अणुव्रत विश्व भारती की बालोदय योजना को साकार रूप देने की दृष्टि से अणुव्रती शिक्षकों एवं छात्रों की शक्ति को संगठित करना।
- शिक्षकों में अणुव्रत के प्रति आस्था जागृत करना, शिक्षा के आध्यात्मिक पक्ष का उन्नयन करना, संस्कार निर्माण एवं संस्कृति की रक्षा हित कार्य करना।
- शिक्षकों एवं छात्रों के व्यक्तित्व का अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान व जीवन विज्ञान द्वारा सर्वागीण विकास करना।
- राजनीति से दूर रहकर शिक्षकों की सृजनात्मक शक्ति का राष्ट्र के नैतिक, सामाजिक एवं भावनात्मक चरित्र विकास हेतु नियोजन करना।
- अहिंसा एवं शांति के लिए प्रयास करना।
- समाज, देश तथा विश्व की ज्वलंत समस्याओं के समाधानार्थ सभा, सम्मेलन, गोष्ठियों एवं प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करना।
- छात्रों की शक्ति का रचनात्मक उपयोग करना।

कार्य-योजना - प्रवृत्ति के उद्देश्यों एवं संसद द्वारा समय-समय पर निर्णीत विषयों के संचालन एवं क्रियान्वयन का दायित्व राष्ट्रीय संयोजन का है,

देश के विभिन्न राज्यों, जिला मुख्यालयों आदि में समय-समय पर सम्पर्क कर, या यात्रा कर प्रगति से अवगत होते रहते हैं तथा एक वर्ष में समय-समय पर संवाहकों की संयुक्त बैठकों आयोजित करते हैं।

प्रत्येक राज्य में जीवन विज्ञान प्रेक्षाध्यान विषय को पढ़ाने के लिए वातावरण बनाना।

जीवन विज्ञान विषय शिक्षण कराने वाले प्रधानाध्यापकों एवं अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

हिन्दी भाषी राज्यों के अलावा राज्यों के लिए उस राज्य की भाषा में जीवन विज्ञान की पुस्तक का प्रकाशन करवाते हैं।

सम्बन्धित विद्यालयों के छात्रों, अध्यापकों एवं यथा–सम्भव अभिभावकों के अणुविभा में प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन कर बालोदय योजना से सम्बन्धित प्रवृत्तियों का प्रभावी उपयोग करते हैं।

समय–समय पर तहसील, जिला एवं राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय समस्याओं के निदानार्थ गोष्ठियाँ, सेमिनार एवं दल चर्चाओं की आयोजन करना व जागृति के कार्यक्रमों को अपनाने का कार्य करते हैं।

छात्रों में व्याप्त असन्तोष को शांति एवं अहिंसा का प्रशिक्षण देंकर उनकी शक्ति का राष्ट्र–निर्माण में योग प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षण शिविरों की आयोजन करना तथा विद्यालय स्तर से राष्ट्रीय स्तर पर समय–समय पर आयोजित राष्ट्रीय अणुव्रत शिक्षक संसद द्वारा लिये गये निर्णयों की पालन करवाने हेतु कार्य करते हैं।

राष्ट्रीय अणुव्रत छात्र–संसद की विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में इकाइयाँ स्थापित करने का कार्य करते हैं।

नशामुक्त अभियापन करने की प्रेरणा देते हैं।

इस प्रकार अणुव्रत अनुशास्ता की जन हितकारी योजना के व्यापक उद्देश्य, बालकों के नैतिक उत्थान हेतु सभी प्रकार के प्रयास करने के लिए राष्ट्रीय अणुव्रत शिक्षक संसद उनके मंगलमय उद्बोधन एवं आशीर्वाद से सम्पूर्ण राष्ट्र के शिक्षा जगत् में कार्य करने को कृत संकल्प है।

इस महान् कार्य में छात्रों, अध्यापकों, अभिभावकों, राज्य सरकारों, समाजसेवियों, सहयोगकर्ताओं एवं योगक्षेमी महानुभावों के प्रबल समर्थन ने अधिक गति प्रदान की है। अणुव्रत छात्र संसद का प्रारूप इस प्रकार है :

उद्देश्य : छात्र–छात्राओं में नैतिक जागरण का दायित्व निभाया जाये, उस शक्ति के विकास के लिए छात्र संसद का गठन आवश्यक है।

नियम :

1. छात्र वर्गीय अणुव्रतों का पालन करने वाला छात्र ही इसका सदस्य बन सकेगा।
2. विद्यालय प्रधान महोदय अणुव्रत छात्र संसद के मार्गदर्शक होंगे।
3. बार–बार प्रतिज्ञाओं को भंग करने वाले छात्र की सदस्यता मार्गदर्शक की सहमति से भंग कर दी जा सकेगी।
4. मार्गदर्शक ही संयोजक व उपसंयोजक की नियुक्तियाँ करेंगे।
5. माह में दो बार अणुव्रत छात्र संसद की बैठक आयोजित की जायेगी।

गतिविधियाँ :

1. जीवन विज्ञान शिक्षण
2. राष्ट्रीय एकता
3. व्यसन–मुक्ति
4. प्रदूषण निषेध
5. साक्षरता
6. मेधावी एवं चरित्रवान छात्रों का सम्मान
7. सांस्कृतिक कार्यक्रम
8. साहित्यिक एवं कलात्मक प्रतियोगिता का आयोजन।

4.9.3 जीवन विज्ञान : अहिंसक व्यक्तित्व का निर्माण

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में बौद्धिक विकास प्राप्त करने के अवसर तो पर्याप्त है, किन्तु चरित्र विकास को अवकाश नहीं मिल पाता। शिक्षित व्यक्ति हिंसा, अपराध, अनैतिकता में लिप्त देखे जाते हैं। बड़े आर्थिक अपराध, आर्थिक घोटले और सुनियोजित हिंसा में या राष्ट्रद्रोह में शिक्षा प्राप्त व्यक्ति ही अधिक लिप्त होते हैं। अशिक्षित व्यक्ति इतने बड़े अपराध नहीं करता। शिक्षा से जो अपेक्षा की गई थी, वर्तमान शिक्षा उसे साकार करने में अक्षम रही है। शिक्षा का उद्देश्य था– व्यक्तित्व का निर्माण। आज की शिक्षा उस उद्देश्य को प्राप्त करने में सक्षम नहीं है। उच्च शिक्षा का इतना विकास होने के बाद भी, इसकी नई–नई शाखाएं खुलने के बाद भी व्यक्ति की आपराधिक, पाशविक वृत्तियों में कोई अन्तर नहीं आया, उनका विकास ही हुआ है। शिक्षा इसलिए आज प्रश्नों के घेरे में है। उसके ढ़ांचे को गलत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बताया जा रहा है। शिक्षा की इस समस्या को देखते हुए आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ ने शिक्षण-क्षेत्र में अनुसंधान पर जीवन-विज्ञान के रूप में एक नया अवदान दिया, जो शिक्षा को सर्वांगीण और समाधान कारक बनाता है।

4.9.3.1 जीवन विज्ञान शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा जीवन में सर्वांगीण विकास का आधार है। इससे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। शिक्षा के क्षेत्र में जितने प्रयोग अब तक हुए हैं, जीवन विज्ञान उनमें एक मौलिक प्रयोग है। उसमें विद्यार्थी को पढ़ाया कम जाता है प्रयोग अधिक कराये जाते हैं। शिक्षा की मूलभूत समस्याओं को ध्यान में रखकर उसका स्वरूप निश्चित किया गया है। शिक्षा के विकास के बावजूद जीवन मूल्यों का ह्रास हो रहा है। जीवन मूल्यों की पुन: प्रतिष्ठा हो और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो, उसके लिए जीवन विज्ञान विषय का शुभारम्भ किया गया है। इसके चिन्तन को आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने विस्तार दिया है।

4.9.3.2 संतुलित शिक्षा

जीवन विज्ञान का पाठ्यक्रम शिक्षा में जुड़ने से शिक्षा में समग्रता आ सकती है। आचरण के बिना शिक्षा संतुलित नहीं हो सकती। जीवन विज्ञान का तात्पर्य है -शिक्षा का संतुलन। संतुलित शिक्षा प्रणाली के चार आधार है :

1. शारीरिक विकास
2. बौद्धिक विकास
3. मानसिक विकास
4. भावनात्मक विकास

वर्तमान शिक्षा का पाठ्यक्रम शारीरिक विकास, बौद्धिक विकास का अवसर तो प्रदान करता है, किन्तु मानसिक एवं भावनात्मक विकास के लिए उसमें अवसर नहीं है। बौद्धिक स्तर पर जो कुछ है, वह भी प्रयाप्त मात्रा में नहीं है। उससे व्यक्तित्व में रूपान्तरण घटित नहीं हो सकता। व्यक्तित्व को बदलने के लिए मानसिक एवं भावनात्मक प्रयोगों की अत्यन्त अपेक्षा है। तब ही प्राणधारा का संतुलन, जैविक संतुलन, क्षमता की आस्था का जागरण, दृष्टिकोण, व्यवहार एवं भावना का परिष्कार हो सकता है। जीवन विज्ञान का शिक्षण व्यक्तित्व परिष्कार का प्रयोग है। परिष्कार की प्रक्रिया से ही बालकों में परिवर्तन लाया जा सकता है।

4.9.3.3 जीवन-विज्ञान के तीन तत्त्व :

जीवन विज्ञान के तीन तत्त्व हैं : प्रथम है जीवन में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा। उससे प्रामाणिकता का विकास, मानवीय एकता का विकास, सह अस्तित्व का विकास संयम का विकास होगा। इनके विकास का आधार है- अणुव्रत-नैतिक दर्शन का प्रयोग। जीवन विज्ञान का दूसरा तत्त्व है - मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा। उससे एकाग्रता का विकास, संकल्प शक्ति का विकास, मानसिक संतुलन एवं मनोबल का विकास एवं तनाव विसर्जन होगा। इनके विकास का आधार है- प्रेक्षाध्यान, जीवन विज्ञान का तीसरा तत्व है- भावनात्मक मूल्यों की प्रतिष्ठा। उससे आत्म निरीक्षण का विकास, आत्म परीक्षण का विकास, संवेगों के नियंत्रण का विकास एवं मानवीय मूल्यों का परिष्कार एवं विकास होगा। इनके विकास का आधार है अध्यात्म विद्या के दर्शन का प्रयोग। इन तीनों तत्वों को बालकों तक पहुँचाने के लिए जीवन विज्ञान पाठ्यक्रम की कल्पना की गई।

4.9.3.4 जीवन विज्ञान का पाठ्यक्रम :

शिक्षा से चरित्र निर्माण फलित हो रहा हो तो पाठ्यक्रम के सामने एक प्रश्न चिन्ह है? शिक्षा शास्त्रियों का दायित्व है कि बालक के पाठ्यक्रम को इस तरह से निर्मित किया जाये कि बालक का चरित्र-निर्माण हो सके। यह तब ही फलित हो सकता है, जब शिक्षा प्रणाली एवं उसका पाठ्यक्रम जीवनाभिमुखी हो। जीवन विज्ञान का यह प्रयास शिक्षा जगत् के लिए चरित्र निर्माण की दिशा में अभूतपूर्व है। जिसमें भारतीय दर्शन, संस्कृति, योग, नैतिक शिक्षा, विधायक, अनुप्रेक्षा, मूल्य बोध एवं जैविक रसायनों के परिवर्तन को लक्ष्य में रखकर पाठ्यक्रम का निर्माण किया गया है। जिसके शिक्षण और प्रयोग से शिक्षा में पूर्णता फलित हो सकेगी। जीवन विज्ञान में प्रथम कक्षा (वर्णमाला) से लेकर स्नातक तक अध्ययनार्थियों को दृष्टिगत रखते हुए पूर्ण पाठ्यक्रम निर्मित किया गया है जिसे विद्यार्थियों की सुवधिा का ध्यान रखते हुए बारह इकाइयों में विभाजित किया गया है। वे बारह इकाइयाँ निम्न प्रकार हैं :-

1. ध्वनि
2. संकल्प
3. सम्यक् व्यायाम
4. सम्यक् श्वास
5. कायोत्सर्ग
6. प्रेक्षाध्यान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.	शरीर विज्ञान	8.	स्वास्थ्य विज्ञान
9.	मानसिक स्वास्थ्य	10.	भावनात्मक स्वास्थ्य
11.	मूल्य बोध एवं	12.	अहिंसा।

ये इकाइयाँ ध्वनि के विकास से प्रारम्भ होकर मूल्य बोध एवं अहिंसा के अनुरूप विकसित हुई हैं। ध्वनि जीवन व्यवहार को सर्वाधिक प्रभावित करती है। ध्वनि से ज्ञान, विज्ञान व्यवहार को ग्रहण करते हैं और दूसरों तक पहुँचाते हैं। ध्वनि का सम्यक् विकास शांत सहवास का आधार हैं। संकल्प शक्ति के विकास के बिना कोई भी व्यक्ति जीवन में सफल नहीं हो सकता। संकल्प शक्ति के द्वारा असद् आचरण से मुक्ति एवं सद् आचरण का विकास सम्भव है। सम्यक् आसन और सम्यक् श्वास स्वस्थ जीवन के लिए आवश्यक है। कायोत्सर्ग–तनावमुक्ति की अभिनव प्रक्रिया है। ध्यान, तटस्थता एवं एकाग्रता के साथ अन्तरंग को रूपान्तरण करने का महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। भावनात्मक स्वास्थ्य संतुलित जीवन का आधारभूत शिक्षण है। आदर्शों को जीवनगत बनाने के लिए मूल्य बोध का प्रशिक्षण विधायक भावों का स्थिरीकरण है। शिक्षा–जगत् में इनके प्रयोगों से नि:सन्देह यह सिद्ध हो गया कि जीवन विज्ञान बालकों में गुणात्मक परिवर्तन करने में सक्षम है। प्राथमिक विद्यालयों से लेकर महाविद्यालयों के छात्रों पर किये गये प्रयोगों एवं परीक्षण से यह निष्कर्ष उजागर हुआ है।

4.9.3.5 जीवन विज्ञान का विस्तार :

राजस्थान के नागौर जिले से प्रारम्भ हुआ यह प्रयोगों राष्ट्र के विभिन्न प्रान्तों सिक्किम, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, आन्ध्रप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, आसाम, बिहार, दिल्ली आदि में आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बन रहा है। अणुविभा एवं जीवन विज्ञान अकादमी द्वारा विभिन्न राज्यों में सैकड़ों विद्यालयों एवं लाखों छात्रों को एक विषय के रूप में इसका शिक्षण कराया जा रहा है। शिक्षण प्रशिक्षण महाविद्यालयों एवं स्वयं–सेवी संस्थाओं में जीवन विज्ञान की लोकप्रियता बढ़ रही है।

4.9.3.6 जीवन विज्ञान की व्यापक उपयोगिता :

जीवन विज्ञान केवल छात्रों के लिए ही उपयोगी नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। चाहे वह अध्यापक वर्ग हो या अभिभावक वर्ग। विद्यार्थी को श्रेष्ठ बनाना है तो सबसे पहले अध्यापक को प्रशिक्षण देना होगा। साथ ही अभिभावक भी इन प्रयोगों से नहीं गुजर पाएगा तो समग्र परिवर्तन घटित नहीं हो सकेगा। जीवन विज्ञान की शिक्षा में त्रिकोणात्मक कार्य करने का प्रावधान है। इससे आगे राज्य कर्मचारी, व्यापारी, न्यायाधीश एवं शासनाधिकारी सभी को जीवन विज्ञान के प्रयोगों से गुजरना होगा। इससे उनके स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण होगा। नए समाज एवं नई पीढ़ी का निर्माण होगा।

4.9.3.7 जीवन विज्ञान की प्रभावना :

व्यक्ति के स्वभाव को बदला जा सकता है। जीवन विज्ञान के प्रयोग इसके लिए वरदान सिद्ध हुए हैं। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं भावनात्मक विकास के इस उपक्रम का परिणाम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सफल हुआ है। सांख्यिकी की भाषा में कहा जाये तो पिछले कई वर्षों में लाखों विद्यार्थियों, हजारों अध्यापकों एवं सैंकड़ों–सैंकड़ों बुद्धिजीवियों के जीवन में परिवर्तन के बीज अकुंरित किये गये हैं। शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ रहे इसके प्रभाव से आने वाले समय में लाखों–लाखों विद्यार्थी एवं अभिभावक अपने आप में बदलाव महसूस कर सकेंगे– यह आशा की जा सकती है। प्रेक्षाध्यान जीवन विज्ञान पर अनेक डॉक्टरों ने शोध कार्य किया है।

व्यक्ति की भावधारा ही उसके आचरण और व्यवहार का मुख्य आधार है। ये भाव दो वर्गों में विभाजित किये जाते हैं। विधेयात्मक और निषेधात्मक। आधुनिक मनोविज्ञान ने इनका विश्लेषण कर निम्न रूप से इनके परिणामों को दर्शाया है–

विधेयात्मक

भाव	**व्यक्तित्व (आचार/व्यवहार)**	**परिणाम**
1.	**2.**	**3.**
विश्वास	उत्साही	सफलता
अभय	आशावादी	समादार
धैर्य	प्रसन्नता	निश्चिन्तता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सहिष्णुता	तनावमुक्त	आतंरिक शांति
मृदुता	विनयशील	मैत्री
श्रद्धा	सहृदय	स्वास्थ्य
निष्ठा	सहानुभूतिपूर्ण	सुख
सामंजस्य	वीरतापूर्ण	विकास
पारस्परिक समझ	अनुशासन बद्ध	साहस

निषेधात्मक

भाव	**व्यक्तित्व (आचार/व्यवहार)**	**परिणाम**
1.	**2.**	**3.**
भय	क्रूर	तनाव
घृणा	दुर्बल	कुण्ठा
ईर्ष्या	कठोर	निराशा
सन्देह	उद्दण्ड	लाचारी
लोभ	नीरस	उद्विग्नता
माया	चिड़चिड़ा	दु:ख
दीनता/ हीनता	रूखा	असफलता
छिद्रान्वेषण	आलसी	रूग्णता
अहं	डांवाडोल	दरिद्रता
आग्रह	धोखेबाज	थकावट
द्वेष	स्वार्थी	ऊब

जीवन विज्ञान का मुख्य प्रयोग है–– प्रेक्षाध्यान। जो स्वयं से स्वयं को देखने की प्रक्रिया है। प्रेक्षा–ध्यान में दीर्घ श्वास प्रेक्षा, समवृत्ति श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा, लेश्या ध्यान (रंग प्रेक्षा), कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा आदि के प्रयोग करवाये जाते हैं। ये सारी क्रियाएं सीधे ही हमारे ग्रन्थि तन्त्र को प्रभावित करती है। भावधाराओं को उत्पन्न करने वाली अन्त:स्त्रावी ग्रंन्थियों और हायपोथेलेमस के केन्द्रों पर रंग के साथ ध्यान करना बहुत ही प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। विज्ञान ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि रंगों का हमारी भावधाराओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ''अमेरिका इन्स्टीट्यूट ऑफ बायोलोजिकल रिसर्च'' के निदेशक एलेक्जेंडर सोस कहते हैं : ''रंग का गहरा प्रभाव पिच्यूटरी पीनियल ग्रन्थियों तथा हायपोथेलेमस पर पड़ता है। ये ही वे केन्द्र हैं जो अन्त:स्त्रावी तन्त्र का नियन्त्रण करते हैं और ग्रन्थि–तन्त्र के द्वारा भावों को पैदा करते हैं।

अणुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी एवं प्रेक्षा–प्रणेता आचार्य श्री महाप्रज्ञ के सतत् मार्गदर्शन एवं परिश्रम का ही यह परिणाम है कि आज हजारों लोग इस आध्यात्मिक साधना के मार्ग पर चल कर समस्याओं से मुक्त जीवन जीने का आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। प्रेक्षा–ध्यान–पद्धति के रूप में मानव–जाति को इन दो महान् अध्यात्म मनीषियों का अनुपम वरदान प्राप्त हुआ हैं।

अहिंसक व्यक्तित्व निर्माण कार्य–योजना में पूर्णत: आये, इस हेतु आचार्य महाप्रज्ञ ने शिक्षण जगत् को अहिंसा प्रशिक्षण का अनूठा कार्यक्रम दिया है। हिंसा–प्रशिक्षण की बात तो पूर्वविदित है ही, किन्तु अहिंसा के प्रशिक्षण की कोई चर्चा सुनने में ही नहीं आती। ऐसे में शिक्षा के साथ मूल्यों, अहिंसा आदि विषयों को सैद्धान्तिक शिक्षण के अतिरिक्त प्रायोगिक प्रशिक्षण मिलना शुभ संकेत माने जा सकते हैं। वैसे तो आन्दोलन के अन्तर्गत कई शिक्षण संस्थाएं कार्य कर रही है, किन्तु मुख्य रूप से जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) अहिंसा प्रशिक्षण का केन्द्र बन रहा है। सन् 1970 में स्थापित जैन विश्व भारती के उद्देश्यों, कार्यक्रमों एवं प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की सलाह पर भारत सरकार ने दिनांक 20 मार्च, 1991 को जैन विश्व भारती संस्थान को मान्य विश्वविद्यालय के रूप में घोषित किया। इस विश्वविद्यालय में अहिंसा और शांति–शोध का स्नातक एवं स्नात्तकोतर पाठ्यक्रम

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चल रहा है। जिसमें ''अहिंसा प्रशिक्षण'' भी सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त अहिंसा, शांति, मानवाधिकार, अहिंसा प्रशिक्षण, अहिंसा के प्रयोग, विश्व शांति आदि से सम्बन्धित शोध-कार्य किये जाते हैं। इस प्रकार यह विश्वविद्यालय अहिंसा प्रशिक्षण का केन्द्र बन रहा है। समय-समय पर शिविर के माध्यम से अहिंसा प्रशिक्षण भी दिया जाता है। विश्वविद्यालय के इन प्रयोगों/ प्रयासों का अंकन कर मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार ने जैन विश्व भारती संस्थान को नैतिक शिक्षा प्रशिक्षण के राष्ट्रीय केन्द्र के रूप में मान्यता प्रदान की। इस विश्वविद्यालय में अहिंसा शिक्षण-प्रशिक्षण आदि को मौलिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

अणुव्रत अनुशास्ता ने अहिंसा प्रशिक्षण की एक व्यावहारिक कार्यविधि के विकास की अवधारणा पर बल दिया। जहाँ कुछ विद्वान मानव परिवर्तन, संरचनात्मक परिवर्तन, व्यक्तिवादी प्रशिक्षण एवं सामूहिक प्रशिक्षण को एकल रूप में रेखांकित करते हैं, वहीं इन की अवधारणा एक समेकित प्रारूप के प्रस्तुतिकरण पर बल देती है। यहाँ अहिंसा प्रशिक्षण की चतुरायामी अवधारणा विकसित की गई है। यह मात्र व्यक्ति या मात्र समाज तक नहीं पहुँचती है, पर दोनों को एक साथ समाहित करती है। समग्रता के इन चार आयामों में हृदय परिवर्तन, दृष्टिकोण परिवर्तन, जीवन शैली परिवर्तन एवं तदनुरूप संरचनात्मक परिवर्तन (व्यवस्था परिवर्तन) सम्मिलित है।

4.9.4 अहिंसा प्रशिक्षण: हृदय परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का प्रथम आयाम है- हृदय परिवर्तन। हृदय परिवर्तन का अर्थ है- भाव परिवर्तन। भावों का उद्‌गत स्थल है- मस्तिष्क का एक भाग, लिम्बिक संस्थान। अत: इसे मस्तिष्कीय प्रशिक्षण भी कहा गया है। हृदय परिवर्तन का पहला सूत्र है- निषेधात्मक भावों के परिवर्तन का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों का उद्दीपन हमारे शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण भी होता है। अत: हृदय परिवर्तन का दूसरा सूत्र है - शारीरिक स्वास्थ्य एवं मिताहार का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों (संवेगों) के परिवर्तन के लिए निम्ननिर्दिष्ट सिद्धान्त सूत्रों का प्रशिक्षण आवश्यक है।

क्रं. सं.	हिंसा के हेतु	परिणाम
1.	लोभ	अधिकार की मनोवृत्ति
2.	भय	शस्त्र निर्माण और शस्त्र प्रयोग
3.	वैर-विरोध	प्रतिरोध की मनोवृत्ति
4.	क्रोध	कलहपूर्ण सामुदायिक जीवन
5.	अहंकार	घृणा, जातिभेद के कारण छूआछूत
6.	कूरता	शोषण, हत्या,
7.	असहिष्णुता	साम्प्रदायिक झगड़ा।

ये संवेग (निषेधात्मक भाव) व्यक्ति को हिंसक बनाते हैं। हृदय परिवर्तन का तात्पर्य है संवेगों का परिष्कार करना, इनके स्थान पर नएं संस्कार बीजों का वपन करना।

4.9.4.1 सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के सूत्र :

1.	लोभ	शरीर और पदार्थ के प्रति अमूर्च्छा भाव का प्रशिक्षण।
2.	भय का अनुदय	अभय का प्रशिक्षण (आत्मौपम्य भाव का प्रशिक्षण) शस्त्र निर्माण और शस्त्र व्यवसाय न करने की संकल्प-शक्ति का प्रशिक्षण।
3.	वैर-विरोध का अनुदय	मैत्री का प्रशिक्षण। प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति से बचने का प्रशिक्षण।
4.	क्रोध का अनुदय	क्षमा का प्रशिक्षण।
5.	अहंकार का अनुदय	विनम्रता का प्रशिक्षण, अहिंसक प्रतिरोध का प्रशिक्षण, अन्याय के प्रति असहयोग का प्रशिक्षण।
6.	क्रूरता का अनुदय	करूणा का प्रशिक्षण।
7.	असहिष्णुता का अनुदय	साम्प्रदायिक सद्‌भाव का प्रशिक्षण। भिन्न-भिन्न विचारों को सहने का प्रशिक्षण।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आधुनिक मनोविज्ञान (शरीर क्रियामनोविज्ञान) के अनुसार आचार और व्यवहार हमारे भावों (संवेगों) द्वारा नियमित होते हैं। हमारे भावों का नियमन रसायनों द्वारा होता है। ये रसायन अन्त:स्त्रावी ग्रंथि तन्त्र द्वारा स्त्रवित होते हैं। उनका संचालन लिम्बिक संस्थान (भाव संस्थान) द्वारा होता है। प्रेक्षाध्यान, अनुप्रेक्षा के प्रयोगों द्वारा इन रसायनों को प्रभावित कर संतुलित किया जा सकता है। इससे भावधारा, आचरण और व्यवहार में परिवर्तन घटित होता है।

अहिंसा के विकास के लिए निम्न निर्दिष्ट अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास आवश्यक है :

4.9.4.2 प्रायोगिक प्रशिक्षण के अभ्यास सूत्र :

1.	लोभ का अनुदय	अनासक्ति की अनुप्रेक्षा
2.	भय का अनुदय	अभय की अनुप्रेक्षा
3.	वैर-विरोध का अनुदय	मैत्री की अनुप्रेक्षा
4.	क्रोध का अनुदय	शांति की अनुप्रेक्षा
5.	अहंकार का अनुदय	मृदुता की अनुप्रेक्षा
6.	कूरता का अनुदय	करूणा की अनुप्रेक्षा
7.	असहिष्णुता का अनुदय	सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा।

भावात्मक परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग बहुत सफल रहे हैं। इस प्रयोग में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिये जाते हैं, साथ-साथ रंगों का ध्यान भी किया जाता है। ध्वनि और रंग ये दोनों चेतन एवं अचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इनसे पुराने संस्कारों और आदतों का क्षय हो जाता है। नए संस्कारों और नई आदतों के निर्माण की भूमि प्रशस्त हो जाती है। ये प्रयोग संकल्प-शक्ति, आत्म-विश्वास और आत्म-निरीक्षण की क्षमता को बढ़ाते हैं।

4.9.4.3 स्वास्थ्य और मिताहार का प्रशिक्षण :

हृदय परिवर्तन का दूसरा सूत्र है- स्वास्थ्य और मिताहार का प्रशिक्षण। शारीरिक स्वास्थ्य और अहिंसा में भी आन्तरिक संबंध है। शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में हिंसा का भाव उपजता है। आत्म-हत्या का एक हेतु है रक्त में शर्करा की कमी होना। यकृत और तिल्ली की विकृति हिंसा के भाव को जन्म देती है। हिंसा और अहिंसा से संबंध रखने वाले आहार शास्त्र और स्वास्थ्य शास्त्र का प्रशिक्षण अहिंसा के प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

आज आहार के विषय में नई-नई खोजें सामने आ रही है। उनसे अनेक भ्रांतियाँ टूटती जा रही है। आज माना जाने लगा है कि अधिक प्रोटीन खाना हानिकारक है। अण्डे और माँस का सेवन करना बीमारी को निमन्त्रण देना है। यह भोजन बीमारियों को ही नहीं, बढ़ाता, भावनात्मक स्थिति को भी बिगाड़ देता है। भावात्मक स्थितियों की गड़बड़ी में दो मुख्य तत्व है - मांसाहार और मादक वस्तुओं का सेवन।

वर्तमान में व्यक्ति में जो भावनात्मक असंतुलन है, उसका एक मुख्य घटक आहार भी है। व्यक्ति के आहार में वे पदार्थ अधिक हैं, जो भावात्मक असंतुलन पैदा करते हैं। आदमी जो भोजन करता है, उससे शरीर में अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं। भोजन के द्वारा मस्तिष्क में न्यूरोट्राँसमीटर बनते हैं, जो तन्त्रिका तन्त्र के संप्रेषक होते हैं। इनके द्वारा मस्तिष्क शरीर का संचालन करता है। वैज्ञानिकों ने अनेक न्यूरोट्राँसमीटर का पता लगा लिया है, जो भोजन से बनते हैं। जिनसे अनेक प्रकार के व्यवहार घटित होते हैं। भोजन के द्वारा एमिनो एसिड आदि अनेक प्रकार के एसिड बनते हैं। हमारी प्रवृत्ति और भोजन के द्वारा अनेक विषैले तत्व शरीर में बनते हैं। अत: इस बात को जानना होगा कि किस प्रकार का भोजन करने से क्या बनता है? जिस भोजन से विष अधिक बनता है, वैसा भोजन करने पर मानसिक समस्याएं पैदा होती है। भावनात्मक उलझनें बढ़ती हैं। इन विष-द्रव्यों को शरीर में जमा न होने देना, अहिंसा और आहार का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। अत: भाव परिवर्तन के लिए मिताहार और स्वास्थ्य का सैद्धान्तिक प्रशिक्षण आवश्यक है।

4.9.4.4 प्रायोगिक प्रशिक्षण :

केवल सैद्धान्तिक प्रशिक्षण ही नहीं, प्रायोगिक अभ्यास भी आवश्यक है। शारीरिक प्रशिक्षण के प्रायोगिक अभ्यास के अन्तर्गत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

योगासन और प्राणायाम का अभ्यास अहिंसा प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। योगासन और प्राणायाम एक बहुत पुरानी विद्या है। हठयोग में आसनों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन परम्परा में भी उसका बड़ा महत्त्व रहा है। आसन और प्राणायाम केवल स्वाध्याय के लिए ही नहीं किये जाते केवल माँसपेशियों को स्वस्थ्य बनाने के लिए ही नहीं किये जाते, उनका और ज्यादा प्रभाव है। उनसे मांसपेशियाँ सक्रिय और स्वस्थ बनती है रक्त का अभिसरण सम्यक् प्रकार से होता है। शारीरिक क्रियाएं स्वस्थ बनती है। इतना ही नहीं, उनके द्वारा नाड़ी तन्त्र भी प्रभावित होता है। उनके द्वारा भावनाओं पर नियंत्रण किया जा सकता है।

योगासन के द्वारा रसायनों में संतुलन स्थापित किया जा सकता है। कुछ वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके देखा है कि सन्तुलन स्थापित करने में यह बहुत उपयोगी है। जब आदमी के रक्त में, मस्तिष्क में, मूत्र में एमिनो एसिड की मात्रा बढ़ जाती है तो आदमी हिंसक बन जाता है, क्रूर बन जाता है इसकी मात्रा में सन्तुलन स्थापित करना योगासन के द्वारा सम्भव है। आसनों के द्वारा वैसा किया जा सकता है और आदमी सन्तुलित हो जाता है।

हिंसा का संबंध अम्लों से, नाड़ी तन्त्र से और ग्रन्थि तन्त्र इन सबसे है। हिंसा पर नियन्त्रण करने में आसनों की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ये हमारे अम्लों को नाड़ी तन्त्र को और ग्रन्थि तन्त्र को सन्तुलित बनाते हैं। आसन शरीर में एकत्रित होने वाले विजातीय तत्वों को भी बाहर करते हैं। शरीर में जो विष जमा होते हैं, उन्हें निकालने का एक उपाय है– उपवास, तो दूसरा उपाय है– योगासन। पद्मासन, शशांकासन, योगमुद्रा, वज्रासन, सर्वांगासन, मत्स्यासन, गोदोहिकासन आदि ग्रन्थि तन्त्र और नाड़ी तन्त्र को प्रभावित करते हैं। इनके द्वारा हिंसा के शारीरिक उपादान क्षीण होते हैं। अनुलोम–विलोम, चन्द्रभेदी, नाड़ी शोधन, उज्जाई और शीतली प्राणायाम शरीर में उपस्थित हिंसा के बीजों का विरेचन करते हैं।

4.9.5 अहिंसा प्रशिक्षण : दृष्टिकोण परिवर्तन :

अहिंसा प्रशिक्षण का द्वितीय आयाम है– दृष्टिकोण परिवर्तन। गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणााएं, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह पनपते हैं। मिथ्या धारणाएं, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह हिंसा के मुख्य कारणों में से हैं मनुष्य की अनेक मिथ्या धारणाएं बन गई है। यह मान लिया गया है कि मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, किन्तु जिस दृष्टि से कहा गया उस दृष्टि से ग्रहण नहीं किया गया। विकास की दृष्टि से यह कहा जा सकता है– प्राणी जगत् में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। इसका उपयोग इस रूप से कर लिया गया– मनुष्य सृष्टि का स्वामी है। जितने पदार्थ है, सब मनुष्य के लिए हैं, क्योंकि वह सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य भोक्ता है शेष सब भोग्य है, इसी दृष्टिकोण ने पर्यावरण को प्रदूषित कर दिया। नियंता, कर्ता और भोक्ता तीनों ही मनुष्य बन गया। उसका पदार्थ एवं प्राण जगत के प्रति दृष्टिकोण गलत हो गया। जितने प्राणी है, उन सब पर मनुष्य का अधिकार है। वह उनका दोहन कर सकता है। उनका आरोपण तथा आहार कर सकता है। प्रसाधन के लिए जीवित प्राणियों के अवयवों एवं चमड़े का उपयोग कर सकता है। इस सारी क्रूरता का मूल–स्त्रोत यही अवधारणा है कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। इस धारणा ने मनुष्य को क्रूर एवं हत्यारा बनाया है।

बहुत से लोग निरपेक्ष चिन्तन करते हैं, जबकि सापेक्ष चिन्तन सामाजिक संबंधों की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। निरपेक्ष चिन्तन का स्वरूप है– मैंने पीया, मेरे बैल ने पीया, अब चाहे कुआं ढ़ह पड़े। सापेक्ष चिन्तन का स्वरूप है– मैंने रोटी खाई है, मेरा पड़ोसी भूखा है तो इसका परिणाम मेरे लिए इच्छा नहीं होगा। वह चोर डाकू या लूटेरा बनेगा और मुझ पर भी आक्रमण करेगा। यह सापेक्ष चिन्तन होता है तो फिर स्वार्थ की सीमा निश्चित हो जाती है। मानवीय संबंधों में जो कटुता दिखाई दे रही है, उसका हेतु निरपेक्ष दृष्टिकोण है। संकीर्ण राष्ट्रवाद और युद्ध भी निरपेक्ष दृष्टिकोण के परिणाम हैं। सापेक्षता के आधार पर संबंध विज्ञान को व्यापक आयाम दिया जा सकता है। मनुष्य, पदार्थ, वृत्ति, विचार और शरीर के साथ संबंध का विवेक करना अहिंसा के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। मनुष्यों के प्रति क्रूरतापूर्ण, पदार्थ के प्रति आसक्तिपूर्ण, विचारों के साथ आग्रहपूर्ण, वृत्तियों के साथ असंयत, शरीर के साथ मूर्च्छापूर्ण संबंध है तो हिंसा अवश्य भावी है। आग्रहयुक्त मनोवृत्ति साम्प्रदायिक उत्तेजना के लिए उत्तरदायी है। एक साम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय द्वारा सम्मत सत्यांश को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। कोई भी विचार समग्र सत्य नहीं होता। वह सत्यांश होता है। अपने विचार को सत्य ही मानना और दूसरे के विचार को असत्य ही मानना एकांगी आग्रह है। यह एकांगी आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य की खोज का मार्ग है अनाग्रह। अनाग्रही मनुष्य दो भिन्न विचारों में समन्वय साध सकता है। हिंसा को केवल शस्त्रीकरण और युद्ध तक सीमित नहीं किया जा सकता। पारिवारिक कलह, मानवीय संबंधों में कटुता, जातीय संघर्ष, साम्प्रदायिक संघर्ष, क्षेत्रीय संघर्ष, सहानवस्थान या तुम या हम की मनोवृत्ति ये सब हिंसा के प्रारंभिक रूप है और ये ही मानव जाति को शस्त्रीकरण और युद्ध की दिशा में ले जाते हैं। मिथ्या अवधारणाएं, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह समाज को क्रूरता की रेखा तक ले जाता है। हिंसा के द्वार खुल जाते हैं। इनको कम करने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के लिए अनेकान्त का प्रशिक्षण आवश्यक है। अनेकान्त का प्रशिक्षण मिथ्याधारणा, निरपेक्ष चिन्तन और आग्रह से मुक्त होने का प्रयोग है। परिवर्तन केवल जानने से नहीं होता। इसके लिए दीर्घकालीन अभ्यास अपेक्षित है। सर्वांगीण दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए निम्न निर्दिष्ट अनेकान्त के सिद्धान्त और प्रायोगिक अभ्यास-अनुप्रेक्षाओं का प्रशिक्षण आवश्यक है-

क्र. सं.	सिद्धान्त	प्रयोग
1.	सप्रतिपक्ष	सामंजस्य की अनुप्रेक्षा
2.	सह-अस्तित्व	सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा
3.	स्वतन्त्रता	स्वतन्त्रता की अनुप्रेक्षा
4.	सापेक्षता	सापेक्षता की अनुप्रेक्षा
5.	समन्वय	समन्वय की अनुप्रेक्षा

4.9.6 अहिंसा प्रशिक्षण: जीवन शैली परिवर्तन :

अहिंसा प्रशिक्षण का तीसरा आयाम है- जीवन शैली का परिवर्तन। आज की दुनियां में यह मान्यय हो चुका है कि अहिंसा को विकसित किये बिना विश्व-शांति कभी नहीं हो सकती, अत: बहुत सारे व्यक्ति अहिंसक बनना भी चाहते हैं, पर वे जीवन क्रम, जीवन-शैली को बदलते नहीं, अत: अहिंसक बन नहीं पाते। हिंसा की कमी परिग्रह की कमी पर निर्भर है और परिग्रह की कमी भोग की कमी पर। जो हिंसा विरति या अहिंसा का विकास चाहते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए कि हिंसा के कारणों को त्यागे बिना हिंसा को त्यागने का परिणाम दम्भ होगा, अहिंसा नहीं।

जीवन-शैली परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं- सुविधावादी जीवन-शैली में परिवर्तन। समाज सुविधा छोड़ नहीं सकता, किन्तु वह असीम न हो- यह विवेक आवश्यक है। यदि सुविधाओं का विस्तार निरन्तर जारी रहे, आडम्बर और विलासपूर्ण जीवन चलता रहा तो अहिंसा का स्वप्न यथार्थ में परिणत नहीं होगा। इच्छाओं की वृद्धि से हिंसा को पल्लवन मिला है। जब तक इच्छा का संयम नहीं होगा, जीवन-शैली में संयम को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी तब तक अहिंसा की बात का सार्थक परिणाम नहीं आ सकेगा। अणुव्रत का यह उद्घोष है- संयम: खलु जीवनम्-संयम् ही जीवन है। संयम रखेंगे तो जीवन चलेगा। यदि असंयम बढ़ता गया तो एक आदमी की ही नहीं, पूरी सृष्टि की हिंसा का प्रसंग आ सकता है।

जीवन-शैली का अनिवार्य अंग होना चाहिए- श्रम की प्रतिष्ठा। आज श्रम के प्रति हीन भावना पैदा हो गई है। एक मिथ्या धारणा बन गई- श्रम करने वाला छोटा होता है और श्रम न करने वाला बड़ा होता है। इस दृष्टिकोण से श्रम की व्यवस्था और महत्त्व को भुला दिया। हम इस सच्चाई को भुला रहे हैं कि दुनियाँ में जितने भी महान् आदमी हुए हैं, वे प्राय: श्रमिक हुए हैं। परिश्रमी हुए हैं। श्रम निष्ठा और स्वावलम्बन का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति की जीवन शैली का मुख्य अंग होना चाहिए। बिना श्रम किये पैसा पाने की मनोवृत्ति इस मनोवृत्ति ने अपराध को एक नया आयाम दिया है। अपराध और हिंसा को बढ़ाने में एक बड़ा निमित्त है- मादक द्रव्यों का सेवन। अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक है-जीवन शैली व्यसन से मुक्त हो।

जीवन-शैली परिवर्तन के लिए संयम्, स्वावलम्बन और व्यसन मुक्त जीवन का सैद्धान्तिक प्रशिक्षण अपेक्षित है। अणुव्रत की समग्र और वर्गीय आचार-संहिता की व जीवन में स्वीकृति जीवन शैली परिवर्तन का बहुत बड़ा आलम्बन है। इसके साथ-साथ निम्नलिखित प्रायोगिक अभ्यास अहिंसा प्रशिक्षण में समाविष्ट है।

1. अहिंसा की अनुप्रेक्षा
2. सत्य-अचौर्य की अनुप्रेक्षा
3. ब्रह्मचर्य की अनुप्रेक्षा
4. इच्छा-परिमाण / अपरिग्रह की अनुप्रेक्षा
5. स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा
6. व्यसन-मुक्ति के प्रयोग।

4.9.7 अहिंसा प्रशिक्षण : व्यवस्था परिवर्तन :

अहिंसा प्रशिक्षण का चतुर्थ आयाम है- व्यवस्था परिवर्तन। व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण के साथ-साथ व्यवस्था परिवर्तन भी आवश्यक है। व्यवस्थाओं के मुख्य तीन पहलु हैं- आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था तथा राजनैतिक व्यवस्था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.9.7.1 आर्थिक व्यवस्था :

आचार्य श्री महाप्रज्ञ अहिंसा प्रशिक्षण के आर्थिक व्यवस्था के प्रतिदर्श की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–''अर्थ की प्रकृति में ही हिंसा है। अत: अर्थशास्त्र एवं आर्थिक व्यवस्था को पूर्णत: अहिंसक नहीं बनाया जा सकता, परन्तु इससे अपराध, क्रूरता हिंसा, शोषण और विलासिता को अवश्य समाप्त किया जा सकता है।

वर्तमान पूंजीवाद और समाजवादी मानदण्डों का एक मात्र आधार भौतिकवाद है, जहाँ साधन–शुद्धि का विचार समाप्त हो जाता है। विकास की वर्तमान अवधारणा में अधिकतम आवश्यकता, अधितम उत्पादन और अधिकतम उपभोग को विकास माना जाता है। इसका मानव–कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यसन, थकान, तनाव, मनोरंजन के साधनों की आवश्यकता, यांत्रिक जीवन, मद्यपान, अपराध, जेल, पागलखाना, दवाखाना इत्यादि की बेतहाशा वृद्धि विकास की मात्र भौतिक अवधारणा की निष्पत्ति है। विकास की मात्र भौतिक अवधारणा और व्यवस्था का विकल्प अहिंसक व्यवस्था से ही संभव है। अहिंसक व्यवस्था में साधन–शुद्धि, व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा, उपभोग की सीमा, अर्जन के साथ विसर्जन तथा विलासिकता की सामग्री के उत्पादन और आयात पर रोक की व्यवस्था को ईमानदारी के साथ व्यक्ति तथा सरकार दोनों को पालन करना होगा। इसके साथ–साथ अहिंसक तकनीक की खोज, अहिंसक वर्ग–संघर्ष, सहकार का अर्थशास्त्र, स्वदेशी की आवश्यक स्थान दिया जाये। अहिंसक अर्थव्यवस्था में किसका उत्पादन हो और किसका नहीं हो? मानव की प्राथमिकता के आधार पर आवश्यकताएं हैं–रोटी, पानी, वस्त्र, मकान, अलंकार, परिवार और सन्तान। अहिंसक समाज में अनिवार्य आवश्यकता की सामग्रियों का उत्पादन ही मान्य हो सकता है और अनावश्यक पदार्थों जैसे मादक पदार्थ, श्रृंगार की सामग्री जिसका उत्पादन क्रूरता के सहारे होता है– का उत्पादन मान्य नहीं हो सकता।

आज उपभोग एक जटिल समस्या है। कुछ व्यक्तियों के पास उपभोग की असीम संभावना है और कुछ व्यक्तियों के पास कुछ भी नहीं है। परन्तु यह दोनों अतिवाद स्वस्थ समाज के लिए हितकर नहीं, हानिकर है। आज प्रत्येक व्यक्ति को सीमित उपभोग की दिशा में विचार करना चाहिए। संसार के विविध पदार्थ सीमित है उपभोग की आकांक्षाएं अनंत है यदि हम स्वेच्छा से संयम पूर्वक उपभोग को सीमित नहीं करते हैं तो वह दिन दूर नहीं है कि हमें संसाधनों को खत्म होते देखेंगे। अत: केवल चाहिए से काम नहीं चलेगा। एक ठोस और कारगर समाज–व्यवस्था द्वारा इसका नियंत्रण भी साथ–साथ चलना चाहिए।

4.9.7.2 सामाजिक व्यवस्था :

आर्थिक व्यवस्था के निदान के अन्दर ही अहिंसक समाज व्यवस्था का स्वरूप छिपा होता है। जिस समाज में आर्थिक शोषण होता है, वह समाज अहिंसक नहीं है। अहिंसक समाज का आधार अशोषण है। अशोषण के लिए श्रम तथा स्वावलम्बन की चेतना और व्यवस्था का विकास, व्यवसाय में प्रामाणिकता तथा क्रूरता का वर्जन अनिवार्य है।

समाज में अनेक प्रकार की हिंसा होती है। अहिंसक समाज व्यवस्था में कुछ विशेष प्रकार की हिंसा का सर्वथा वर्जन होना अपेक्षित है, उदाहरणार्थ, आक्रामक हिंसा, निरपराध व्यक्तियों की हत्या, भ्रूण हत्या, जातीय–घृणा, छूआ–छूत आदि का व्यवस्थागत निषेध हो। इनको महिमा मंडित करने वाले पत्र व मिडिया पर भी नियंत्रण हो। साम्प्रदायिक अभिनिवेश, मादक वस्त्रुओं का सेवन तथा प्रत्यक्ष हिंसा को जन्म देने वाली रूढ़ियों और कुरीतियों का वर्जन आवश्यक है।

अहिंसक समाज व्यवस्था का मौलिक आधार क्या हो? आज का समाज शास्त्र विशेष कर डार्विन के ''अस्तित्व के लिए संघर्ष'', ''योग्यता की विजय'' और कार्ल मार्क्स के ''वर्ग संघर्ष एवं प्रतिद्विन्द्वतावाद'' पर आधारित है, जो सामाजिक हिंसा की वृद्धि का कारण है। अत: वह सिद्धान्त क्या हो? जिससे अहिंसा की संस्कृति का विकास हो सके। आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अहिंसक समाज व्यवस्था के लिए आचार्य उमास्वाति का ''परस्परोग्रहो जीवानाम्'' को सर्वश्रेष्ठ माना। इससे अनेकांत, सापेक्षता, सौहार्द, साम्प्रदायिक सद्‌भाव, सहिष्णुता और सह–अस्तित्व की भावनाओं का विकास हो सकता है और एक शांति पूर्ण समाज व्यवस्था की स्थापना हो सकती है। नई समाज व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसी चिकित्सा पद्धति का भी विकास करना चाहिए जिसमें रोगों का उपचार आयुर्वेद, आसन, प्राणायाम, ध्यान और व्यायाम से हो। आहार को निरामिष बनानाा नैतिक ही नहीं, किन्तु आर्थिक और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयोगी है।

4.9.7.3 राजनैतिक व्यवस्था :

अहिंसक राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप क्या हो? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने कहा–अच्छी राजनीति या

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसा की राजनीति वह है, जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता। जहाँ व्यक्ति और राष्ट्र का संबंध मात्र यान्त्रिक नहीं होता, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का मूल्यांकन किया जाता है। व्यक्ति का राष्ट्र के साथ संबंध होता है वहाँ व्यक्ति जहां की स्वतन्त्रता आत्मानुशासित और अक्षुण्ण होती है। ऐसी स्वतन्त्रता सचमुच व्यक्तिगत विशेषताओं का संरक्षण है जो राष्ट्र की समृद्धि की आवश्यक शर्त है। अहिंसक राजनीति की दूसरी विशेषता है व्यक्तित्व निर्माण की दिशा में ठोस कार्यक्रम लागू करना। केवल हिंसा की रोकथाम करना और विधि व्यवस्था कायम रखना राजनीति का काम नहीं है। अच्छी राजनीति का लक्ष्य है–व्यक्ति का हित और मानव–कल्याण।

दलगत राजनीति हिंसा का एक कारण है। यह पक्षपात और पूर्वाग्रह को जन्म देती है। राजनीति की व्यवस्था में अहिंसा का आदर्श होना चाहिए। व्यवस्था में अहिंसा अंतर्भूत रहे। ऐसी व्यवस्था का निर्माण हो कि सबको आजीविका रोटी तथा विकास का साधन उपलब्ध हो। कहीं भी हिंसा को प्रोत्साहन न मिले। हमारी विकास की योजना ऐसी हो गरीबों की रेखा से जो लोग नीचे हैं, वही से हमारा विकास का कार्यक्रम चले यानि अन्त्योदय से हम सर्वोदय की ओर बढ़े, तथा विकेन्द्रीकरण की नीति को अपनायें।

हमारी शासन प्रणाली उभयविधि हो। नीचे ग्राम से पंचायती राज का विकास हो और ऊपर केन्द्र की सरकार बड़े–बड़े कार्यों को करने के लिए रहे। राजनेताओं का राजनैतिक प्रशिक्षण तथा जनतंत्र में अहिंसा का प्रशिक्षण आवश्यक है। वर्तमान राजनीति में राजनीति के प्रशिक्षण के लिए कोई स्थान नहीं है। परिणाम स्वरूप गुणवत्ता के स्थान पर सिर्फ दक्षता इसका आधार रह गया है। किसी भी जनतांत्रिक व्यवस्था के लिए अहिंसक जीवन पद्धति अपनाना अनिवार्य है। वर्तमान चुनाव पद्धति में जातिवाद, सम्प्रदायवाद जैसे अनेक हिंसक व्यापार जुड़े हुए हैं। इसे अहिंसक बनाने के लिए अणुव्रत नीति का पालन होना चाहिए। लोकतंत्र और अहिंसा तथा अणुव्रत जैसे विषयों पर शोध होना चाहिए। अहिंसक राजनीति के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, जिससे शासक निरंकुश न हो और एक व्यक्ति के अहं को मौका न मिले।

व्यवस्था परिवर्तन के लिए संगठनात्मक प्रशिक्षण भी आवश्यक है, जिससे अनुसंधान, योजना, कार्य के लिए तैयार होना, प्रचार, कार्य का प्रारंभ, नेतृत्व आदि संगठन के विभिन्न पहलुओं के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक है। एक सर्वोच्च संसद का निर्माण अति–आवश्यक है, जो समाज की नियामक और निर्णायक नहीं, बल्कि निदेशक हो। ऐसी संसद में धर्मगुरू, वैज्ञानिक, दार्शनिक, पत्रकार जैसे तटस्थ और निष्पक्ष लोग रहें। इनके निर्देश नियम से भी अधिक प्रभावशाली होंगे और इससे अहिंसक समाज के निर्माण में सहयोग मिलेगा।

4.9.8 अहिंसा प्रशिक्षण : प्रयोगभूमि

यह अहिंसा प्रशिक्षण की पद्धति व्यक्तिगत पद्धति है। वास्तव में अहिंसा का प्रशिक्षण व्यक्ति के स्तर पर ही होता है। समाज के स्तर पर उसका प्रयोग होता है। यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है कि अहिंसा के प्रशिक्षण की आधार–भूमि है व्यक्ति और प्रयोग भूमि है समाज। हिंसा के लिए भी यही कहा जा सकता है– हिंसा की आधार–भूमि है व्यक्ति और प्रयोग भूमि है समाज। अहिंसक समाज रचना का महत्त्वपूर्ण घटक है– व्यक्ति–रचना। अत: प्रशिक्षण का पहला चरण होगा– अहिंसा–निष्ठा व्यक्ति का निर्माण। उसकी प्रयोग भूमियां चार है– 1. पारिवारिक जीवन, 2. सामाजिक जीवन, 3. राष्ट्रीय जीवन, 4. अन्तर्राष्ट्रीय जीवन।

4.9.9 पारिवारिक जीवन और अहिंसा

एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध और व्यवस्था का तात्पर्य है समाज। मानवीय सम्बन्ध और निश्छल व्यवहार का प्रशिक्षण सामाजिक स्तर पर अहिंसा का प्रशिक्षण है। इसकी पहली प्रयोग भूमि है परिवार। हिंसा की सीमा को मात्र युद्ध और आतंकवाद तक सीमित करना पर्याप्त नहीं है। युद्ध कभी–कभी और किसी–किसी भू–भाग में होने वाली घटना है। पारिवारिक जीवन में हिंसा की घटनाएं प्रतिदिन या बहुत बार होती रहती है। वे मानसिक शांति में बाधा डालती है, व्यापक हिंसा की पृष्ठभूमि तैयार करती है। पारिवारिक जीवन में शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व का होना अहिंसा के प्रयोग का महत्वपूर्ण कार्य होगा। असहिष्णुता और महत्त्वाकांक्षा पारिवारिक जीवन में अशांति का विष घोलती हैं। सहिष्णुता और संयम का आरम्भ, महत्त्वाकांक्षा का परिसीमन–ये प्रयोग पारिवारिक जीवन में होने वाली हिंसा का वातावरण बदल देते हैं।

पारिवारिक अहिंसा का एक महत्त्वपूर्ण घटक है–सामंजस्य। भिन्न विचारों, भिन्न रूचियों में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। इस कार्य हेतु अनेकांत में स्वतन्त्रता मान्य है, किन्तु सापेक्षता को छोड़कर, स्वतन्त्रता मान्य नहीं। सह–अस्तित्व मान्य है, किन्तु अन्याय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की प्रतिकारात्मक शक्ति को छोड़कर सह-अस्तित्व मान्य नहीं। समानता मान्य है किन्तु क्षमतात्मक असमानता छोड़कर समानताा मान्य नहीं। शक्ति का आधार-स्तम्भ इतना कमजोर न हो कि भिन्नता के एक झोंके से चरमरा जाए। अनेकान्त में भिन्नता असामान्य बात नहीं है। शर्त इतनी है कि उसका एक छोर अभिन्नता होनी चाहिए। अभिन्नता और भिन्नता के संगम की चेतना को जगाना परिवार में अहिंसा के प्रयोग की दिशा में एक नया कदम है।

4.9.10 सामाजिक जीवन और अहिंसा

सामाजिक जीवन में हिंसा के मजबूत आधार बने हुए हैं। उन्हें बहुत लम्बे समय से मान्यता मिली हुई है। जातिवाद, रंगभेद, गरीबी, क्षेत्रवाद- इन पूर्वाग्रहों से ग्रस्त समाज समय-समय पर हिंसा की आग में ईंधन डालता रहा है। जातिवाद और रंगभेद के दंश से छुटकारा पाने के लिए मानवीय एकता की अनुभूति का प्रयोग अत्यंत अपेक्षित है। गरीबी की समस्या जटिल है। जटिलता का एक पहलू है- उपभोग की सामग्री कम है, उपभोक्ता अधिक है। संविभाग या बांट-बांट कर खाने की मनोवृत्ति का अभाव है। व्यक्तिगत सुविधा और संग्रह की भावना प्रबल है। इस समस्या का सुलझाने के लिए समाज में संविभाग का प्रयोग बहुत आवश्यक है।

4.9.11 अन्तर्राष्ट्रीय जीवन और अहिंसा :

राष्ट्र की भौगोलिक इकाई की उपयोगिकता को मान्य करते हुए भी विश्व की मौलिक एकता का मूल्य कम नहीं होना चाहिए। अहं और महत्त्वाकांक्षा का टकराव विश्व को एक सूत्र में बंधने से रोकता है। मनुष्य की चेतना इतनी विकसित भी नहीं है कि वह सबके साथ संतुलित व्यवहार कर सके। यह स्थिति भी भौगोलिक और प्रादेशिक सीमाओं के अस्तित्व को बनाये रखने में निमित्त बन रही है। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में अहिंसा के प्रयोग के लिए भौगोलिक सीमाओं की समाप्ति अनिवार्य शर्त नहीं है। उसकी अनिवार्य शर्त यह है कि भौगोलिक सीमाओं के अस्तित्व के साथ मानवीय एकता का धागा टूटे नहीं। प्रत्येक मनुष्य मानसिक और क्षेत्रीय सीमाओं में विभक्त है। अहिंसा के लिए अविभक्त या अखण्ड व्यक्तित्व की अपेक्षा है इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए प्रशिक्षण को बहु आयामी रखना होगा। व्यक्ति को छोड़कर केवल अहिंसक समाज रचना की बात सोचना एक बहुत बड़ी भ्रांति है। अहिंसक समाज रचना की बात को छोड़कर केवल व्यक्ति को अहिंसक बनाने की बात सोचना भी भ्रम से परे नहीं है। व्यक्ति का निर्माण समाज सापेक्ष और समाज का निर्माण व्यक्ति-सापेक्ष होता है। इन दोनों सच्चाइयों को ध्यान में रखकर अहिंसा प्रशिक्षण की बात को आगे बढ़ाया जा सकता है।

4.9.12 अहिंसा प्रशिक्षण और शिक्षा जगत् :

अहिंसा प्रशिक्षण को व्यापक बनाने के लिए उसे शिक्षा के साथ जोड़ना आवश्यक है। सामाजिक स्वास्थ्य, वैयक्तिक स्वास्थ्य और मानसिक शांति के लिए अहिंसा का प्रशिक्षण सर्वाधिक आवश्यक है। शिक्षा में इसकी उपेक्ष क्यों की गई? हमें इसका उत्तर नहीं मिल रहा है। हिंसा और परिग्रह के प्रति जनता का दृष्टिकोण बदले, ऐसा प्रशिक्षण शिक्षा के साथ चले। वर्तमान में शिक्षा केवल व्यवसाय, शिल्प, यांत्रिक विकास और शारीरिक स्वास्थ्य के साथ जुड़ी हुई है। उसका मार्ग बदलना आवश्यक है। उसका प्रवाह केवल जीविका की ओर है, वह जीवन की ओर भी मुड़े। आर्थिक स्पर्धा और सुविधावादी दृष्टिकोण ने गहरी जड़ें जमा ली है। उनका उन्मूलन करना सम्भव नहीं है। पर चेतना की उर्वरा भूमि में यदि हिंसा और परिग्रह के अल्पीकरण एवं सीमा के बीज बोए जाएं, संस्कार डाले जाएं तो एक स्वस्थ विकल्प बन सकता है। यह शिक्षा जगत् के माध्यम से ही सम्भव है। अहिंसक चेतना को जागृत करने के दो क्षेत्र है- धर्म का क्षेत्र और शिक्षा का क्षेत्र। इन दोनों क्षेत्रों से विद्यार्थी में संस्कार आ सकते हैं। आज धर्म के क्षेत्र में अध्यात्म और अहिंसा के स्थान पर उपासना की पद्धति पहले स्थान पर बैठी है। शिक्षा के क्षेत्र में यदि अभ्यास क्रम से विद्यार्थी को कुछ मिल जाए तो कुछ समाधान हो सकता है।

बचपन से ही अहिंसा की आस्था उत्पन्न की जाए। इसके विपरीत यदि हिंसा की आस्था उत्पन्न हो जाती है, यह धारणा बन जाती है कि हिंसा के बिना काम नहीं चलता, फिर बदलना बहुत जटिल हो जाता है। बचपन से ये संस्कार इतने प्रभावी होते हैं कि बाद में आने वाले संस्कार उसके सामने टिक नहीं पाते। यदि सलक्ष्य बचपन से अहिंसा के संस्कार व अभिलषित आदत का निर्माण हो सके तो आगे चलकर अहिंसक व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव हो सकता है। शिक्षा के साथ इसकी बहुत संगति भी बैठती है। लोकतंत्र को इसकी बहुत अपेक्षा है। यदि ऐसा हो सका तो मानवता का भविष्य उज्जवल हो सकेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपर्युक्त परिचर्चा को प्रशिक्षण के सन्दर्भ में निम्न तालिका में प्रस्तुत किया जा सकता है –

अहिंसा प्रशिक्षण : आधार-भूमि

प्रशिक्षण के आयाम	सैद्धान्तिक हिंसा के हेतु	सैद्धान्तिक परिणाम	सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के सूत्र	प्रायोगिक प्रशिक्षण के प्रयोग
1. हृदय परिवर्तन	क. सांवेगिक			
	1. लोभ	अधिकार की मनोवृत्ति	लोभ का अनुदय, शरीर और पदार्थ के प्रति अमूर्च्छा भाव का प्रशिक्षण	अनासक्ति की अनुप्रेक्षा
	2. भय	शस्त्र निर्माण शस्त्र प्राप्ति और प्रयोग	अभय शस्त्र निर्माण व व्यवसाय न करने का संकल्प	अभय की अनुप्रेक्षा
	3. क्रोध	कलहपूर्ण सामु-दायिक जीवन	क्षमा	प्रशिक्षण शांति की अनुप्रेक्षा
	4. वैर-विरोध	प्रतिशोध की मनोवृत्ति	मैत्री का प्रशिक्षण	मैत्री की अनुप्रेक्षा
	5. अहंकार	घृणा, जाति-भेद के कारण छूआ-छूत रंग भेद जनित विद्वेष	विनम्रता अहिंसक प्रतिरोध, अन्याय के प्रति असहयोग का प्रशिक्षण	मृदुता की अनुप्रेक्षा
	6. क्रूरता	शोषण, हत्या	क्रूरता का अनुदय	करूणा की अनुप्रेक्षा
	7. असहिष्णुता	साम्प्रदायिक तनाव, झगड़े	साम्प्रदायिक सद्भाव, भिन्न-भिन्न विचारों को सहने का प्रशिक्षण	साम्प्रदायिक सद्भाव और सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा
	8. भावनात्मक असंतुलन		भावनात्मक संतुलन का प्रशिक्षण	कायोत्सर्ग, समवृत्ति श्वास, आनन्द (हरा) विशुद्धि दर्शन, ज्योति (सफेद) केन्द्र प्रेक्षा, मिताहार, आहार-संयम्, योगासन प्राणायाम आदि
2. दृष्टिकोण परिवर्तन	मिथ्या दृष्टिकोण	मिथ्या धारणाएं आग्रहपूर्ण-मनोवृत्ति दूसरों के विचारों की मूल्य न देने की मनोवृत्ति	अनेकांत का प्रशिक्षण सत्यान्वेषी दृष्टि दूसरों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न, सह-अस्तित्व, स्वतन्त्रता, सापेक्षता, समन्वयका प्रशिक्षण	सामंजस्य सह-अस्तित्व स्वतन्त्रता सापेक्षता समन्वय की अनुप्रेक्षा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. जीवन शैली परिवर्तन	निरपेक्ष व्यवहार सुविधावादिता, श्रम-निष्ठा का अभाव व्यसन	सामुदायिक जीवन में परस्पर असहयोग की मनोवृत्ति विलासिता, आडम्बर, अपराध।	सापेक्ष व्यवहार, अणुव्रत स्वावलम्बन, संयममय जीवन एवं समन्वय का प्रशिक्षण	अणुव्रत की अनुप्रेक्षाएं, श्रम एवं स्वावलंबन की अनुप्रेक्षा, व्यसन-मुक्ति प्रयोग
4. व्यवस्था परिवर्तन (अ)	आर्थिक मात्र भौतिक अवधारणा, अधिकतम आवश्यकता एवं उपभोग	यांत्रिक जीवन थकान, तनाव मद्यपान, विलासिता, अपराध, शोषण, बेरोजगारी दरिद्रता, विषमता में अत्यधिक वृद्धि	अर्थार्जन में प्रामाणिकता की असंग्रह, अशोषण श्रम संविभाग उपभोग की सीमा विसर्जन विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था,	मानवीय एकता की अनुप्रेक्षा स्वावलंम्बन, रोजगार, विसर्जन, सामाजिक सेवा, व्यसनमुक्ति ग्रामीण उद्योग, स्वास्थ्य शिक्षा प्रौढ़ शिक्षा, व्यक्तित्व निर्माण, अहिंसक चिकित्सापद्धति की दिशा में ठोस कार्यक्रम
(ब)	सामाजिक, शोषण आक्रामक हिंसा की वृत्ति, निरपराध हत्या की मनोवृत्ति, भ्रूण हत्या की वृत्ति, जातीय घृणा, छूआछूत, मिडिया का भ्रष्टाचार, कुरूढ़ियाँ, कुरीतियाँ आदि	अभाव, हीनभाव, कुण्ठा, संत्रास् पीड़ा, आक्रोश	स्वजन एवं नौकरों से स्नेहपूर्ण व्यवहार, सहयोग की भावना, मानवीय एकता की अनुभूति	
(स)	राजनैतिक : व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन, दलगत राजनीति सैद्धान्तिक आतंकवाद व्यावसायिक आतंकवाद	आक्रोश, पक्षपात पूर्वाग्रह, अतिभाव उन्माद, उच्छृंखलता मूढ़ता, कुतूहल विलासिता	राजनीति में शुद्ध साधनों का प्रयोग लोकतन्त्र का प्रशिक्षण	

अहिंसा प्रशिक्षण: प्रयोगभूमि

प्रयोग स्तर	हिंसा के कारण	प्रशिक्षण विषय	प्रशिक्षण विधियाँ
1. पारिवारिक स्तर	असहिष्णुता, असंयम, महत्त्वाकांक्षा असंविभाग, उदंडता, अविनय ममकार,	सामंजस्य जीवन शैली-परिवतर्न समविभाग, वात्सल्य, विनय, अनाशक्ति	अनेकान्त-स्वतन्त्रता, समता सहअस्तित्व सापेक्षता की अनुप्रेक्षा जीवन शैली का प्रशिक्षण पारिवारिक आचार-संहिता
2. सामाजिक स्तर	जातिभेद, वर्गभेद, रंग भेद, लिंग भेद, क्षेत्रभेद एवं धर्मभेद-सांप्रदायिक कट्टरता।	मानवीयय एकता संवेदनशीलता संविभाग, परस्परता, अहिंसक प्रतिकार, सहनशीलता	संबंधित संस्थाओ और शक्तियों से सम्पर्क अनासक्ति, मैत्री, सह-अस्तित्व आदि अनुप्रेक्षाएं अन्यायय के साथ असहयोग, कष्ट सहिष्णुता का प्रशिक्षण स्वाध्याय एवं ध्यान।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. राष्ट्रीय स्तर	देश के अन्दर जाति वर्ग, रंग, लिंग भेद के कारण हिंसक संघर्ष देश के विभिन्न क्षेत्रों में स्वायत्ता के लिए हिंसक संघर्ष	अन्याय का अहिंसक प्रतिकार अहिंसक संघर्ष	संस्थाओं से सम्पर्क अहिंसक प्रतिकार हेतु तैयार करना, अनुप्रेक्षा आदि में रूचि जागृत करना।
	अत्यन्त भोग वृत्ति और कारखानों के कारण प्रदूषण।	उच्च-स्तरीय आर्थिक विकास की जगह संयमित आर्थिक स्तर	संयमित आर्थिक स्तर की अवधारणा को विकसित करना।
	अत्यन्त भोग वृत्ति और कारखानों के कारण प्रदूषण	उच्च स्तरीय आर्थिक विकास की जगह संयमित आर्थिक स्तर	संयमित आर्थिक स्तर की अवधारणा को विकसित करना।
	अत्यधिक आर्थिक विषमता	आर्थिक उपभोग का खर्च पर सीमा	व्यक्तिगत तौर पर उपभोग व्रत एवं राष्ट्रीय स्तर पर खर्च की सीमा।
	अन्य देशों से तनाव	शांतिमय सह-अस्तित्व	शान्त सहवास की अनुप्रेक्षा।
	आक्रामक वृत्ति से शस्त्र संग्रह	आक्रामक वृत्ति का बहिष्कार	अनाक्रमक वृत्ति का बीजारोपण
	भय से शस्त्र-संग्रह	राष्ट्र संघ का नव-निर्माण और भय निवारण	भयमुक्ति हेतु राष्ट्रों के बीच सहयोग बढ़ाना।
4. अंतर्राष्ट्रीय स्तर	विकसित और विकास शील देशों का भेद	अणुव्रत की आचार-संहिता	सम्पर्क, सेमिनार, अन्तर्राष्ट्रीय-सम्मेलन शिविर
	राष्ट्रमण्डल में समान प्रतिनिधित्व का अभाव	विश्व बंधुत्व की भावना।	प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, कायोत्सर्ग, आसन प्राणायाम।
	आपसी हितों का टकराव गुटबन्दी	मैत्री भावना	
	शस्त्रीकरण	निशस्त्रीकरण	

राज्यिक व वाणिज्यिक क्षेत्र

शांतिपूर्ण समाज की संरचना की तभी कल्पना की जा सकती है, जब प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाज की संरचना अहिंसक हो। भ्रष्टाचार, अनैतिकता संरचनात्मक हिंसा का मूल कारण है। भ्रष्टाचार, लालफीताशाही और भाई-भतीजावाद के दर्शन अधिकांश सरकारी कार्यालयों में सार्वकालिक, सावंदेशिक और सार्वभौमिक बन चुके हैं। अधिकांश सरकारी कर्मचारियों और अधिकारियों के मध्य अपने कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा भाव, अधिकारों के प्रति अत्यधिक चेष्टा तथा प्राप्त सत्ता का अत्यधिक दुरुपयोग करना इत्यादि भाव बढ़ते जा रहे हैं, इस प्रकार की मनोवृत्ति को लगाम देना युगीन आवश्यकता बन चुकी है। ऐसा परिवर्तन दृढ़संकल्प मात्र से सम्भव है, इस हेतु अणुव्रत आन्दोलन निम्नोक्त व्रतों का विधान कर्मचारी व अधिकारी वर्ग के लिए करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राज्य कर्मचारियों के लिए :

1. मैं रिश्वत् नहीं लूंगा।
2. मैं अपने प्राप्त अधिकारों से किसी के साथ अन्याय नहीं करूंगा।
3. मैं जनता और सरकार को धोखा नहीं दूंगा।

इसके अतिरिक्त राज्य अधिकारी के लिए :

1. मैं रिश्वत नहीं लूंगा।
2. मैं अपने प्राप्त अधिकारों का अनुचित प्रयाग नहीं करूँगा।
3. मैं अपने कर्त्तव्य-पालन में जान-बूझ कर विलम्ब या अन्याय नहीं करूंगा।
4. मैं मादक ओर नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत रिश्वत विरोधी अभियान ने गति पकड़ी, प्रशासन के अधिकारियों और राज्य कर्मचारियों में यह अभियान चला। इससे अनेक व्यक्ति प्रभावित हुए व रिश्वत न लेने का संकल्प अनेक लोगों को शांति देने वाला सिद्ध हुआ। यह अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष का नहीं अपितु अहिंसा के विधेयात्मक व रचनात्मक पक्ष के प्रयोग का विषय माना जा सकता है, जो वर्तमान युग के लिए प्रासंगिक भी है। इस तरह का संकल्प करने वाला व्यक्ति भी लालसा की गिरफ्त से मुक्त होकर कर्त्तव्य भाव से सहज जीवन जीने लगे व अपनी आत्मिक उन्नति के लिए मार्ग प्रशस्त करने लगे। व्यापारिक जगत् में व्याप्त तस्करी, कालाबाजारी, जमाखोरी, कम माप-तोल, मिलावट, इत्यादि बुराइयों का जड़-मूल नष्ट करने व प्रामाणिकता व शुद्धि हेतु अणुव्रत आन्दोलन ने व्यापारिक वर्ग के लिए अणुव्रत की आचार-संहिता का विधान किया, यथा :

1. मैं किसी भी चीज में मिलावट नहीं करूंगा।
2. मैं नकली को असली बताकर नहीं बेचूंगा।
3. मैं एक प्रकार की वस्तु दिखाकर दूसरे प्रकार की वस्तु नहीं दूंगा।
4. मैं सौदे के बीच कुछ नहीं खाऊँगा।
5. मैं तोल-माप में कमी बेशी नहीं करूँगा।
6. मैं अच्छे माल को बट्टा काटने की नीयत से खराब या दागी नहीं ठहराऊँगा।
7. मैं व्यापारार्थ चोर-बाजारी नहीं करूंगा।
8. मैं राज्य निषिद्ध वस्तु का व्यापार व आयात-निर्यात नहीं करूँगा।

यह अभियान व्यापारियों में चला। इसके परिणाम स्वरूप बम्बई और दिल्ली में सामुहिक रूप से व्यापार-शुद्धि का प्रयोग हुआ। व्यापारी वर्ग ने इसे मन से स्वीकार किया और अपने आचरण में इसे उतारा। इससे उनको व्यापारिक क्षेत्र के संचालन में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु इसके बावजूद कुछ लोगों ने साहस के साथ काम किया और वे सफल भी हुए। इस प्रकार यह अभियान कहीं एकता तो कहीं अप्रतिहत गति से चलता रहा। वर्तमान में भी इन व्रतों की उपयोगिकता कम नहीं हुई है। इन व्रतों को अपनाने से व्यापारिक जगत् में प्रामाणिकता आयेगी। ग्राहकों का व्यापारियों पर विश्वास कायम होगा। व्यापारियों के मध्य परस्पर सौहार्द का वातावरण बनेगा। शांति व सहयोग के वातावरण में व्यापार की उन्नति व समृद्धि अत्यधिक हो जायेगी।

दहेज प्रथा :

मनुष्य की अवधारणाएं परिवर्तनशील होती है, होनी भी चाहिए। अन्यथा वैचारिक जड़ता मानवीय संवेदनशीलता को समाप्त कर देती है। अवधारणाओं के बदलाव से सामाजिक परिवेश में भी परिवर्तन आता है। इससे मनुष्य की क्रियाएं बदलती है, प्रतिक्रियाएं बदलती है, मूल्यमानक बदलते हैं और जीवन-पद्धति भी बदल जाती है। परम्पराएं और अवधारणाएं बनती बिगड़ती रहती है। एक युग में जो परम्परा उपहार का प्रतीक होती है, वही किसी युग में भार बन जाती है। उस भार को आदमी ढोता रहे या झटक कर दूर कर दें, यह उसके विवेक पर निर्भर है। दहेज का प्रश्न, आज इसी परिप्रेक्ष्य में समालोच्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आधुनिक जीवन–शैली से जीने वाले लोग स्त्री और पुरूष के मौलिक अधिकारों में कोई अन्तर नहीं देखते। फिर भी भारतीय परिवेश में कन्या का जन्म काफी विवादास्पद बना हुआ ह। क्या लड़की के रूप में जन्म लेना ही अपराध है? इस समस्या पर विचार करने वालों ने इसका एक कारण खोजा है–''दहेज''। दहेज का शाब्दिक अर्थ है– जो हेज (प्रेम) से दिया जाए, वह दहेज है। एक समय ऐसा था, जब दहेज देने वाले भी खुश होते थे और लेने वाले भी। द्रष्टा और श्रोता भी उस खुशी में हिंसा बंटाते थे, क्योंकि उस समय दहेज के लिए न कोई माँग होती थी, न ठहराव, न वह प्रतिष्ठा का प्रश्न था और न ही होती थी उस पर किसी प्रकार की टीका–टिप्पणी। इसलिए वह किसी भी सपरिवार के लिए खुशियों का उपहार बन जाता था। जब से दहेज के साथ आकांक्षा की विकृति जुड़ी, उसका दिनों–दिन अवमूल्यन होता गया। दहेज की खुली मांग, ठहराव, माँग पूरी करने की बाध्यता, प्राप्त दहेज का प्रदर्शन और टीका–टिप्पणी। इसके आगे बढ़कर देखा जाए तो नवोढ़ा के मन को व्यंग्यबाणों से छलनी बना देना, उसके पितृपक्ष पर ताने कसना, बात–बात में उसका अपमान करना आदि क्या किसी शिष्ट और संयत मानसिकता की उपज है?

दहेज की इस यात्रा का अन्त इसी बिन्दु पर नहीं होता है। अगली यात्रा में अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक यातनाएं, बातबेबात पर मारपीट, घर से निकाल देना और जिन्दा तक जला देना । क्या एक नारी की नियति यही है? दहेज की विकृति को देख कर, इसकी दुष्परिणति को भोग कर भी लोगों की आँखें नहीं खुली हैं। परम्परा की इस सड़ी–गली लाश का बोझ अब भी वे अपने कंधों पर ढ़ो रहे हैं। धन की यह दासता सामन्ती मनोवृत्ति की देन हो सकती है पर जब देश में सामन्तवाद की जड़े उखड़ जाएं, फिर भी उस मनोवृत्ति को पोषित करना कहाँ की समझदारी है?

भारत में सन् 1961 से दहेज–विरोधी अधिनियम लागू है। पैंतालीस वर्ष की इस अवधि में कानून का कुछ तो प्रभाव होना चाहिए था, किन्तु विकृति घटने के स्थान पर कुछ अधिक ही बढ़ी है। न्यायपालिका और विधायिका दोनों ही इस बात के लिए कटिबद्ध है कि दहेज जैसी सामाजिक बुराई समाप्त हो या इस पर अंकुश लगे। कुछ संस्थाएं भी इस दृष्टि से कार्यरत हैं। धर्मगुरु अपने ढंग से काम कर रहे हैं, किन्तु दहेज की वेदी पर चढ़ने वाली बलि बन्द नहीं हो सकी। इस युग की महिलाओं में शिक्षा और बौद्धिकता बढ़ी है। वे अपना भला–बुरा भी सोचने लगी हैं। दहेज–जनित परिस्थितियों को लेकर उनके मन में रोष भी है, पर आर्थिक सुरक्षा के अभाव में वे किसी प्रकार का प्रतिकार नहीं कर सकती। इसीलिए उनको परिवार की क्रूरता एवं अन्याय को विवश होकर सहना पड़ता है। कुछ महिलाओं का परिवेश तो इतना वीभत्स है कि उनकी जिन्दगी पीड़ा की एक दास्तान गढ़ती हुई आगे बढ़ रही है।

एक दृष्टि से देखा जाए तो दहेज समूची मानव–जाति के लिए अमंगल की राह है। यह किसी व्यक्ति, परिवार या समाज की नहीं, पूरे राष्ट्र की समस्या है। आश्चर्य इस बात का है कि इस समस्या को बढ़ाने में पुरुषों का जितना हाथ है, महिलाओं का उससे भी अधिक है। दहेज के कारण अपनी बेटी की दुर्दशा को देखकर भी एक माँ पुत्र की शादी के अवसर पर दहेज लेने के लोभ को संवरण नहीं कर सकती। अपनी बेटी की व्यथा से व्यथित होकर भी वह बहू की व्यथा को अनुभव नहीं करती। यह स्थिति जब तक रहेगी, समाज और सरकार कोई कारगर प्रयत्न कर सकेगी, ऐसा सम्भव नहीं लगता। दहेज की ज्वलन्त समस्या का समाधान करने के लिए जन–आन्दोलन को तीव्र करने की जरूरत है। जिस दिन जन–जन का मन इस स्थिति से आन्दोलित होगा, प्रकम्पित होगा, तभी इस जानलेवा रूढ़ परम्परा में सुधार हो सकेगा।

अपनी पीढ़ी की तेजस्विता और यशस्विता के पहरूए बन कर एक साथ सैकड़ों–हजारों युवक–युवक्तियाँ जिस दिन बुलन्दी के साथ इस आवाज को उठाएंगे, दहेज की परम्परा चरमरा कर टूट पड़ेगी। दहेज किसे माना जाए, यह भी एक विवादास्पद प्रश्न है। इसके बारे में लोगों की अलग–अलग अवधारणाएं हैं। उन सब अवधारणाओं के एकीकरण में समय न लगा कर इस बात पर काफी एकमत हो जाएं कि लड़के और लड़की के सम्बन्ध का आधार दहेज न बने, दहेज पाने के लिए किसी प्रकार की प्रत्यक्ष या परोक्ष मांग न हो। पिता अपनी पुत्री को प्रेम से जो कुछ देता है, उसका प्रदर्शन न हो और क्या दिया, क्या नहीं दिया, इस विषय में किसी प्रकार की आलोचना न हो तो दहेज के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण कम हो सकता है। इसके साथ–साथ जहाँ कहीं और जब कभी दहेज को लेकर कोई अवांछनीय घटना घटती है, उस पर अंगुली–निर्देश हो, उसकी सामूहिक भर्त्सना हो। अहिंसात्मक तरीके से उसका प्रतिकार हो तथा ऐसे प्रसंगों को ''परस्मैपद'' की भाषा न देकर ''आत्मनेपद'' की भाषा में पढ़ा जाए, तभी इस मर्मान्तक पीड़ा से छुटकारा पाने की सम्भावना की जा सकती है।

अणुव्रत अनुशास्ता ने अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से ठहराव तथा दहेज–प्रदर्शन के विरूद्ध जन–मानस तैयार करने का प्रयास किया है। हजारों व्यक्ति इन प्रयासों में सम्मिलित हुए हैं। पर यह वैयक्तिक समस्या न होकर सामाजिक समस्या है। इसके निदान के लिये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अभिभावकों तथा शादी-योग्य युवक, युवतियों सबका सहयोग आवश्यक है। प्रत्येक अभिभावक को बच्चे की शादी पर ठहराव और दहेज प्रदर्शन न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। प्रत्येक युवक-युवती को भी दहेज-युक्त शादी न करने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

''दहेज न लेना और न दहेज विवाह में भाग लेना'' नामक अणुव्रत अपनाने से जहाँ एक ओर घृणित व कलंकित दहेज प्रथा से व्यक्ति और समाज को छुटकारा मिलेगा, वहीं दूसरी और दहेज प्रथा में कमी आयेगी। दहेज के आतंक से होने वाले बालिका वध भी समाप्त होंगे। ऐसी अवस्था में बालिकाएं परिवार व समाज के लिए भार सिद्ध नहीं होगी और उनका भी स्वतन्त्र विकास होगा। इससे स्त्रियाँ भी सहज व स्वाभाविक रूप से राष्ट्र की मुख्य धारा में सम्मिलित हो सकेगी। पुरूष और महिला दोनों ही समाज और राष्ट्र के दो पहिए हैं। उनमें से एक खराब हो जाने पर समाज और राष्ट्र का विकास असंतुलित रूप से होगा। अत: दोनों पहिए सही ढंग में कार्य करें और समाज और राष्ट्र की मुख्य धारा में बने रहे, इस हेतु अणुव्रत आन्दोलन में महिला अणुव्रत का विधान किया है। पुरूष नारी का शोषण करने, उस पर अत्याचार करने के लिए नारी का ही सहारा लेता है। यह तो मत्स्य न्याय के सिद्धान्त पर आधारित है। एक नारी दूसरी नारी का शोषण करती है। इसकी परिणति होती है :- दहेज हत्या, बाल-विवाह बालिका वद्य, गरीब लड़कियों को कुंवारा रह जाना, परस्त्रीगमन, बहुविवाह, वृद्ध विवाह इत्यादि। इसी प्रकार अशिक्षा और सामाजिक कुरीतियों के चलते पर्दा प्रथा, मृत्यु भोज, मृतक के पीछे रोना, स्त्री अशिक्षा, टोना-टोटका, अन्धविश्वास, भ्रूण हत्या इत्यादि का प्रचलन भारतीय ग्रामीण परिवेश में अत्यधिक है।

उपर्युक्त बुराइयों से समाज और राष्ट्र को छुटकारा दिलाने के लिए जितनी भूमिका पुरूष वर्ग को निभानी चाहिए, उतनी ही भूमिका महिला वर्ग को भी निभानी चाहिए। इस हेतु महिलाओं के लिये नियोजित अणुव्रतों का विधान किया गया है उनका संक्षेप में वर्णन निम्न प्रकार से है :

1. मैं दहेज का प्रदर्शन नहीं करूँगी।
2. मैं अपने लड़के-लड़की की शादी में रूपये आदि लेने का ठहराव नहीं करूंगी।
3. मैं आभूषण आदि के लिए पति को बाध्य नहीं करूंगी।
4. मैं सास-श्वसुर आदि के साथ कटु-व्यवहार हो जाने पर क्षमा-याचना करूँगी।
5. मैं अश्लील व भद्दे गीत नहीं गाऊँगी।
6. मैं मृतक के पीछे प्रथा-रूप से नहीं रोऊँगी।
7. मैं बच्चों के लिए गाली व अभद्र शब्दों का प्रयोग नहीं करूँगी।

अणुव्रत आन्दोलन के कल्याणकारी कार्यक्रमों को दिशा देने के लिए अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मण्डल अपने सहयोगी क्षेत्रीय शाखाओं के सहयोग से महिला क्षेत्र में व्याप्त अन्धविश्वास, कुरूढ़ियाँ, अशिक्षा व तनाव को दूर करने के लिए निरन्तर प्रयासरत है।

भारत गाँवों का देश है। यहाँ की अधिकांश आबादी लगभग 75 प्रतिशत ग्रामीण है। भारतीय कृषक और श्रमिक आर्थिक दृष्टि से उन्नत नहीं है। कठोर शारीरिक मेहनत करने के कारण वे शारीरिक रूप से स्वस्थ होते हैं। अक्सर उनको अशिक्षा के कारण इस शारीरिक स्वस्थता का दुरूपयोग राजनीतिज्ञ व सेठ साहुकार आदि करते हैं। इसके अतिरिक्त इस वर्ग में शारीरिक थकान व अन्य शादी उत्सव पर मादक पदार्थों का प्रचलन बढ़ गया है, जो कि अंतत: पारिववारिक व सामाजिक अंशाति का कारण बनती है। इन प्रकार की बुराइयों को दूर करने हेतु कृषक व श्रमिक वर्ग के लिए निम्नोक्त अणुव्रतों का प्रावधान किया गया है।

कृषक अणुव्रत

1. मैं अपने आश्रित पशुओं के साथ क्रूर व्यवहार नहीं करूंगा।
2. मैं जमाखोरी नहीं करूंगा।
3. मैं मादक व नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।

श्रमिक अणुव्रत :

1. मैं अपने कार्य में प्रामाणिकता रखूंगा।
2. मैं हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. मैं मादक एवं नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।

4. मैं जुआ नहीं खेलूंगा।

इन कार्यक्रमों ने समाज के हर पक्ष से संबंधित वर्गों में नैतिकता जागृत कर अहिंसक शान्तिपूर्ण समाज संरचना का मार्ग प्रशस्त किया है। अणुव्रत ने मानव-धर्म में विश्वास व्यक्त किया है। उन्होंने जाति, रंग, धर्म, भाषा, सम्प्रदाय क्षेत्र इत्यादि को मानव धर्म में बाधक तत्वों के रूप में स्वीकार किया है। इन बाधक तत्वों की परिणीत जातिवाद, रंग भेद नीति, धार्मिक कट्टरतापन, भाषाई विवादों और क्षेत्रवाद में हो जाती है। धार्मिक सामाजिक तनावों से बचने तथा मानवता के मध्य शांति और अहिंसा का वातावरण तैयार करने हेतु अणुव्रत आन्दोलन में मानव धर्म पर अत्यधिक बल प्रधान किया गया है, ताकि समाज और राष्ट्र इन अवरोधों से रहित होकर विकास के मार्ग पर अग्रसर हो सके। आचार्य तुलसी एवं आचाय महाप्रज्ञ ने अणुव्रत आन्दोलन को व्यापक बनाने तथा मानव समाज के प्रत्येक सदस्य तक अणुव्रत आन्दोलन की उपादेयता को पहुंचाने के लिये भागीरथ प्रयास किये हैं, ताकि इस आन्दोलन को सामाजिक और आर्थिक बुराइयों के निराकरण का चक्र बनाया जा सके। इस हेतु उन्होंने संघ का निर्माण किया और कार्यकर्ताओं को देश के कोने-कोने में भेजा, ताकि अधिकाधिक जन-समुदाय इससे जुड़ सकें। उन्होंने स्वयं जन-समुदाय को दक्षिणा के रूप में अपनी बुराइयों देने का आह्वान किया। उन्होंने स्थान-स्थान पर अणुव्रत गोष्ठियों का आयोजन किया, जिसमें स्वतन्त्र चिन्तन मनन हो सके और श्रोताओं की अभिरूचि अणुव्रत के सम्बन्ध में जागृत हो सके।

आन्दोलन को जनक्रान्ति का स्वरूप प्रदान करने हेतु एवं अणुव्रत की आन्दोलनात्मक गतिविधियों को बल प्रदान करने में प्रबल निमित्त बना है- अणुव्रत, जैन भारती, युवा दृष्टि, विज्ञप्ति आदि पत्रों के अतिरिक्त हिन्दुस्तान, नवभारत टाईम्स, इण्डियन एक्सप्रेस, सकाल (पूना), हिन्दू (मद्रास), विश्व मित्र (कलकत्ता), साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग आदि पत्रों ने भी समय-समय पर अणुव्रत के मूलभूत उद्देश्यों के अनुकूल कार्य किया है।

सामाजिक उत्थान के लिए किया गया कार्यक्रम नया मोड़ का व्यापक कार्यक्रम अणुव्रत के महत्त्वपूर्ण पक्ष का संवाहक है। इसके माध्यम से प्राचीन अप्रासंगिक परम्परा को तोड़ने और नये मूल्यों की स्थापित करने की दिशा में विशेष जागृति आयी है।

4.9.13 नया मोड़ कार्यक्रम

सन् 1960 में अणुव्रत अनुशास्ता ने समाज को नया मोड़ नामक कार्यक्रम दिया। समाज में प्रचलित कुप्रथाओं के उन्मुलन में इस कार्यक्रम का बहुत बढ़ा हाथ रहा। पर्दा, मृत्यु भोज, प्रथा रूप से रोना, विधवाओं के काले वस्त्र और उनका तिरस्कार, विवाह आदि प्रसंगों पर होने वाले वृहत् भोज, आडम्बर, दहेज, ठहराव और प्रदर्शन, तपस्या के उपलक्ष्य में होने वाले आडम्बर आदि विषयों पर एक समाज व्यापी अभियान चलाया गया। उसमें कुप्रथाओं से होने वाली तथा धार्मिक जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं के प्रति ध्यान आकर्षित किया गया। सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि समाज में संस्कार-निर्माण कार्यक्रम शुरू किया जाए, ताकि कोई जन-समुदाय सम्बन्धी संस्कारों को सहज रूप से ग्रहण कर सके। इस हेतु संस्कार निर्माण समिति का गठन किया गया यह समिति समाज में संस्कार-निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम को सफलता पूर्ण ढंग से कार्यान्वित कर रही है।

अणुव्रत आन्दोलन का प्रमुख उद्देश्य है-जाति, वर्ण, देश और धर्म का भेदभाव न रखते हुए मानव मात्र को सदाचार की ओर आकृष्ट करना। इस उद्देश्य द्वारा मानव धर्म को महत्त्व प्रदान किया गया है। इसमें अवरोधक तत्व की भूमिका का निर्वहन करने वाले तत्वों की उपेक्षा की है। इससे सामाजिक तनाव में कमी हुई है। परस्पर समन्वय में वृद्धि हुई है एक दूसरे के विचारों को समझने, आपसी गलतफहमियों को दूर करने के लिए आवश्यक वातावरण बनाने में सहायता मिली है। इसी नीति के आधार पर सर्व-धर्म-सम्मेलनों और विविध गोष्ठियों का आयोजन सम्भव हो सका है।

अणुव्रत आन्दोलन के कारण ही चिन्तन में समन्वय के बीज अंकुरित हो पाये हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य तुलसी का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है - ''जब तक हमारा दृष्टिकोण सीमित रहा हम एक परिधि में खड़े होकर सोचते रहे। व्यापक दृष्टिकोण का निर्माण होते ही परिधि अपने आप दूर हो गयी और एक केन्द्र से अनुबन्धित होने पर भी हमारा धर्म, संघ, व्यक्ति और क्षेत्र की सीमाओं से ऊपर उठकर सार्वभौम और सार्वजनित कार्यो में संलग्न हो गया।'' इस आन्दोलन को सामाजिक परिवर्तन का चक्र मानते हुए आचार्य महाप्रज्ञ कहते हैं कि ''अणुव्रत आन्दोलन हृदय-परिवर्तन के माध्यम से काम करने वाला अभियान है। इस सृष्टि से बलपूर्वक किसी कार्य करवाने के पक्ष में वह नहीं हो सकता। विचारों और अन्त:करण के परिवर्तन से जो नई ऊर्जा जीवन में संप्रेषित होती है, यही अणुव्रत आन्दोलन की उपलब्धि है, यही निष्पत्ति है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामाजिक समस्याओं से मुक्ति हेतु आन्दोलन ने अणुव्रत को साधन के रूप में अपनाया तथा इसके द्वारा निम्नोक्त तीन लक्ष्यों की प्राप्ति करने का प्रयास किया।

1. जनसाधारण में नैतिक निष्ठा उत्पन्न करना।
2. धार्मिक व्यक्ति के जीवन में व्याप्त धर्मस्थान और कर्मस्थान की विसंगति को दूर करना।
3. व्रत के द्वारा सामाजिक समस्याओं का समाधान करना।

उपरोक्त साध्य की सिद्धि में निम्नोक्त अवरोध सामने आये।

1. गरीबी – गरीब और महँगाई ने मध्यम वर्ग को अनैतिकता अपनाने को प्रोत्साहित किया। कर्मचारी रिश्वत लेने लगे और व्यापारी अप्रमाणिकता बरतने लगे। जीवन निर्वाह के लिये उन्होंने इस प्रकार की अनैतिकता को भी स्वीकार कर लिया।

2. बड़प्पन के मानदण्ड – सम्पन्न वर्ग त्योंहारों और उत्सवों पर सम्पन्नता का प्रदर्शन करना चाहता है। यह तभी संभव है, जब वे अनैतिक ढ़ंग से धन संग्रह करें। इस मान्यता के आधार पर सम्पन्न वर्ग में भी अनैतिकता को प्रोत्साहन मिल रहा है।

3. अनैतिकता के प्रत्यक्ष लाभ – व्यक्ति भौतिक सुख-सुविधा और सामाजिक प्रतिष्ठा चाहता है। नैतिकता की पगडन्डी पर चलने के लिये ऐसी ऐसी उपलब्धि प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अनैतिक मार्ग का अनुगमन करने वाला ही ऐसी उपलब्धि प्राप्त कर सकता है। इस स्थिति में भी अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है।

4. बुराई का फल बुरा होता है, इस सिद्धान्त के प्रति अनास्था– किसी जमाने में इस सिद्धान्त-बुराई का फल बुरा होता है- से समाज अनुशासित था। फलत: वह बुराई से बचता था और यदि किसी व्यक्ति से कोई बुराई हो जाती तो वह उसका प्रायश्चित करता था आज उस सिद्धान्त के प्रति आस्था टूट चुकी है। दूसरा नया सूत्र कोई आया नहीं है, जो समाज को बुराई से बचाने में उतना समर्थ हो। इस सैद्धान्ति रिक्तता के कारण भी अनैतिकता को प्रोत्साहन मिल रहा है।

अणुव्रत व्यक्ति को नैतिक बने रहने का संकल्प भी देता है और अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक और सामाजिक विषम व्यवस्थाओं को दूर करने का समाधान भी देता है। हर मनुष्य में अच्छाई और बुराई के बीज छिपे होते हैं। उनको जैसा अनुकूल वातावरण मिलता है, वैसा ही वह बन जाता है। आर्थिक और सामाजिक विषम व्यवस्थाओं का योग पाकर अनैतिकता के बीज बहुत तेजी से फैलते फूलते हैं। इन फलने-फूलने की पृष्ठभूमि में व्यक्ति की दुर्बल संकल्प शक्ति और चारित्रिक दुर्बलता को भी अणुव्रत कारण मानता है। अणुव्रत का प्रथम प्रयास है कि व्यक्ति अपनी संकल्प शक्ति का विकास करें और वह विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी नैतिक आस्था से विचलित न हो। दुर्बल संकल्प शक्ति वाला अनुकूल परिस्थितियों में भी नैतिक नहीं रह सकता। इसलिए अणुव्रत व्यक्ति में प्रतिकूल परिस्थितियों से जुझने की शक्ति का विकास करने का प्रयास करता है, ताकि व्यक्ति अनैतिक नहीं बने।

अणुव्रत संकल्प के साथ-साथ व्यवस्थाओं को सुव्यवस्थित करता है। विषम व्यवस्थाएं जहाँ व्यक्ति को अनैतिक बनने में प्रेरक बनती है वहां वह उसके अनैतिक आचरण विषम व्यवस्थाओं को और अधिक विषम बना देती है। रिश्वत, मुनाफाखोरी, चोरबाजारी, मिलावट, गबन इत्यादि अनेक ऐसे गलत आचरण है, जो कि सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को पैदा करने में मुख्य रूप से निमित्त है। इन कारणों से बाजार में अच्छे माल का न आना, माल होते हुए भी लोगों को न मिलना, महँगाई, चोरी-बाजारी, विदेशी मुद्राओं में घाटा, तस्कर-व्यापार को बढ़ावा इत्यादि दुष्प्रभाव सामने आ जाते हैं। इससे सारा आर्थिक ढाँचा चरमरा जाता है। योजनाओं का भविष्य धुंधला जाता है, सामान्य जनता का शोषण होता है और सर्वत्र असन्तोष ही असन्तोष नजर आता है।

व्यवस्थाओं में विषमता का दूसरा कारण मनुष्य की अपनी चारित्रिक दुर्बलता भी है व्यक्ति सम्पन्न होता हुआ भी धन का उपयोग करने के कारण निर्धन हो जाता है। मद्यपान, तम्बाकू-सेवन, सिनेमा इत्यादि दुर्व्यसन व्यक्ति की आर्थिक अवस्था को सुधरने नहीं देते। अनैतिक आचरणों और दुर्व्यसनों से उत्पन्न होने वाली सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने में अणुव्रत स्वयं एक बहुत बड़ा समाधान है। वह भ्रष्ट आचरणों पर सीधा प्रहार करता है और व्यक्ति के मानसिक स्तर को ऊँचा उठा कर उसे व्यसन मुक्त करता है। व्यक्ति के विवेक जागरण की इससे और अच्छी प्रक्रिया नहीं हो सकती। भारत की आम जनता यदि आज व्यसन मुक्ति का व्रत ले लें और अपने अनैतिक आचरणों के द्वारा सामाजिक विषमताओं को नहीं बढ़ने देने का संकल्प लें लें तो फिर व्यवस्थागत विषमताओं का अन्त बहुत आसानी से किया जा सकता है।

आर्थिक विषमताओं का एक समाधान यह भी है कि देश में उत्पादन को बढ़ावा जाये, अर्थ सम्पदा का उपार्जन अधिक से अधिक किया जाये। अणुव्रत ने इस दृष्टि से अभी कोई कार्यक्रम हाथ में नहीं लिया है, किन्तु अणुव्रत की मर्यादा में यह अकाम्य भी नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। अणुव्रती एक सामाजिक प्राणी है, सन्यासी नहीं है। यदि वह चाहता है कि समाज में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हो तो उसे व्यवसाय में वैसे ही प्रयोग भी करने पड़ेंगे जिससे लोगों के दिलों में नैतिकता के प्रति आस्था बढ़े। उसे वैसे ही जीविका के साधन भी समाज के समक्ष प्रस्तुत करने होंगे, जिनके माध्यम से एक व्यक्ति नैतिक रहता हुआ भी अपनी जीविका अच्छी प्रकार से उपार्जन कर सके। अणुव्रत का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को जीने की पद्धति सिखाने का है। मनुष्य अपनी इच्छाओं पर संयम रखें, जीविकोपार्जन में अनैतिक साधनों को काम में लाने का बहिष्कार करे और व्यसन मुक्त हो। यदि आज का मनुष्य इन नियमों को पालन करने में समर्थ हो जाये तो विषमताओं और समस्याओं का समाधान उसे स्वत: उपलब्ध हो जायेगा।

4.10 सारांश

अणुव्रत आन्दोलन विभिन्न सम्प्रदाय में असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण उत्पन्न करने में सफल रहा है। इसको अपना कर तेरापंथ जो कि जैन धर्म का एक सम्प्रदाय है, साम्प्रदायिक भावनाओं से मुक्त हुआ है उसमें अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन आये हैं। उसने परम्पराओं से चिपके रहने का मोह छोड़ा है। इस प्रकार यह आन्दोलन सम्प्रदाय में असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण का विकास करने सामाजिक परिवर्तन का चक्र सिद्ध हुआ है। निष्कर्षत आन्दोलन के कार्यक्रम ऐसे व्यक्ति और समाज निर्माण की दिशा में कार्यरत है, जो स्वस्थ, अहिंसक एवं कल्याणकारी हो।

4.11 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहु वैकल्पिक प्रश्न

1. अणुव्रत आन्दोलन स्थापना काल से एक वर्ष तक कितने अणुव्रती बना सका?
   (अ) 621 (ब) 527 (स) 1004
2. किस विदेश पत्रिका में आन्दोलन की चर्चा हुई थी?
   (अ) लाइफ (ब) टाइम (स) फॉरच्यून
3. राजसमन्द में अहिंसा प्रशिक्षण का अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन कब हुआ था?
   (अ) 1999 (ब) 1991 (स) 2003
4. संतुलित शिक्षा-प्रणाली के कितने आधार हैं?
   (अ) 4 (ब) 3 (स) 1
5. अहिंसा प्रशिक्षण की कितनी प्रयोगभूमिका हैं?
   (अ) 4 (ब) 3 (स) 5

(ब) लघु निंबधात्मक प्रश्न

1. अणुव्रत आन्दोलन के सूत्रपात एवं जन्म पर एक संक्षिप्त नोट लिखें।
2. आन्दोलन की प्रसार-यात्रा का स्वरूप क्या रहा?
3. अणुव्रत आन्दोलन के विकास के चरणों का वर्णन करें।
4. आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय प्रसार के सन्दर्भ में एक लघु लेख लिखे।
5. शिक्षा जगत में आन्दोलन के योगदान का वर्णन करें।

(स) निंबधात्मक प्रश्न

1. अणुव्रत आन्दोलन के सूत्रपात एवं प्रसार की वर्णन करे।
2. कल्याणकारी कार्यक्रमों के अन्तर्गत अहिंसा क्षेत्र में किये योगदान का वर्णन करें।
3. सामाजिक उत्थान हेतु अणुव्रत आन्दोलन प्रभावशाली भूमिका निभा सकता है। वर्णन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-5

राष्ट्रीय एकता एवं अहिंसक समाज व्यवस्था

संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 राष्ट्रीय एकता की समस्या
5.3 समाधान की दिशा : अणुव्रत
5.4 आध्यात्मिक समतावाद
5.5 अहिंसा का मुख्य आधार-समता
5.6 सामाजिक समता
5.7 आत्मतुला का विस्तार
5.8 अहिंसक समाज
5.9 अहिंसक समाज-संरचना की संभावना
5.10 हिंसक समाज और अहिंसक समाज
5.11 व्यक्ति और समाज
5.12 विरोध : समाज की प्रकृति
5.13 विरोध परिहार का मार्ग : अनेकान्त
5.13.1 अनेकान्त का अभ्युपगम
5.13.2 सामाजिक हिंसा एवं तनाव
5.13.3 सामाजिक हिंसा व तनाव से आशय
5.13.4 सामाजिक तनाव का प्रमुख कारण
5.13.5 अहिंसक समाज व्यवस्था
5.13.6 अहिंसक समाज व्यवस्था : स्वरूप
5.13.7 अहिंसक समाज व्यवस्था : तीन भूमिकाएं
5.13.8 शासनमुक्त या शासनयुक्त समाज
5.13.9 व्यक्तिगत स्वामित्व
5.13.10 सुरक्षा की निर्भरता
5.13.11 मूल्य परिवर्तन
5.14 सारांश
5.15 अभ्यास प्रश्नावली

5.0 प्रस्तावना

राष्ट्रीय एकता की समस्या और समाधान की दिशा, आध्यात्मिक समतावाद, आत्मतुला का विस्तार, अहिंसक समाज रचना की संभावना, अहिंसक समाज व्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया जाना है।

5.1 उद्देश्य

अणुव्रत दर्शन और अणुव्रत आन्दोलन के विभिन्न पक्षों के अध्ययन के उपरांत इस पाठ में राष्ट्रीय एकता एवं अहिंसक समाज के विभिन्न पतों का अध्ययन करेंगे। जिसमें समतावाद एवं आत्मतुला के दार्शनिक स्वरूप के अतिरिक्त वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में अणुव्रत आन्दोलन के रचनात्मक संभावनाओं का भी अंकन करेगें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.2 राष्ट्रीय एकता की समस्या

एकता का स्वर बहुत अच्छा है किन्तु एकता कभी स्वप्न के सहारे संभव नहीं बनती। एकता के लिए ठोस धरातल चाहिए, मजबूत आधारशिला चाहिए। कभी भी बालू की नींव पर मकान खड़ा नहीं किया जा सकता। जब तक जीवन में तपस्या नहीं आती, त्याग नहीं आता, तब तक एकता को विखंडित करने वाले तत्त्व बराबर बने रहेंगे। त्याग के द्वारा और परमार्थ के द्वारा ही एकता की बात संभव हो सकती है। मनुष्य असीम होकर जी नहीं सकता, रेखा खींचना उसके लिए अनिवार्य है। सबसे पहली रेखा है हमारा शरीर। इसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। दूसरी रेखा है परिवार। स्नेह और ममत्त्व की नैसर्गिक आकांक्षा की तृप्ति के लिए मर्यादा को मान्यता देनी होती है। तीसरी रेखा है घर। गर्मी और सर्दी से बचने के लिए हमें असीम को असीम करना पड़ता है। चौथी रेखा है जाति। पारिवारिक संबंधों की व्यवस्था और शक्ति-संवर्धन के लिए हम जाति की अधीनता स्वीकार करते हैं। पांचवीं रेखा है राष्ट्र। अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए हम राष्ट्रीय विधान को मान्यता देते हैं। छठी रेखा है संप्रदाय। अपनी आन्तरिक भावना की पूर्ति के लिए हम धर्म को मान्य करते हैं और उसकी परम्परा चलाने के लिए एक विचार के लोग मिल संप्रदाय का निर्माण कर लेते हैं। छोटी-मोटी रेखाएं अनेक हैं। किन्तु यहीं उन्हीं रेखाओं का उल्लेख किया है, जो मुख्य हैं, और हमारे जीवन को सर्वाधिक प्रभावित करती हैं।

कुछ लोग इस भाषा में सोचते हैं कि इन रेखाओं को समाप्त कर दिया जाये। शरीर की रेखा को समाप्ति की ओर नहीं लाया जा सकता। परिवार, जाति और सम्प्रदाय की रेखाओं को मिटाने का स्वर राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में मुखर होता जा रहा है। पारिवारिक सीमा के अतिक्रमण के विपक्ष में नहीं रहा जा सकता किन्तु परिवार की सीमा का अतिक्रमण राजकीय कानून के बल पर एक रूढि या विवशता बन जाये यह भी उचित नहीं। अवस्था और चिन्तन की परिपक्वता आने पर कोई व्यक्ति पारिवारिक सीमा को छोड़ व्यापक क्षेत्र में प्रवेश पाता है, वह अभिनन्दनीय है।

जाति और संप्रदाय की रेखाएं भी परिहार्य नहीं हैं। उनकी अपरिहार्यता को मान लेने पर भी उनमें संशोधन के अवकाश को स्वीकार किया जा सकता है। जन्मना जाति और आनुंविशक संप्रदाय- वे दोनों हितकर सिद्ध नहीं हो रहे हैं। इस पक्ष में संशोधन आवश्यक है। और वह यह हो सकता है- जाति कर्मणा और संप्रदाय स्वीकृत होना चाहिए। कर्मणा जाति की परम्परा प्रचलित होने पर जातीय घृणा की आधार शिला को खंडित हो जाना स्वाभाविक है। स्वीकृत संप्रदाय के गतिशील होने पर सांप्रदायिक कट्टरता के समाप्त होने की प्रबल संभावना है। क्या यह संभव है? कर्मणा जाति अपेक्षाकृत अधिक शक्तिस्रोत बन सकती है। स्वीकृत संप्रदाय परम्परागत संप्रदाय की अपेक्षा गति दे सकता है।

हिन्दुस्तान अनेक जातियों और संप्रदायों का संगम है। एकता को हमेशा अनेकता की समस्या का सामना करना पड़ता है। राष्ट्र एक ही जाति और संप्रदाय अनेक। अनेक में होने वाला टकराव एक के अस्तित्व में को खतरे में डाल देता है। हिन्दुस्तान के प्रबुद्ध वर्ग के लिए यह जरूरी हो गया है कि राष्ट्र की एकता को सुदृढ़ आधार देने के लिए वह कुछ प्राचीन मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों की स्थापना करे। कर्मणा जाति और स्वीकृत संप्रदाय- यह अवश्य ही नया मूल्य है। इसकी स्थापना से पुराना विघटित होगा। प्राचीन युग में जन्मना जाति का सिद्धान्त बहुत लचीला था। उसके साथ कर्मणा जाति का व्यवहार भी चलता था। इन शताब्दियों में वह कठोर हो गया है। अब उसमें अधिक प्राणशक्ति नहीं है। स्वीकृत सम्प्रदाय की परम्परा आज भी कुछ अंशों में प्रचलित है। इसकी समस्या उन पर्वों में अधिक है, जहाँ जाति और संप्रदाय परस्पर घुले-मिले हैं। धर्म के आधार पर बनी हुई जातियों में धर्म-निरपेक्ष जातियों की अपेक्षा कट्टरता अधिक पनपती है। जाति और धर्म को पृथक् कर देना मनुष्य जाति के हित में अधिक है। एक जाति का आदती अपनी जाति का परिवर्तन किए बिना किसी भी धर्म को मानने में स्वतन्त्र है। यदि यह बात सम्मत हो जाए तो आनुवंशिक संप्रदाय की मान्यता से उत्पन्न समस्याएं सहज ही निराकृत हो जाती है। जन्मना जाति और आनुवंशिक संप्रदाय की स्थिति रहते हुए राष्ट्रीय एकता स्थापित नहीं हो सकती? कर्मणा जाति और स्वीकृत संप्रदाय के मूल्य की स्थापना ही क्या राष्ट्रीय एकता का एकमात्र विकल्प है? यह प्रश्न अनेक मंचों से उपस्थित हो सकता है। जीवन का एक तत्त्व है धर्म, जिसमें हम जी रहे हैं, श्वास ले रहे हैं। वह भी आज संदिग्ध बना हुआ है। उसे धर्म की बजाय संप्रदाय कहना अधिक पंसद किया जाता रहा है। धर्म की बात कहना जटिल हो गया है। आज संप्रदाय की बात ज्यादा चलती है और उससे एकता की आशा करना निरर्थक है। जब तक जातिवाद और संप्रदायवाद का उन्माद मनुष्य के दिमाग पर हावी है, एकता की बात सोची ही नहीं जा सकती। वर्तमान धर्म ने जातिवाद और संप्रदायवाद को बहुत बढ़ावा दिया है। संप्रदायवाद का काम है- तोड़ना, जातिवाद का काम है- तोड़ना, विघटन करना। इस स्थिति में राष्ट्रीय एकता की बात एक समस्या बन जाती है।

5.3 समाधान की दिशा : अणुव्रत

अणुव्रत आन्दोलन एक मानवीय आचार-संहिता है। वर्तमान युग में राष्ट्रीय हित के लिए जितना सहायक अणुव्रत आन्दोलन हो सकता है, उतना शायद दूसरा हमें खोजना होगा। अणुव्रत का नियम है, मैं जाति के आधार पर किसी को ऊँचा-नीचा नहीं मानूंगा, संप्रदाय के आधार पर किसी से घृणा नहीं करूंगा, किसी को नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं करूंगा, किसी की आलोचना नहीं करूंगा।' जब तक हमारे जीवन में ये मूलभूत बातें नहीं आतीं, तब तक हम एकता की बात सोच भी नहीं सकते। एक शब्द में कहा जाए तो विखंडित व्यक्तित्व द्वारा एकता की बात सोची नहीं जा सकती। हमारा व्यक्तित्व खण्डित व्यक्ति है। अखंड व्यक्तित्व के द्वारा ही एकता और अखंडता का स्वर सार्थक हो सकता है। आज की मुख्य अपेक्षा है- अखंड व्यक्तित्व का निर्माण किया जाए। शिक्षा संस्थान और धर्म-शक्ति- दोनों पर दायित्व है अखंड व्यक्तित्व के निर्माण का, समग्र व्यक्तित्व के निर्माण का। व्यापक, दृष्टिकोण, उदार, चिन्तन, चरित्र का विकास, तपस्या और सहिष्णुता की शक्ति- ये सारी बातें उस व्यक्तित्व में समाविष्ट हैं। हम कैसे कल्पना कर सकते हैं कि धर्म के द्वारा जीवन में परिवर्तन, राष्ट्रीय चेतना का परिवर्तन और एकता की स्थिति का निर्माण किया जा सकता है। आज हमारे लिए और धर्म के क्षेत्र में जीने वालों के लिए प्रथम जरूरत है धर्म पर पुनर्विचार करने की। ऐसे ही प्रयास मानवीय एकता को अवकाश दे सकते हैं।

सामान्यत: मानवीय एकता का विचार राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में नहीं किया जाता किन्तु उसके होने पर अन्तर्राष्ट्रीय एकता भी सध जाती है, राष्ट्रीय एकता सहज ही सध जाती है। किन्तु व्यक्तिगत हितों और स्वार्थों के संस्कार बहुत प्रबल हैं। उनके अस्तित्व में व्यापक हितों और स्वार्थों की बात सोचना असंभव ही रहा है। जन-साधारण में परस्पर संदेह और अविश्वास कम होता है। उसमें जातीय और सांप्रदायिक घृणा की मात्रा उतनी नहीं होती, जो उन्हें दंगों तक ले जाये। दंगों तक ले जानी वाली घृणा की भूमिका का निर्माण कुछेक बुद्धिमान लोग करते हैं। वे अकारण ही नहीं करते, अपने निहित स्वार्थों के कारण करते हैं। ऐसा करने वालों में धर्म-संप्रदाय और राजनीतिज्ञ-संप्रदाय दोनों के लोग होते हैं। उनके गुरुत्व और नेतृत्व की सुरक्षा के लिए ऐसा करना आवश्यक हो गया है। इन बौद्धिक लोगों में व्यक्तिगत स्वार्थ या अंह की भावना कम हुए बिना क्या राष्ट्रीय एकता का स्वप्न फलित हो सकता है? महात्मा गांधी ने इसी समस्या को ध्यान में रखकर व्यक्ति के चरित्र विकास को प्राथमिकता दी थी। अणुव्रत के माध्यम से भी इस उद्देश्य को प्राथमिकता दी जा रही है। संघर्ष की पृष्ठभूमि में प्रत्यक्ष लड़ने वाले कभी मुख्य नहीं होते। मुख्यता उन्हें लड़ाने वालों की होती है। सामाजिक विकास और व्यक्तिगत चरित्र को संतुलित महत्त्व देने पर ही इस भूमिका से निपटा जा सकता है।

हमारा धर्म नैतिकता-प्रधान और राजनीति यथार्थपरक हो तो राष्ट्रीय एकता की समस्या सद्य: समाहित हो सकती है। हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय व्यक्तियों की उपेक्षा, प्रांतीय व्यक्तित्व अधिक पनपने हैं। इसका कारण स्पष्ट है। विशाल दृष्टिकोण वाले लोग कम हैं, जो राष्ट्रीय हितों के संदर्भ में प्रांतीय हितों पर विचार करे। इस सारी समस्या पर मूल से ही विचार करना जरूरी है।

हिन्दुस्तान बच्चों में बचपन से ही राष्ट्र से सम्प्रदाय और जाति की, सम्प्रदाय और जाति से परिवार की ओर परिवार से अपने आपको अधिक महत्त्व देने की मनोवृत्ति पनपती है, यही संस्कार उनमें भरा जाता है। आज शिक्षा का दायित्व सरकार ने ले रखा है। क्या वह इस संस्कार को उलटने की दिशा प्रस्तुत नहीं कर सकती? प्रत्येक शिक्षा-संस्थान सामाजिक संगठन और सम्प्रदाय विद्यार्थी के सामने यह सूत्र प्रस्तुत करे।

व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र बड़ा है। राष्ट्र का हित घटित होता है तो सबके हित घटित होते है। उसका हित विघटित होता है तो सबके हित विघटित होते हैं। व्यक्ति की निष्ठा को व्यापक आधार देना ही समस्या का समाधान है। अणुव्रत आन्दोलन ने जो आचार-संहिता प्रस्तुत की है, वह राष्ट्रीय एकता की दिशा में प्रस्थान का एक माध्यम बन सकती है। किन्तु केवल आचार-संहिता से परिवर्तन नहीं हो सकता। परिवर्तन के लिए व्यक्तित्व का रूपान्तरण आवश्यक है। आधुनिक भाषा में कहा जा सकता है- रासायनिक परिवर्तन की जरूरत है। जब तक व्यक्ति के रसायन और अंत:स्त्रावी ग्रंथियों के स्त्राव नहीं बदलते, तब तक व्यक्तित नहीं बदल सकता एवं राष्ट्रीय एकता की स्थिति को प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता। अत: आवश्यक है कि राष्ट्रीय एकता की दिशा में गम्भीर प्रयास किए जाए।

5.4 आध्यात्मिक समतावाद

हिन्दुस्तान में दो परम्पराएं बहुत प्राचीन है। श्रमण परम्परा और ब्राह्मण परंपरा। भगवान् महावीर श्रमण पंरपरा के तीर्थंकर थे। श्रमण परंपरा में सम शब्द को सर्वाधिक मूल्य दिया गया। प्राकृत का 'सम' शब्द संस्कृत में तीन रूपों में व्याख्यात हुआ है- सम-समता,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शम-शन्ति, श्रम- तपस्या, स्वालंबन और आत्म-निर्भरता। भगवान् महावीर का मुख्य सिद्धान्त यह त्रिपदात्मक 'सम' है। कालक्रम से यह घटित हुआ कि समता पृष्ठभूमि में चली गई और अहिंसा उभरकर सामने आ गई।

गीता में उल्लेख हुआ है कि अपने कर्त्तव्य-कर्म करने में सर्दी, गर्मी आदि अनेक कारणों से कभी सुख और कभी दु:ख की प्राप्ति हो, अथवा प्रतिकूल प्रकृति के लोग शत्रुता का और अनुकूल प्रकृति के लोग मित्रता का भाव रखें, और प्रेम रखने वाले लोग मान करें, तथा द्वेष रखने वाले अपमान करे, एवं कोई निन्दा करें, और कोई स्तुति करें, तो इन द्वन्द्वों अथवा जोड़ों को परिवर्तनशील एवं अस्थायी समझकर इनसे अविचलित रहना, इन भावों को एक ही वस्तु के दो परस्पर विरोधी, अन्योन्याश्रित एवं परिवर्तनशील रूप समझना, सुख के साथ दु:ख, शत्रुता के साथ मित्रता, मान के साथ अपमान और निन्दा के साथ स्तुति का अस्तित्व भी रहता है, अर्थात् जहाँ सुख है वहां दु:ख भी होता है, जहाँ शत्रु है वहां मित्र भी होते हैं, जहाँ मान है वहां अपमान भी होता है और जहाँ निन्दा वहां स्तुति भी होती है- प्रत्येक भाव के अस्तित्व के लिए उसके जोड़े विरोधी भाव का होना अनिवार्य है, ये परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं, इसलिए वास्तव में ये- एक ही वस्तु के अनेक कल्पित रूप हैं- इस तथ्य को अच्छी तरह समझकर इनमें से किसी की भी प्राप्ति होने पर अपने चित्त की समता अथवा शान्ति भंग न करना, जो एक परिस्थिति में सुख का कारण होता है, वही दूसरी परिस्थिति में दु:ख का कारण हो जाता है, और जो एक परिस्थिति में दु:ख का कारण होता है वही दूसरी परिस्थिति में सुख का कारण हो जाता है, जो एक परिस्थिति में शत्रु होता है वही दूसरी परिस्थिति में मित्र हो जाता है, और जो एक परिस्थिति में मित्र होता है वही दूसरी परिस्थिति शत्रु हो जाता है, जो लोग एक परिस्थिति में अपमान अथवा निन्दा करते हैं, वही लोग दूसरी परिस्थिति में मान और स्तुति करने लग जाते हैं, और जो लोग एक परिस्थिति में मान और स्तुति करते हैं, वही दूसरी परिस्थिति अपमान और निन्दा करने लग जाते हैं, इसलिए इन विरोधी भावों को तथ्यहीन समझकर, अपनी योग्यता के सांसारिक व्यवहार सबके साथ यथायोग्य श्रम पूर्वक करने में इन द्वन्द्वों से विचलित न होकर अन्त:करण की समता को विकसित किये जाने का प्रयास किया जाना चाहिए।

5.5 अहिंसा का मुख्य आधार-समता

समता का एक आधार है- सब जीवों के प्रति समता की अनुभूति। सब जीव शरीर, जाति, वर्ण आदि नानात्व से विभक्त बने हुए हैं। विभक्त में अविभक्त को खोजना अहिंसा का मुख्य आधार है। समतावादी दृष्टि का विकास हुए बिना यह खोज संभव नहीं बनती। महावीर भेद और अभेद- दोनों को एक साथ स्वीकार करते थे। केवल भेद और केवल अभेद- दोनों व्यवहार और तर्क से उलझे हुए हैं। भेद और अभेद का समन्वय एक समाधान है। भेद से अभेद खोजने पर ही समता का सिद्धान्त प्राणवान् बनता है।

मन की विषमता व्यावारिक जगत् में अनेक विषमताओं को जन्म देती है। व्यवहार और सिद्धान्त की दूरी अवीतराग मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है। बहुत लोग उस दूरी का पाटने का प्रयत्न ही नहीं करते। कुछ लोग उस दिशा में प्रयत्न करते हैं पर लक्ष्य बिन्दु तक पहुंचने में बहुत समय लग जाता है। आर्थिक विषमता मानसिक विषमता की एक निष्पत्ति है। समतावादी चेतना का विकास हुए बिना इस समस्या का समाधान संभव नहीं है। सब जीवों की समता की दुहाई देने वाला अपने लिए अतिरिक्त सुविधा चाहता है। जातिगत विषमता की पृष्ठभूमि में भी मानसिक विषमता पल रही है। व्यक्ति के मन में छिपा हुआ अंहकार अपनी उच्चता के आयाम खोजता है। दूसरों की निम्नता के बिना उच्चता अर्थवान नहीं होती। इसलिए वह जाति, रंग आदि-आदि के माध्यम से मद का पोषण करता है। समाज में विषमता पनप जाती है। महावीर द्वारा प्रतिपादित समता को व्यापक संदर्भ में देखा जाना चाहिए। अहिंसा की समझ के लिए यह बहुत आवश्यक है। यह विरोधाभास समता की समझ के द्वारा ही निरस्त हो सकता है। 'अनुत्तर साम्यमुपेति योगी' - योगी अनुत्तर साम्य को पाता है। साम्य का प्रयोग बहुत ही प्राचीन काल से चलता रहा है। जैनों की भाषा में अहिंसा और समता एक है। लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में जो सम रहे, वही अहिंसा की आराधना कर सकता है। राग-द्वेष आवेगात्मक प्रत्तियां हैं। इनसे परे रहने का जो भाव है- मध्यस्थता है, वही साम्य है।

5.6 सामाजिक समता

साम्यवाद आज के दलित-मानस का प्रिय शब्द है। साम्यवाद का कारण है- पूंजीवाद। दो-सौ वर्ष पहले पूंजीवाद इस अर्थ में रूढ़ नहीं था, जिस अर्थ में आज है। अठारहवीं (ई. 1761) सदी में भाप का आविष्कार हुआ। उसके साथ-साथ पूंजीवाद आया। इससे पहले यातायात के साधन क्षुद्र वेग वाले थे। संग्रह के साधन सुलभ नहीं थे, सहज भाव से विकेन्द्रित स्थिति थी। वाष्प-युग ने यन्त्र-युग का रूप लिया। वर्तमान युग यंत्र युग है। इस युग में यातायात के साधन वेगवान बने और बनते जा रहे हैं। विश्व सिमट गया। यन्त्रों द्वारा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कार्य होने लगा। कार्य करने की क्षमता मनुष्यों से हटकर मशीनों में आ गई। पूंजी का संग्रह सुलभ हो गया। व्यक्ति-व्यक्ति के पास जो सम्पत्ति थी, वह कुछ ही व्यक्तियों के पास चली गई। सहज ही दो वर्ग बन गये। पूंजीपति और मजदूर। पहले बड़े नगर कम थे, गांव अधिक। मिलों ने गांवों को खाली किया। नगरों की आबादी बढ़ गई। हजारों मजदूर एक साथ काम करने लगे। इस परिस्थिति से उन्हें मिलने, संगठित होने और वर्ग बनाने का अवसर मिला। वर्ग-संघर्ष का बीज जड़ पकड़ गया।

पूंजीवाद का परिणाम है- बेकारी और उत्पादन की कृत्रिम आवश्यकता। मनुष्य का काम यन्त्र करने लगे तब हजारों का जीवन साधन एक व्यक्ति के पास आ गया। एक धनी और हजारों बेकार हो गए। संघर्ष की जड़ मजबूत हो गई। वही आगे जा साम्यवाद के रूप में फलित हुई। पुराने पूंजीपतियों की धारणा यह थी कि यह परम्परा इसी प्रकार चलती रहेगी। पूंजीपति और मजदूर इसी प्रकार बने रहेंगे। मार्क्स ने इस दृष्टिकोण से भिन्न विचार प्रस्तुत किया। वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहलाता है। उसके अनुसार यह विश्व परिवर्तनशील है। मूलावस्था में विरोधी तत्त्व समवेत रहते हैं। जिस समय जिसकी प्रबलता होती है, उस समय वह व्यक्त हो जाता है। एक से बाद दूसरी अवस्था आती है, दूसरी के बाद तीसरी। दूसरी अवस्था पहली का परिणाम और तीसरी विपरिणाम का विपरिणाम होती है। यह क्रम चलता रहता है। पहजे पूंजीवाद थी, बेकारी बढ़ी, शोषण हुआ। शोषण से क्षोभ उत्पन्न हुआ- पूंजीवाद का ढांचा लड़खड़ाने लगा। प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद को जन्म मिला। आर्थिक दृष्टि से साम्यवाद का स्वरूप उत्पादन और वितरण में समाया हुआ है। इन पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो- यही है साम्यवाद का आर्थिक दृष्टिकोण।

कुछ पुराने दार्शनिकों ने कहा- सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व न हो। किन्तु सम्पत्ति का वितरण कैसे किया जाए, यह उन्होंने नहीं बतलाया। इसलिए आज के चिन्तक उसे दार्शनिक साम्यवाद कहते हैं। मार्क्स ने सम्पत्ति के वितरण की व्यवस्थित पद्धति बतलायी। इसलिए उसका साम्यवाद वैज्ञानिक साम्यवाद कहलाता है। उसने एक सीमा तक सम्पत्ति के वैयक्तिक प्रभुत्व को राष्ट्रीय प्रभुत्व के रूप में बदल दिया।

अणुव्रत का अभियान वैयक्तिकता से राष्ट्रीयता और की ओर नहीं है। वह असंग्रह की ओर है। यह आर्थिक समस्या का समाधान नहीं है, किन्तु अर्थ के प्रति होने वाले आकर्षण को तोड़ने की प्रक्रिया है। लोग कहते हैं- अपरिग्रह का उपदेश हजारों क्यों से चल रहा है, पर स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। तर्क सही है। वैज्ञानिक साम्यवाद के द्वारा समाज की अर्थ-व्यवस्था में जो परिवर्तन आया है, वह अपरिग्रह के उपेदश से नहीं आ सका है। इसका कारण दोनों का भूमिका भेद है। साम्यवाद का उद्देश्य है-समाज के अर्थतन्त्र का परिवर्तन और अपरिग्रह का उद्देश्य है- व्यक्ति की आत्मा का परिशोधन या पदार्थ संग्रह की मूर्च्छा का उन्मूलन। इनकी प्रक्रिया भी एक नहीं है। साम्यवादी अर्थव्यवस्था राज्य-शक्ति के द्वारा होती है और आत्मा का परिशोधन व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन से होता है। अर्थव्यवस्था सामाजिक हो सकती है पर आत्मा का शोधन वैयक्तिक ही होता है। संक्षेप में कहा जाये तो अपरिग्रह भोग-त्याग का प्रेरक है और साम्यवाद भोग की संतुलित व्यवस्था का प्रेरक। अपरिग्रह की एक लम्बी परम्परा है, जिसे मान कर लाखों-करोड़ों व्यक्ति आकिंचन्य का व्रत ले चुके हैं और उसका धागा आज भी टूटा नहीं है। साम्यवाद ने पूर्ण संग्रह की ओर किसी को प्रेरित किया हो, ऐसा नहीं लगता।

अर्थव्यवस्था के परिष्कार में साम्यवाद या उसके पार्श्वों को छूती हुई दूसरी जनतन्त्र-प्रणालियां सफल हुई हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु इनके द्वारा मानव की आवेगात्मक वृत्तियाँ परिष्कृत हुई हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। वृत्तियों का परिष्कार पदार्थ-संग्रह को अनिष्टकर मानने पर ही हो सकता है। अध्यात्मवाद इसी दिशा का नाम है। संग्रह का मूल भोग-वृत्ति में है। समाज की जितनी व्यवस्थाएं हैं, वे मात्रा-भेद से भोग-वृत्ति के परिष्कार हैं। अर्थ-तन्त्र उसका साधन है। अध्यात्मवाद का मूल त्याग में है। संग्रह-मात्र पाप है, भले ही फिर वह वैयक्तिक हो या सामाजिक। जितना परिग्रह उतना बन्धन, जितना बन्धन उतना मोह और जितना मोह उतनी मिथ्या धारणाएं; यह एक क्रम है, जो मनुष्य में भटकने की तर्क-बुद्धि पैदा करता है। अर्थ-तंत्र की परिक्रमा करने वाले सारे वाद भौतिक विकास को वैज्ञानिक और आत्मिक विकास को अवैज्ञानिक मानकर चल रहे हैं। परिष्कृत अर्थव्यवस्था ने भी संघर्ष की दिशा बदली हो, ऐसा नहीं लगता। विकास को मापा जाता है- पदार्थ से, शस्त्र से और सेना से।

सामाजिक प्राणियों के लिये सामाजिक-विकास अपेक्षित नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। यह भी सच है- अपरिग्रह से समाज का भौतिक विकास नहीं होता। वह आत्मा के विकास का पथ है। सामाजिक जीवन के लिये भौतिक पक्ष और उसकी समृद्धि के लिए परिग्रह आवश्यक माना जाता रहा है। परिग्रह इच्छा है, पदार्थ नहीं। इच्छा जुड़ती है, वह परिग्रह बन जाता है। इच्छा का नियन्त्रण किया जा सकता है- पदार्थ का नहीं। सामाजिक प्राणियों के लिए अपरिग्रह का अर्थ है-इच्छा-परिमाण। जीवन-यापन के दो विकल्प हैं- महाआरम्भ और महापरिग्रह तथा अल्पारम्भ और अल्पपरिग्रह। आज की भाषा में बड़ा उद्योग और अपार संग्रह तथा छोटा उद्योग और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समिति संग्रह। उद्योग के केन्द्रीकरण से अर्थतन्त्र विकृत होता है। यह व्यावहारिक दोष है। उसका आध्यात्मिक दोष है– भोगवृद्धि। भोग के लिए प्रचुर परिग्रह चाहिये और उसके लिये बड़ा उद्योग। यह क्रम जीवन के दोनों, भौतिक और आध्यात्मिक, पक्षों को जटिल बनाने वाला है। उद्योग के विकेन्द्रीकरण या अल्पीकरण का आधार अल्प–भोग है। अणुव्रत–आन्दोलन की आत्मा भोग–त्याग या संयम है। इसीलिए यह आध्यात्मिक है। भारत का मानस निरकाल से आध्यात्मिक रहा है। भारतीय लोग जो शांतिप्रिय हैं, उसका कारण उनकी आध्यात्मिक परम्परा है। आर्थिक साम्य सुख–सुविधा के साधन प्रस्तुत कर सकता है। आध्यात्मिक साम्य शांति या मानसिक–संतुलन का साधन है।

विश्व के सभी व्यक्ति एक विश्व–समाज के समान सदस्य हैं। व्यक्ति की योग्यता के मापदण्ड, गुण, प्रतिभा, ज्ञान, कर्मकौशल, श्रम–शक्ति एवं निष्ठा माने जाने चाहिए, लिंग, जाति, कुल, गोत्र, वर्ण, सम्प्रदाय, क्षेत्र आदि नहीं। समस्त मानव, जिनका आज अस्तित्व है, 'एकल स्पीशी होमोसेपियन्स' हैं और एक सामान्य स्कन्ध से प्राप्त हुए हैं। मानव समाज में जो विभिन्न 'प्रजातियाँ' मिलती हैं, उनकी परस्पर भिन्नता का कारण शारीरिक भेद है। प्रजातियों के शारीरिक भेद मूलत: आनुवंशिक रचना के कारण तथा अशंत: परिवेशजन्य होते हैं। हम सबको यह बराबर ध्यान रखना चाहिए कि कोई उत्तम अथवा निम्न प्रजाति नहीं है। किसी 'शुद्ध प्रजाति' की उपस्थिति का कोई प्रमाण नहीं है, यह धारणा कि प्रजातीय सम्मिश्रण से हानिकारक परिणाम निकलते हैं, वैज्ञानिक दृष्टि से अप्रमाणिक हैं।

समाज को जाति, उपजाति, वर्णों आदि में बाँटकर मनुष्य–वर्गों के बीच में भेदक दीवारें खड़ी करने वाली व्यवस्था से समता पर आधारित समाज की रचना सम्भव नहीं है। अभिजातीय दम्भ, रंगभेद एवं जातीय पृथक्करण, प्रजातीय सर्वोच्चता, दास–प्रथा, बँधुआ मजदूर प्रथा आदि दुष्प्रवृत्तियों एवं कुप्रथाओं का समूल विनाश किये बिना सुखी एवं समृद्धशील समाज स्थापित नहीं हो सकता। समाज में धार्मिक चेतना के विकास के साथ सम्प्रदायवाद का अन्त आवश्यक है। धर्म–भावना से चेतना का शुद्धीकरण होता है। वृत्तियों का उन्नयन होता है। धर्म दिखावा नहीं, प्रदर्शन नहीं, रूढ़ियाँ नहीं, किसी के प्रति घृणा नहीं, मनुष्य–मनुष्य के बीच भेदभाव नहीं अपितु मनुष्य में मनुष्यता के गुणों की विकास शक्ति है, सार्वभौम चेतना का सत्–संकल्प है। जब धर्म 'सम्प्रदाय' हो जाता है तो मानवीय प्रगति में बाधक हो जाता है। इसी कारण सम्प्रदायवाद के नाम पर झगड़े होते हैं, शान्ति भंग होती है, युद्ध लड़े जाते हैं। धर्म सम्प्रदाय नहीं है। धर्म का अर्थ है– श्रेष्ठ आचरण। जीवन में जो धारण करना चाहिए, श्रेष्ठ आचरण करना चाहिए, नैतिक मूल्यों को अपने जीवन–व्यवहार में उतारना चाहिए– वही धर्म है। अहिंसा की ज्योति से मर्यादित एवं संचालित सम्प्रदायों से निरपेक्ष धर्म चेतना का विकास होना स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक है। धर्म के नाम पर जब अनेक सम्प्रदाय बन जाते हैं, धर्म के नाम पर जब धर्म के संगठन बन जाते हैं, तब 'एक धर्म', के अनुयायियों में अपने धर्म की श्रेष्ठता तथा 'दूसरे धर्म' के अनुयायियों के प्रति हीनता एवं घृणा के भाव पनपने एवं उभरने लगते हैं।

सामाजिक जीवन में सद्भावना के उदय एवं विकास के लिए आधारभूत शर्त यह है कि समाज के सदस्यों एवं संवर्गों में सह–अस्तित्व के सिद्धान्त की स्वीकृति हो तथा 'सापेक्षता' के भाव की स्थिति हो। शान्ति का आधार 'सुव्यवस्था' तथा सुव्यवथा का आधार 'सापेक्षता' है। शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व एवं विकास के लिए घटकों द्वारा निरपेक्ष अथवा आग्रहपूर्ण नीति का त्याग तथा सापेक्ष अथवा सहयोगपूर्ण नीति का वरण आवश्यक है। सह–अस्तित्व की परिपुष्टि के लिए आत्मतुल्यता एवं समभाव की विचारणा का पल्लवन आवश्यक है। अहिंसा के प्रवर्तकों ने इसी कारण समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखने तथा समस्त जीवों को समभाव से देखने का उपदेश दिया। उन्होंने प्रतिपादित किया कि किसी एक जाति में अन्य की अपेक्षा कोई आसाधारण विशेषताएँ नहीं होतीं। जाति और कुल से त्राण नहीं होता। प्राणी–मात्र आत्मतुल्य है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति को संसार के सभी प्राणियों को आत्मतुल्य मानना चाहिए, सबको आत्मतुल्य समझना चाहिए, सबके प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के लिए पृथ्वीलोक के भिन्न सामाजिक संवर्गों एवं राजनीतिक इकाइयों के बीच सद्भाव, समझदारी एवं सहयोग आवश्यक है। यह आवश्यक है कि सामाजिक धरातल पर आत्मतुल्यता एवं समता की भावना विकसित हो, राजनीतिक धरातल पर सभी परस्पर एक–दूसरे की स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता का आदर करें एवं एक–दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करें तथा आर्थिक धरातल पर देशों के बीच व्याप्त आर्थिक असन्तुलन एवं वैषम्य समाप्त हो।

5.7 आत्म–तुला का विस्तार

व्रत नहीं दीखते, व्रती का व्यवहार दीखता है। जो क्रूर नहीं हैं, उचित मात्रा से अधिक संग्रह नहीं करता है, अपने पड़ोसी या सम्बन्धित व्यक्ति से अनुचित व्यवहार नहीं करता है, अपने स्वार्थ को अधिक महत्त्व नहीं देता है, अपनी सुख–सुविधा और प्रतिष्ठा के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लिए दूसरों की हीनता नहीं चाहता है, दूसरों के बुद्धि-दौर्बल्य, विवशता से अनुचित लाभ नहीं उठाता है- थोड़े में नैतिकता का मूल्यांकन करते हुए अपने आप पर नियन्त्रण रखता है, ये वृत्तियाँ ही अणुव्रती होने का स्वयंभू प्रमाण हैं। व्रतों की साधना के बिना उनका स्वीकारमात्र इष्ट नहीं लाता। पहली मंजिल में केवल वस्तु का त्याग होता है। अंतिम मंजिल में वासना भी छूट जाती है। वस्तु-संग्रह के संस्कार भी मिट जाते हैं। व्यकित संस्कारों का पुतला होता है। उसमें सबसे अधिक घने संस्कार अपनी सुख-सुविधा के होते हैं, जिनका स्वार्थ-वृत्ति में पूर्ण आकलन हो जाता है। पदार्थ-वृत्ति के संस्कार स्वार्थ से कम होते हैं। पदार्थ की भी कई भूमिकाएं है- परिवार, जाति, समाज, प्रांत और राष्ट्र, फिर मनुष्य और फिर प्राणी-जगत। इनमें क्रमशः व्यापकता है। व्यक्ति का स्व जितना विशाल बनता है, उतनी ही वह स्वयं विशाल बन जाता है। यह आत्मौपम्प-बुद्धि या आत्म-तुला का विस्तार-क्षेत्र है। पहले-पहले यह अपने पारिवारिक जनों को अपने समान समझने लगा। फिर उसने क्रमशः अपनी जाति, समाज, प्रांत और राष्ट्र के व्यक्तियों को अपने समान माना। आगे जाकर मानव-मानव भाई-भाई का स्वर गूंजा। अंतिम चरण में ''प्राणीमात्र समान है', यह बुद्धि में समा गया।

समाज में आत्मौपम्य बुद्धिवाद फैला हुआ है, पर आत्मौपम्य बुद्धि से फलित होने वाले स्वार्थ-त्याग के व्रत की साधना नहीं है। ज्ञान का आवरण दूर हुआ है, किन्तु मोह नहीं छूटा है। यथार्थ ज्ञान मोह के रहते हुए क्रियात्मक नहीं बनता, इसलिए एक कदम और आगे बढ़ाना होगा। जैसे अज्ञान को मिटाने का प्रयत्न किया, वैसे मोह को उखाड़ फेंकने की साधना करनी होगी। ऐसा किए बिना अन्याय और अप्रामाणिकता का अंत नहीं किया जा सकता। आत्म-तुला का संस्कार मोह से दबा रहता है, तभी व्यक्ति दूसरों का दमन, शोषण, उत्पीड़न करता है, उन्हें मारता है, सताता है, हानि पहुंचाता है। जो दूसरों में अपनी जैसी ही अनुभूति देखने लग जाए वह फिर किसी को न मार सकता है, न सता सकता है और न लूट सकता है। जातीय और राष्ट्रीय समानता की भावना के कारण कई राष्ट्रों का नैतिक बल बहुत ऊँचा है। बाहरी समानता का भाव भी इतना फल ला सकता है, तब भला अतिरिक्त समता की वृत्ति के महान परिणाम के बारे में कैसे संदेह किया जाए? आत्मिक समानता की वृति का उदय होने पर परिवार, जाति आदि के बाहरी भेद और भौगोलिक आदि कृत्रिम भेद-रेखाएं ही नहीं मिटती, उसका उन्माद भी मिट जाता है। उपयोगिता-पूरक भेद के रहने पर भी संताप बढ़ने का अवकाश नहीं रहना।

5.8 अहिंसक समाज

स्वतन्त्रता पश्चात महात्मा गांधी ने भारत के सन्दर्भ में जिस प्रकार एक अहिंसक समाज की परिकल्पना की थी, यद्यपि वह परिकल्पना पूर्णतः साकार न हो सकी, लेकिन इस दिशा में प्रयासों की कमी न रही। आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ एक अहिंसक समाज की परिकल्पना करते हैं, वस्तुतः अणुव्रत आन्दोलन समाज और व्यक्ति को निरपेक्ष नहीं बल्कि दो सापेक्ष इकाइयाँ मानता है। व्यक्ति समाज का घटक और समाज व्यक्ति के हितों का संरक्षक है। व्यक्ति और समाज के ये दोनों परिवर्तन शील सत्ताएं हैं। संस्कार, सिद्धान्त और परिस्थिति के आधार पर ये बदलते रहते हैं। सिद्धान्त और परिस्थिति समाजीकृत होते हैं, इसलिए इनका प्रभाव व्यापक होता है। संस्कार व्यक्तिगत होते हैं, इसलिए वे व्यक्ति को ही प्रभावित करते हैं। व्यक्ति के जीवन पर संस्कार, सिद्धान्त और परिस्थिति तीनों प्रभाव डालते हैं। अतः अणुव्रत आन्दोलन व्यक्ति में चरित्र-निर्माण करने, सिद्धान्तों के प्रति दृढ़ आस्था उत्पन्न करने तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अटल रहने हेतु भावनात्मक विकास पर बल देता है। व्यक्ति का भावनात्मक विकास करके ही मानव-धर्म का विकास किया जा सकता है। उसके भावनात्मक धरातल पर ही सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पक्षों को पल्लवित करने का कार्य अणुव्रत करता है।

अणुव्रत अनुशास्ता गुरुदेव श्री तुलसी व्यक्ति को साध्य तथा समाज और राष्ट्र को साधन नहीं मानते थे। वे अपने अणुव्रत आन्दोलन में व्यक्ति और समाज के मध्य इकाई और पूर्ण का संबंध मानते थे। वे व्यक्ति को नैतिक अभिकर्ता मानते थे, जैसा कि कांट ने माना था और अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से वे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करना चाहते थे, जिसमें उसका भावनात्मक विकास, मानसिक अनुशासन, व्रत-शक्ति का विकास और आत्म-निर्भरता में अभिवृद्धि संभव हो सके ताकि शोषण-विहीन समाज रचना की कल्पना साकार हो सके।

शान्तिपूर्ण अहिंसक सामाजिक संरचना की व्याख्या करते हुए जॉन गाल्ट्रंग ने कहा है कि एक सामाजिक तंत्र तब शांतिपूर्ण कहा जा सकता है, जबकि इसमें से प्रत्यक्ष या संरचनात्मक हिंसा का पूर्ण अभाव हो। प्रत्यक्ष हिंसा शारीरिक क्षति पहुंचाता है और संरचनात्मक हिंसा व्यक्ति को अपनी सम्पूर्ण विकास की उन सम्भावनाओं से वंचित करता है, जिसे वह अन्यथा प्राप्त कर सकता है। अणुव्रत आन्दोलन एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है, जिसके अहिंसा और अपरिग्रह आधार-स्तम्भ हो। जिसमें अल्पेच्छा और अपरिग्रह को प्रथम स्थान प्राप्त हो, अर्थ ओर सत्ता के विकेन्द्रीकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण हो, तथा उस समाज में श्रम और स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अणुव्रत आन्दोलन शोषण–मुक्त समाज संरचना हेतु अहिंसा, अपरिग्रह, इच्छा–संयम और अर्थ व सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक मानता है। अहिंसा द्वारा ही समाज में व्याप्त विभेदक तत्त्वों के प्रति सहिष्णुता, समभाव और बंधुत्व की भावना उत्पन्न होती है और उनमें परस्पर सामंजस्य की स्थापना की जा सकती है। इसी प्रकार अणुव्रत आन्दोलन समाज व्यवस्था में परिग्रह को महत्त्व नहीं देता। परिग्रह शोषण को जन्म देता है तथा शोषण सामाजिक तनाव और हिंसा का कारण बनता है। अत: यह आन्दोलन परिग्रह के स्थान पर अल्प–परिग्रह या संग्रह संयम को प्रधानता देता है। अहिंसा समाज की कल्पना करते हुए गांधीजी ने इच्छाओं के सीमाकरण एवं अल्पीकरण को आधार तत्व माना है। नवीन समाज–निर्माण व्यवस्था में अणुव्रत–आन्दोलन अर्थ और सत्ता के केन्द्रीकरण का, फिर चाहे वह व्यक्तिगत स्तर पर हो या राष्ट्रीय स्तर पर, प्रश्रय नहीं देता है, क्योंकि अर्थ और सत्ता का केन्द्रीकरण भी शोषण और समस्याओं को जन्म देता है।

अणुव्रत आन्दोलन अहिंसा–प्रधान संस्कृति को प्रतिष्ठित करने के लिए पंचसूत्री योजना का कार्यक्रम प्रस्तुत करता है।

1. सम्यक् दर्शन
2. सम्यक् संकल्प
3. सम्यक् आचरण
4. मानव की नव–रचना का प्रयत्न
5. अध्यात्म का वैज्ञानिक अनुसंधान

अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से एक ऐसे समाज की परिकल्पना की गई, जिसमें विविध जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों, वर्णों इत्यादि के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, परन्तु इन तत्वों का मानव–जाति, मानव–धर्म, मानव–सम्प्रदाय, मानव–भाषा इत्यादि तत्वों द्वारा परस्पर समन्वय स्थापित कर दिया है। मनुष्य अपनी जाति, धर्म, संप्रदाय, भाषा और राष्ट्र में रहकर भी दूसरी जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों और राष्ट्रों को समभाव से समान समझता है। कहीं पर भी किसी भी प्रकार का भेदभाव यह आन्दोलन स्वीकार नहीं करता। व्यक्ति विभेदक तत्वों को गौण समझता है तथा मानव–धर्म और विश्व–शांति की बात करता है। यह आन्दोलन सभी धर्मों व सम्प्रदायों को सम्मान की दृष्टि से देखता है।

मानव और समाज को धर्म और सम्प्रदाय से रहित नहीं बनाता, बल्कि उनको उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण देता है। यह आन्दोलन वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रश्नों का उत्तर हिंसा में नहीं, बल्कि अहिंसा में देता है। यह परस्पर विचार–विमर्श, सहयोग, समन्वय और सहिष्णुता के द्वारा प्रश्नों का समाधान करता है। अन्याय, शोषण और अत्याचार का सामना अहिंसात्मक अस्त्रों अर्थात् अहिंसात्मक प्रतिरोध द्वारा करने का आह्वान करता है। अहिंसात्मक प्रतिरोध में गाँधीजी के अस्त्रों सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, धरना, शांतिपूर्ण प्रदर्शन इत्यादि को सम्मिलित करता है।

यह आन्दोलन समाज में हिंसा को महत्त्व नहीं देता। हिंसा से हिंसा को शांत नहीं किया जा सकता। हिंसा मनुष्य को स्वाभाविक रूप से प्रिय नहीं है, क्योंकि हिंसा अन्तत: अहिंसा ही अवकाश देती है। आन्दोलन पशु, वनस्पति और पर्यावरण को भी मानव–समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। उनके प्रति भी इनका दृष्टिकोण अहिंसा का रहता है।

आन्दोलन का प्रारम्भिक लक्ष्य तात्कालीन प्रचलित समाज में संशोधन करने का रहा। समाज को विकृत करने वाले तत्वों, भ्रष्ट आचरणों, अन्धविश्वासों व अर्थहीन रूढ़ परम्पराओं के विरूद्ध उसने एक सशक्त आवाज उठाई और समाज में नैतिक चेतना के वातावरण का निर्माण किया। उसी प्रक्रिया के मध्य अनुभव के आधार पर पाया कि संशोधन या सुधार की बात का महत्त्व आवश्यक है, किन्तु व्यवस्थागत कठिनाइयों के बीच संशोधन या सुधार की बात का प्रभाव चिर–स्थायी रहना कठिन है तथा कोई भी आन्दोलन तब तक अपूर्ण ही होता है, जब तक वह जीने का एक समाज दर्शन प्रस्तुत न करे।

इन्हीं प्रश्नों के मंथन से शोषण विहीन अहिंसक समाज रचना की परिकल्पना सामने आयी। शोषण–विहीन समाज रचना के अभाव में सामाजिक मूल्यों में संघर्ष होना अनिवार्य है। इस स्थिति में सर्वोपरि महत्त्व नैतिक–मूल्यों का नहीं होता, व्यवस्थागत मूल्यों का होता है। मनोभूमिका और व्यवस्था यदि अलग–अलग पड़ जाते हैं तो मनोभूमिका पर किया गया कार्य समाज की भूमिका तक आते–आते क्षीण हो जाता है। अणुव्रत–आन्दोलन इन दोनों आधारों में समन्वय लाने का सफल प्रयास करता है। शोषण–विहीन अहिंसक समाज का स्वरूप क्या हो, उसको लेकर अणुव्रत से सामने रेखाएं बहुत स्पष्ट हैं।

1. वह समाज अल्पेच्छा और अल्पपरिग्रह को पहला स्थान देगा। अल्पेच्छा से तात्पर्य है कि उसकी आकांक्षाएं निरंकुश नहीं हो। आकांक्षाओं का विस्तार संग्रह या परिग्रह का कारण बनता है और संग्रह शोषण का कारण बनता है, इसलिए अणुव्रत इच्छा संयम पर बल देता है। इच्छा, संयम के साथ संग्रह–संयम स्वयं हो जाएगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. अणुव्रत अर्थ और सत्ता के केन्द्रीकरण को, फिर चाहे वह शक्तिगत स्तर पर हो या राष्ट्रीय स्तर पर, प्रश्रय नहीं देता। अर्थ और सत्ता का केन्द्रीकरण ही शोषण और संग्रह की समस्याओं को जन्म देता है।

3. उस समाज में श्रम और स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा होगी। व्यक्ति आत्म-निर्भर बने और श्रम का मूल्यांकन सामाजिक स्तर पर हो, यह प्रयत्न किया जायेगा।

4. संग्रह करने वालों को उसमें सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। मनुष्य बहुधा अधिक संग्रह प्रतिष्ठा पाने के लिए ही करता है। आवश्यक-पूर्ति के लिए मनुष्य को अधिक धन अपेक्षित नहीं होता। लोगों के मन में संग्रह के प्रति जो आकर्षण है, उसके पीछे सामाजिक प्रतिष्ठा की भावना ही काम कर रही है। अहिंसक समाज का आधार इसी भावना का अभाव होगा।

5. उस समाज के आधार में अहिंसा होगी। यह विश्वास प्रबल होगा कि समस्या का सही समाधान अहिंसा में ही है। अपनी हर समस्या को अहिंसा के माध्यम से ही सुलझाने का प्रयत्न होगा।

इस प्रकार वह एक संयम-प्रधान समाज होगा। निरंकुश मनोवृत्ति, संग्रह और परिग्रह के प्रति आकर्षण, अर्थ और सत्ता का केन्द्रीकरण, अर्थ की प्रतिष्ठा, हिंसा ओर शक्ति-बल का इसमें कोई स्थान नहीं होगा।

5.9 अहिंसक समाज-संरचना की संभावना

अहिंसक समाज और हिंसक समाज- ये दोनों सापेक्ष शब्द है। कोई भी समाज ऐसा नहीं हो सकता, केवल हिंसा या अहिंसा के आधार पर चल सके। जीवन-निर्वाह के लिए हिंसा करनी ही पड़ती है। अपनी और अपने व्यक्तियों तथा वस्तुओं की सुरक्षा के लिए हिंसा की बाध्यता आती है। इस स्थिति में विशुद्ध अहिंसक समाज की कल्पना कैसे की जा सकती है?

समाज की रचना अहिंसा के आधार पर हुई है। यदि मनुष्य हिंसक जानवरों की भांति एक-दूसरे को खाने दौड़ते तो समाज का निर्माण ही नहीं होता। एक-दूसरे के हितों में बाधा न डालने का समझौता सामाजिक जीवन का सुदृढ़ स्तम्भ है। अतः विशुद्ध हिंसक समाज की भी कल्पना नहीं की जा सकती। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है- समाज हिंसा और अहिंसा दोनों के योग से चलता है। कोरी अहिंसा के बल पर वह चल नहीं पाता। और कोरी हिंसा के बल पर वह टिक नहीं पाता। इस दुनिया में वही समाज अपना अस्तित्व सुरक्षित रख सकता है, जो शक्तिशाली है। शक्ति के स्रोत तीन है- अर्थ, सत्ता और धर्म।

अर्थ और सत्ता- दोनों हिंसा के आधार पर चलते हैं और जीवन की प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। धर्म का आधार है अहिंसा। वह जीवन को उच्चता प्रदान करती है। समाज-रचना के मूल में अर्थ और धर्म दोनों हैं। पर सामाजिक व्यक्ति को अर्थ जितना अनिवार्य लगता है, उतना धर्म नहीं लगता। उसका प्रथम आकर्षण अर्थ के प्रति, दूसरा सत्ता के और तीसरा धर्म के प्रति है। इसलिए अर्थ और सत्ता के पास जितना शक्तिसंचय है, उतना धर्म के पास नहीं है।

5.10 हिंसक समाज और अहिंसक समाज

इन दोनों को परिभाषा में बाँधना, इनके बीच भेद-खींचना सरल कार्य नहीं है, फिर भी व्यवहार-संचालन के लिए ऐसा करना ही होगा। जिस समाज में अर्थ और काम की प्रधानता और आचार-धर्म की गौणता या अवहेलना होती है वह हिंसक समाज कहलाता है। जिस समाज में अर्थ, काम और धर्म- तीनों की संतुलित उपासना होती है, वह अहिंसक समाज कहलाता है। हिंसक समाज में अर्थ और सत्ता अहिंसा पर आवरण डाल देते हैं। अहिंसक समाज में अर्थ और सत्ता अहिंसा से प्रभावित होते हैं। भारतीय समाजशास्त्रियों ने पुरुषार्थ चतुष्टयी का प्रतिपादन किया था, जैसे- अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। अर्थ समाज के भौतिक विकास का प्रमुख साधन है। काम उसकी प्रेरणा है। अर्थ और काम का एक युगल है। धर्म समाज के आध्यात्मिक विकास का मुख्य साधन है। मोक्ष उसकी प्रेरणा है। धर्म और मोक्ष का एक युगल है। प्रथम युगल हमारी भौतिक कक्षा का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा आध्यात्मिक कक्षा का, दोनों युगलों का अपना-अपना स्थान और अपना-अपना महत्त्व है। अर्थ की अति का तात्पर्य है- काम और धर्म की क्षति। काम की क्षति का तात्पर्य है- अर्थ और धर्म की क्षति। धर्म की क्षति का तात्पर्य है- अर्थ और काम की क्षति। समाज को इन सबकी अपेक्षा है, इसलिए सामाजिक भूमिका में किसी एक को सर्वोच्च आसन नहीं दिया जा सकता। ऐसा अनुभव हो रहा है कि वर्तमान समाज ने अर्थ को अतिरिक्त मूल्य दिया है। इस अर्थ की प्रधानता से आज का समाज हिंसा के चक्रव्यूह में फंस गया है। हिंसक समाज में ये तत्त्व फलते-फूलते हैं :

1. अर्थ और सत्ता का केन्द्रीकरण।
2. स्वार्थ का उन्मुक्त प्रयोग।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. गलत मूल्यों की स्थापना। 4. श्रम का अवमूल्यन।
5. नैतिकता का अवमूल्यन।

अहिंसक समाज में इन तत्त्वों को विकसित होने का अवसर मिलता है:

1. अर्थार्जन के साधनों की शुद्धि 2. सत्ता का विकेन्द्रीकरण।
3. मूल्यों की यथार्थता। 4. श्रम का उचित मूल्यांकन।
5. नैतिकता सम्बन्धी विवेचन यहां अपेक्षित है। 6. कर्त्तव्य की प्रेरणा।
7. स्वार्थ का विसर्जन या स्वार्थ-सन्तुलन।

5.11 व्यक्ति और समाज

व्यक्ति और समाज, ये दो सापेक्ष इकाइयां हैं। व्यक्ति समाज का घटक और समाज व्यक्ति के हितों का संरक्षक है। व्यक्ति-विहीन समाज अस्तित्व में नहीं आता और समाज-विहीन व्यक्ति अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख पाता। व्यक्ति का जिस दिन समाजीकरण हुआ, उसी दिन उसने विकास की दहलीज पर पैर रख दिए। वह प्रस्तर-युग से आज अणु-युग तक पहुंच गया है। व्यक्ति और समाज- ये दोनों परिवर्तनशील सत्ताएं हैं। संस्कार, सिद्धान्त और परिस्थिति के आधार पर ये बदलते रहते हैं। सिद्धांत और परिस्थिति समाजीकृत होते हैं, इसलिए इनका प्रभाव व्यापक होता है। संस्कार व्यक्तिगत होते हैं, इसलिए वे व्यक्ति को ही प्रभावित करते हैं। व्यक्ति के जीवन पर संस्कार, सिद्धान्त और परिस्थिति- तीनों प्रभाव डालते हैं। समाज को प्रभावित करने वाले दो तत्त्व हैं- सिद्धान्त और परिस्थिति।

कुछ दार्शनिक मानते हैं कि परिस्थिति के परिवर्तन से समाज परिवर्तित होता है और समाज के परिवर्तन से व्यक्ति परिवर्तित होता है। व्यक्ति और समाज के बाह्य व्यवहार के परिवर्तन में यह बात घटित हो सकती है, किन्तु व्यक्ति के आंतरिक परिवर्तन में यह घटित नहीं होती। साम्यवादी देशों में एक विशेष सिद्धान्त और परिस्थिति का निर्माण हुआ है। उनके अनुसार वहां अर्थ पर होने वाला व्यक्तिगत स्वामित्व प्रतिबद्ध है। क्या इस प्रतिबद्धता को साम्यवादी देशों की जनता ने हृदय से मान्यता दी हैं? क्या उनके व्यक्तिगत स्वामित्व के संस्कार बदल गए हैं? क्या वहां आर्थिक घोटाले नहीं होते? क्या कोई साम्यवादी देश यह दावा कर सकता है कि उसकी जनता में अनैतिकता या भ्रष्टाचार सर्वथा नहीं है? यदि ऐसा हो तो मानना चाहिए कि साम्यवाद मनुष्य के आंतरिक परिवर्तन में सफल हुआ है। यदि ऐसा नहीं है और समय-समय पर प्राप्त संवादों से यह ज्ञात होता है कि ऐसा नहीं है, तब मानना चाहिए कि साम्यवाद ने दण्डशक्ति को प्रखर बनाकर मनुष्य की प्रकृति को बाध्य कर रखा है, किन्तु उसे बदलने में सफल नहीं हुआ है। मनुष्य की प्रकृति को बदलने की क्षमता यदि किसी में है तो वह अहिंसा में ही है, अन्य किसी व्यक्ति में नहीं है।

अहिंसा व्यक्ति की उन्मुक्त स्वतन्त्रता है। जो व्यक्ति उसको हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से स्वीकार करता है वह परिस्थिति का सामना कर लेता है, किन्तु अनैतिक आचरण नहीं करता या कर ही नहीं सकता। इसका हेतु है करुणा का विकास, आत्मौपम्य की भावना का विकास। जिसके अन्त:करण में करुणा नहीं होती, वह सही अर्थ में साम्यवादी या समाजवादी हो सकता है, यह समझना कठिन है और यह भी सच है कि राजनीतिक साम्यवाद की मर्यादा में मानवीय करुणा को वह स्थान नही मिल सकता जो सत्ता-संग्रह को मिलता है। पूंजीवादी समाज अर्थशक्ति से उत्पन्न क्रूरता से पीड़ित है तो साम्यवादी समाज सत्ताशक्ति से उत्पन्न क्रूरता से पीड़ित है। मानव के प्रति करुणा को प्राथमिकता कहीं भी प्राप्त नहीं है। यह केवल अहिंसक समाज में ही हो सकती है।

अहिंसक समाज में अर्थ और सत्ता का मूल्य सर्वोपरि नहीं होगा। उसमें सर्वोपरि मूल्य होगा मानवता का जो कि अहिंसक समाज की संभावना को प्रखर करेगा, किन्तु भिन्नताओं के परिवेश में क्या सामंजस्य बिठाया जा सकता है? सामंजस्य अहिंसक समाज स्थापना की पूर्व-अपेक्षा स्वीकार की जा सकती है क्योंकि सामाजिक जीवन समस्या है-व्यक्ति की विभिन्नता। यदि सब एक प्रकार के होते तो एक-सा चिंतन, एक-सा जीवन, एक-सा रहन-सहन, एक-सी जीवन प्रणाली, एक-सी राजनीतिक प्रणाली और एक ही धार्मिक प्रणाली होती, पर इन सबमें विभिन्नता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी पृथक् मान्यताएं रखता है। जीवन की प्रणलियां भिन्न-भिन्न हैं और सबका दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न है। इसलिए जहाँ मतभेद होता है, वहां मनभेद भी आ टपकता है।

दो प्रकार की ग्रन्थियां हैं- एक मतभेद की ग्रन्थि और दूसरी मनभेद की ग्रन्थि। इन दोनों ग्रंथियों से समाज संत्रस्त है। जातीयता और सांप्रदायिकता दु:ख का एक कारण है और इससे अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याएं पैदा हो जाती हैं। मनोविज्ञान सामूहिक तनाव की बात करता है। समाज के द्वारा समूह के द्वारा जो तनाव पैदा किया जाता है उसमें राजनीतिक कारण भी हैं, समाज व्यवस्था भी एक कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, आर्थिक व्यवस्था भी एक कारण है और वैज्ञानिक कारण भी हैं। थोड़ा-सा मतभेद होता है, घृणा पैदा हो जाती है, द्वेष पैदा हो जाता है। ये मनोवैज्ञानिक कारण सबसे अधिक भयंकर होते हैं।

5.12 विरोध : समाज की प्रकृति

दर्शनशास्त्र में विरोध के तीन कारण बतलाए गए हैं- प्रतिबध्य-प्रतिबंधक, वध्य-वधक और सहानवस्थान।

एक विरोध है- प्रतिबध्य-प्रतिबंधक का। प्रतिबन्धक शक्ति आती है और प्रतिबध्य में रुकावट पैदा हो जाती है। दोनों में विरोध है। आग का काम है जलाना किन्तु प्रतिबन्धक शक्ति पैदा हो गई तो वह जला नहीं पाएगी।

दूसरा विरोध है- वध्य-वधक का। चूहे और बिल्ली में एक शाश्वत प्रकृतिगत विरोध है। यह वध्य-वधक भाव का विरोध है।

तीसरा विरोध है- सहानवस्थान का। पानी और आग में सहानवस्थान विरोध है। दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

विरोध समाज की प्रकृति है, व्यक्ति की प्रकृति है। विरोध के वातावरण में व्यक्ति पलता चला आ रहा है। इन विरोधों के कारण आज काफी जटिलताएं पैदा हो रही हैं। सारा संसार अनेक समस्याओं का सामना कर रहा है। क्या इन विरोधों को मिटाया जा सकता है? क्या समस्या का कोई समाधान है? हमारे सामने यह एक प्रश्न है।

5.13 विरोध परिहार का मार्ग : अनेकान्त

अनेकान्त में इस विरोध के परिहार का मार्ग उपलब्ध है। उसका एक सूत्र है- सर्वथा विरोध और सर्वथा अविरोध जैसा दुनिया में कुछ भी नहीं है। सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद जैसा दुनिया में कुछ भी नहीं है। जो भिन्न है वह अभिन्न भी है और जो अभिन्न है, वह भिन्न भी है। जो विरुद्ध है, वह अविरुद्ध भी है जो अविरुद्ध है, वह विरुद्ध भी है। ऐसी लक्ष्मण-रेखा नहीं खींची जा सकती कि मैं इससे सर्वथा भिन्न हूँ या इससे सर्वथा अभिन्न हूँ। इस आधार पर अनेकान्त का एक सिद्धान्त फलित हुआ- सह-अस्तित्व। प्राचीन भाषा है- सहानवस्थान। वर्तमान में कहा जा सकता है- एक साथ रहना और एक साथ जीना सह-अस्तित्व है। यह कैसे संभव है? अनेकांत की व्याख्या की जाए तो निष्कर्ष होगा- सह-अस्तित्व का सिद्धान्त अनेकांत की मूल प्रकृति है।

अनेकान्त का पहला बिन्दु है- दो विरोध युगलों के अस्तित्व का स्वीकार। इस दुनिया में जितने पदार्थ हैं, वे सब विरोधी युगल हैं। यह अनेकान्त की प्रथम स्थापना है। दर्शन शास्त्र में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक माना जाता है। जैन दर्शन भी वस्तु को अनन्तधर्मात्मक मानता है। दूसरे दर्शन भी उसे अनन्तधर्मात्मक मानते हैं। अनन्त धर्म- इसका तात्पर्य है अनन्त विरोध युगलों का स्वीकार। यह जैन दर्शन की अपनी मौलिक विशेषता है। जो अनन्त धर्म हैं, वे सब विरोधी जोड़े हैं, विरोधी युगल हैं।

5.13.1 अनेकान्त का अभ्युपगम

प्रश्न उत्पन्न होता है- जब सारा संसार विरोधी युगलों में समाया हुआ है तो संसार का काम कैसे चलेगा? प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है अनित्य भी है, एक जैसा भी है, भिन्न भी है, भेदात्मक भी है, अभेदात्मक भी है तो फिर विश्व की व्यवस्था कैसे चलेगी? अनेकांत का यह स्पष्ट अभ्युपगम है- जो विरोधी युगल नहीं होता, उसका अस्तित्व ही नहीं होता। जिसका अस्तित्व होगा, वह विरोधी ही होगा, विरोधी युगल ही होगा। अज्ञान के कारण हम इस सचाई तक नहीं पा रहे हैं। बहुत बार मनुष्य अज्ञान में होता है और वह मूल स्थिति को समझ नहीं पाता है।

अनेकान्तवाद का स्वीकार है- जहाँ-जहाँ विरोध है वहां-वहां अविरोध भी समाया हुआ है। विरोध और अविरोध को कभी कम नहीं किया जा सकता। यह ऐसा जोड़ा नहीं है, जो कभी कट जाता है, कभी रह जाता है। यह शाश्वत जोड़ा है, शाश्वत युगल है। दोनों अमर और शाश्वत हैं। न कभी विरोध समाप्त होता है, न कभी अविरोध समाप्त होता है। दोनों निरन्तर साथ-साथ बने रहते हैं। इस स्थिति में ही सह-अस्तित्व फलित होता है। एक साथ रहना और एक साथ जीना- इसका अर्थ है, दो विरोधी एक साथ रह सकते हैं। प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी धर्मों का सहानवस्थान है। मूल बात है कि दुनिया में सर्वथा विरोध या सर्वथा अविरोध जैसा कुछ भी नहीं है। विरोध और अविरोध का जोड़ा शाश्वत है, चिरंतन है। प्रत्येक पदार्थ भेद और अभेद, विरोध और अविरोध का संगम है। यह सह-अस्तित्व की चर्चा का दार्शनिक संदर्भ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.13.1.1 सह-अस्तित्व के तीन सूत्र : व्यवहार के सन्दर्भ में सह-अस्तित्व के तीन सूत्र हैं - आश्वास, विश्वास और अभय। जैन आगम प्रश्नव्याकरण में अहिंसा के सात नाम बतलाए गए हैं। वे उसके प्रत्येक पहलू को प्रकट करने वाले नाम हैं। उनमें तीन नाम हैं - आसा, वीसासो, अभओ। सह-अस्तित्व सम्भव बनता है आश्वासन में। जहां आश्वासन है, एक व्यक्ति दूसरे से आश्वस्त है, कही भी अनाश्वासन जैसी बात नहीं हैं, वहां सह-अस्तित्व का विकास होता है। दूसरी बात है विश्वास की। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के प्रति विश्वास हो। तीसरी बात है अभय की। व्यक्ति तभी अभय बन सकता है जब दूसरा व्यक्ति विश्वस्त हो, विश्वासी हो। विश्वास तब जागता है जब आश्वासन मिलता है। आश्वास, विश्वास और अभय - ये तीनों जुड़े हुए हैं। जब ये तीनों स्थितियां निर्मित होती है, तब सह-अस्तित्व का सूत्र व्यवहार में प्रार्दुभाव होता है। जब अहिंसक समाज की उपर्युक्त पूर्व अपेक्षाएं पूर्ण हो जाती है, अहिंसक समाज की संभावना प्रबल होती है, किन्तु जब समाज का रूप अमूर्त्त होते हे भी मूर्त्त समस्याएं सामाजिक हिंसा एवं तनाव को जन्म देती है, इस स्थिति में अहिंसक समाज स्थापना की संभावना धूमिल न हो, समस्याओं का निदान एवं उन्मूलन हेतु सक्रिय प्रयास भी अपेक्षित है जिन पर विचार करना समीचीन प्रतीत होता है।

5.13.2 सामाजिक हिंसा एवं तनाव

प्रत्येक समाज का ढांचा कुछ ऐसे नियमों और मूल्यों पर आधारित होता है। जिनकी सहायता से उस समाज में रहने वाले व्यक्ति एक-दूसरे से अभियोजन कर सके और अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा कर सके। कभी-कभी सामाजिक परिवर्तन की दिशा में एक समाज के सदस्यों की आवश्यकताएं तथा आकांक्षाएं तो बदल जाती हैं, लेकिन सामाजिक ढ़ांचे में इसके अनुरूप परिवर्तन नहीं हो पाता। इसके फलस्वरूप सामाजिक ढ़ांचे में कुछ ऐसे अवरोध उत्पन्न हो जाते हैं, जो सम्पूर्ण सामाजिक सन्तुलन बिगाड़ देते हैं। इन अवरोध तत्वों को ही सामाजिक समस्या कहा जाता है। सैमुएल कोइंग ने अपनी पुस्तक समाजशास्त्र में सामाजिक समस्या को इस तरह परिभाषित किया है, ''सामाजिक समस्या उन परिस्थितियों अथवा दशाओं का नाम है, जिन्हें समाज हानिकारक मानता है तथा जिनमें सुधार की समाज को आवश्यकता है।'' इसी प्रकार प्रो. ग्रीन ने सामाजिक समस्या को सामाजिक मूल्यों तथा नैतिक नियमों के उल्लंघन के रूप को स्पष्ट किया है।

अत: सामाजिक समस्या का तात्पर्य उन परिस्थितियों अथवा दशाओं से है, जिन्हें एक समुदाय के अधिकांश व्यक्तियों द्वारा अपने सुस्थापित नियमों, सामाजिक मूल्यों तथा समूह-कल्याण के विरूद्ध माना जाता है और इसलिए इनका निराकरण करने का प्रयास किया जाता है।

5.13.3 सामाजिक हिंसा व तनाव से आशय

इसका आशय समाज के अन्दर व्याप्त तनावपूर्ण वातावरण से हैं अर्थात् इसमें जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों, राष्ट्रों इत्यादि के मध्य व्याप्त तनाव पूर्ण वातावरण को सम्मिलित किया गया है। जाति प्रथा, अस्पृश्यता, रंगभेद, सम्प्रदायवाद, धार्मिक कट्टरता, क्षेत्रवाद, भाषावाद, आतंकवाद, राष्ट्रवाद इत्यादि सामाजिक तनाव के कारक हैं। सामाजिक तनाव से सामाजिक व्यवस्था आंतरिक रूप से खोखली हो जाती है और मानवीय समाज-व्यवस्था विखंडित हो जाती है। ऐसी अवस्था में इसमें कूप मण्डूकता की स्थिति आ जाती है। समाज-परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर पाता है। उसका विकास अवरूद्ध हो जाता है। इस गत्यावरोध के चलते सामाजिक शक्ति प्रतिपक्ष के असितत्व को मिटाने हेतु विध्वंसात्मक रूप से काम में आती रहती है।

5.13.4 सामाजिक तनाव का प्रमुख कारण

समाज-विभेदक तत्वों का समाज एकत्व तत्त्वों पर हावी हो जाना यथा जाति, वर्ण, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय, देश, लिंग इत्यादि समाज विभेदक तत्व है। मानवता, सहिष्णुता, समानता, समभाव, मैत्री, बन्धुत्व, सहयोग इत्यादि समाज एकत्व तत्व है। समाज-विभेदक तत्व व्यक्ति को कूप मण्डूकता की स्थिति में ले जाते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति की मानसिकता संकीर्ण हो जाती है। वह अनेकातंवाद से एकांतवाद, उदारवाद से अनुदारवाद तथा अनाग्रहवाद से आग्रहवाद की ओर प्रवृत्त हो जाता है। वह परम्परागत मूल्यों, रीति-रिवाजों से ही प्रेम करता है। समाज में सम्मिलित होने वाले नवीन तत्वों का स्वागत नहीं कर पाता। परिणामत: परिवर्तनशीलता और नवीन तत्वों के प्रति घृणा भाव उत्पन्न हो जाता है। घृणा तनाव में बदल जाती है। तनाव की परिणति हिंसा में होती है। इससे ही आतंकवाद का जन्म होता है। झगड़े, दंगा-फसाद, हत्या, लूटपाट, नरसंहार इत्यादि सामाजिक तनाव के ही विविध रूप है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सामाजिक तनाव से छुटकारा दो प्रकार से संभव है– प्रथम–समाज विभेदक तत्वों को हटा दिया जाए। ऐसा करना अंशत: ही संभव है, पूर्णत: नहीं। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, भाषा, देश इत्यादि को भागीरथ प्रयास करके हटाया जा सकता है। अलग–अलग जातियों को सत्ता के बल पर एक जाति मानव–जाति में बदला जा सकता है। अलग–अलग धर्मों और संप्रदायों का मानव–धर्म में विलिनीकरण सम्भव तो नहीं है, लेकिन धर्मों और सम्प्रदायों से व्यक्ति को मुक्त करके श्रेष्ठ आचार–संहिता को मानव धर्म के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार विश्व में प्रचलित समस्त प्रकार की भाषा से व्यक्ति को मुक्त करके एक ही प्रकार की भाषा का प्रचलन किया जाए तथा अलग–अलग राष्ट्रों को विश्व राष्ट्रों में बदल दिया जाए।

सामाजिक तनाव ने मुक्ति हेतु उपर्युक्त समाधान सैद्धान्तिक स्तर तक तो मान्य है, लेकिन व्यावहारिक धरातल पर यह सम्भव नहीं है। इसस समाधान को व्यवहार में बदलने पर समाज विभेदक तत्त्वों में दृढ़ आस्था रखने वाले व्यक्ति और अधिक उग्र होंगे। सामाजिक तनाव को कम करने के स्थान पर और अधिक बढ़ावा मिलेगा। इसी प्रकार वर्ण और लिंग भेदक तत्वों को प्रयत्न करके भी मिटाया नहीं जा सकता। अत: सामाजिक तनाव को दूर करने का दूसरा उपाय है – समाज विभेदक तत्त्वों के अस्तित्व के साथ छेड़छाड़ नहीं की जाय। उनका अस्तित्व यथावत् बना रहें। उन तत्त्वों को परस्पर समन्वय, मैत्री, सहिष्णुता, सहयोग, समानता इत्यादि धागों से गूंथ दिया जाए, ताकि समाज विभेदक तत्त्व मानव समाज पर प्रभावी न हो, मानवीय मूल्यों का नाश न करें।

अणुव्रत आन्दोलन सामाजिक तनाव से मुक्ति हेतु दूसरे प्रकार के समाधान में विश्वास करता है। यह आन्दोलन समाज विभेदक तत्त्वों को मानवीय संकल्प शक्ति, मानव–धर्म और श्रेष्ठ आचार–संहिता के माध्यम से गुलदस्ते में सजा देता है। ताकि तनाव के स्थान पर समन्वय, बंधुत्व, समानता इत्यादि के पुष्प पुल्वित हो।

अणुव्रत अनुशास्ता ने सामाजिक तनावों के सन्दर्भ में अणुव्रत आन्दोलन को ठोस समाधान के रूप में प्रस्तुत किया है। अणुव्रत जन जीवन के लिए उपयोगी तत्त्व है। इसकी उपयोगिता का सबल साक्ष्य है इसकी सार्वभौमिक, सार्वकालिक और सार्वजनित आचार संहिता। आचार संहिता के निर्धारण का आधार है लोक जीवन में परिव्याप्त वे समस्याएं जो मानवता और मानवतावादी मूल्यों की अवहेलना से उत्पन्न हुई हैं। उन समस्याओं में जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिक, सत्ता और सम्पदा के आधार पर उच्चता, नीचता, पद लोलुपता, रूढ़िवाद, भ्रष्टाचार आदि इस युग की ज्वलंत समस्याएं है। उक्त समस्याओं के सन्दर्भ में अणुव्रत एक ठोस समाधान है। इसके बिना भारतीय संस्कृति का विकास नहीं हो सकता। भारत की व्रत, त्याग, चरित्र या अध्यात्म प्रधान संस्कृति अथवा इसके समकक्ष किसी आन्दोलन के द्वारा ही संप्रेरित होकर फलती–फूलती रही है। चिंतकों के अनुसार अणुव्रत एक ऐसा कार्यक्रम है, जिसके द्वारा हम समग्र मानव–जाति को लाभान्वित कर सकते हैं। अणुव्रत वर्तमान का आशादीप बनकर प्रदीप्त हो रहा है। भ्रष्टाचार की जड़ों को उखाड़ने के लिये जन–जीवन में स्वयं उथल–पुथल मच रही है। नैतिक मूल्यों के प्रति धारणाएं सुदृढ़ बन रही हैं।

सामाजिक तनाव तभी प्रकट होते हैं, जब वैचारिक असहिष्णुता हो तथा व्यक्ति हठवाद का शिकार हो। जहाँ पर वैचारिक सहिष्णुता अनेकांतवाद और सामंजस्य का वातावरण हो, वहां पर सामाजिक तनाव सामाजिक सौहार्द और भाईचारे में परिवर्तित हो जाता है। अणुव्रत आन्दोलन सामाजिक तनाव को दूर करके सामंजस्य, समन्वय और बंधुत्व की भावना विकसित करने में सफल रहा है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मानव–धर्म वही हो सकता है, जो केवल धर्म हो, सम्प्रदाय न हो तथा जो किसी के द्वारा अधिकृत न हो। मानव–धर्म की स्थापना होते ही सामाजिक तनावों में होने वाली अभिवृद्धि में कमी आती है तथा धीरे–धीरे सामाजिक तनावों से समाज मुक्त हो जाता है। अणुव्रत आन्दोलन नैतिक चेतना का आन्दोलन है। जन–जीवन में नैतिक और चरित्रिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हो यही इसका लक्ष्य है। अणुव्रत लक्ष्य और भावना की दृष्टि से व्यापक और असाम्प्रदायिक है। स्वयं अणुव्रत अनुशास्ता ने इस तथ्य को स्वीकार किया है, तेरापंथ का अणुव्रत पर प्रभाव नहीं पड़ा है, बल्कि अणुव्रत का तेरापंथ पर अवश्यमेव प्रभाव पड़ा है। परिणामत: तेरापंथ अधिक व्यापक बना है। साम्प्रदायिक भावनाओं से मुक्त बना है। उसमें अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। परम्पराओं से चिपके रहने का मोह उसने छोड़ा है। समाज के लोगों में नैतिक चेतना उद्‌बुद्ध हुई है। इस प्रकार अनेक प्रकार से वह लाभान्वित हुआ है। यह कहा जा सकता है कि वही नैतिक आन्दोलन श्रेष्ठ है, जो सम्प्रदाय में असम्प्रदाय दृष्टिकोण उत्पन्न कर दें। ऐसा आन्दोलन सम्प्रदाय और धर्म की संकीर्णता में स्वयं को सिमटा नहीं लेता। अणुव्रत आन्दोलन इस दृष्टि से पूर्णत: सफल रहा है।

''मजहब (धर्म) नहीं सिखाता आपस में बैर रखना। कवि इकबाल का यह कथन पूर्णत: सही है। धर्म मानव के नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण को व्यापक करता है, ताकि वह उतकृष्ट जीवन जी सकें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी धर्म में जब कट्टरता आ जाती है, तब मानव का बौद्धिक विकास रूक जाता है। वह स्वधर्म की प्रशंसा और पर धर्म की आलोचना करने लगता है। अपन धर्म की समालोचना तक करने के लिए वह तैयार नहीं होता। इस प्रकार की धार्मिक कट्टरता की परिणति बौद्धिक हिंसा में होती है। जो अवसर मिलते ही कायिक हिंसा में बदल जाती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसने अनेक धर्म-युद्धों को सहन किया है। इन युद्धों ने धार्मिक कलाकृतियों को नष्ट किया। अनेक धार्मिक स्थल नष्ट हो चुके हैं। असंख्य मानव काल कवलित हो चुके हैं। राष्ट्र आज भी धार्मिक उन्माद से संत्रस्त है। निरपराध लोगों की धर्म के नाम पर हत्या की जा रही है। ऐसे माहौल में अणुव्रत आंदोलन ने धर्म समभाव, सहिष्णुता, सामंजस्य और सहयोग करने का बीड़ा उठाया है, ताकि भविष्य में किसी और धर्म युद्ध का सामना न करना पड़े। प्रत्येक सम्प्रदाय का जन्म धर्म प्रचार के लिए नहीं होता है, किन्तु सम्प्रदाय ने मानवता को प्रधानता देने के स्थान पर अपने धर्म को ही प्रमुख दी है। स्वधर्म की रक्षा तथा परधर्म पर आक्रमण करने के कारण सम्प्रदाय ने मानवता को जोड़ा नहीं विभक्त किया है। आज मानवता खण्डित हो चुकी है। जाति के नाम पर उसके टुकड़े किए गये, भाषा के आधार पर उसके टुकड़े किये गये, राजनीतिकवादों के नाम पर उसके टुकड़े किए और सबके अधिक दु:ख इस बात का है कि जिस धर्म का उद्देश्य टूटे दिलों को जोड़ना रहा है, ऐसे धर्म के नाम पर भी मानवता के टुकड़े किये गये। धर्म अपने आपमें अखण्ड है। प्राणिमात्र की एकता और अखण्डता की साधना ही उसका प्रयोजन है, किन्तु आज वह वैष्णव, जैन, वैदिक, बौद्ध, इस्लाम, क्रिश्चन और पारसी धर्म पता नहीं कितने-कितने टुकड़ों में बांट दिया गया है।

अणुव्रत आंदोलन मानव-धर्म की स्थापना करना चाहता है। एक ऐसा विशेषण रहित मानव धर्म जो मानव-मानव को आपस में जोड़ सके धर्म को यह निविशेषण देखना चाहता है, क्योंकि आज तक जितने भी विशेषण लगे उन्होंने मनुष्य को बांटने का ही प्रयत्न किया है, इसलिए युगीन परिस्थितियों में एक विशेषण रहित धर्म की आवश्यकता है, जो मानव को मानवता का पुजारी बना सके। ''मानव''- यह विशेष भी केवल इसलिए है, क्योंकि धर्म की विशेष उपयोगिता मानव के लिये ही है। इस अणुव्रत धर्म में मानव मात्र के लिये उसके द्वार खुले होंगे और मानवीय अखण्डता ही उसका सर्वोपरि लक्ष्य होगा।

इसमें समस्त धर्म-सम्प्रदायों को समान रूप से अवकाश होगा। अपने-अपने साम्प्रदायिक विधि-विधानों, क्रियाकाण्डों और पूजा उपासनाओं का उसी रूप से पालन करते हुए हर व्यक्ति उसमें सम्मिलित हो सकेगा। पूजा, उपासना और क्रिया-काण्ड की विविधता रहते हुए भी मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हेतु सब एक मंतव्य से काम करें, यही उसका स्वरूप होगा। मानव-धर्म में पूजा उपासना की कोई विधि नहीं होगी। उपासना के स्थान पर वहां साधना होगी। स्वाध्याय, ध्यान, व्यवहार, पवित्रता, मानवीय गुणों का विकास ये उसके साधन सूत्र होंगे। इसके सिवाय बाहरी कर्मकाण्डों और पूजा उपासनाओं का उसमें स्थान नहीं होगा। अणुव्रत अनुशास्ता ने पूजा-उपासना के उस पक्ष के संरक्षण की बात कही है, जो मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा में बाधक न हो। अस्पृश्यता, जाति भेद, वर्ण भेद, लिंग भेद, देवी के लिये होने वाला बलिदान, धर्म के नाम पर होने वाले परिग्रह-संग्रह आदि अनेक ऐसे तत्त्व हैं, जो मानवीय भावनाओं को ठेस पहुंचाने वाले हैं। अत: अणुव्रत आचार-संहिता में अनेक ऐसे नियम इसी दृष्टि से रखे गये हैं, जिनमें मानवीय भावनाओं को ठेस पहुंचाने वाली उपासनाओं और आस्थाओं का अंत हो।

5.13.4.1 सामाजिक-तनाव जातिवाद : जातिवाद ने भी सामाजिक तनावों में अभिवृद्धि करने में अपनी महत्ती भूमिका का निर्वहन किया है। अस्पृश्यता या छूआछूत तथा ऊँच-नीच की भावना भी जातिवाद का परिणाम है। जातिवाद से आशय उस स्वजातीय और परजातीय भावना से हैं, जिसके कारण व्यक्ति अपने को स्वजातीय के आधार पर मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा एक-दूसरे से संबंधित समझते हैं तथा पर-जाति के लोगों को अपने से पृथक्। स्वजातीय साधना के कारण व्यक्ति समाज और राष्ट्र के हितों और कानूनों का उल्लंघन करके अपनी जाति के सदस्यों के उत्थान, एकता और सामाजिक स्थिति के विकास में संलग्न रहता है। समाज की व्यवस्थाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिए विभिन्न जातियों का जन्म होता रहा है। किन्तु जातिवाद कोई तात्विक चीज है, ऐसा अणुव्रत दर्शन नहीं मानता। वैदिक परम्परा जातिवाद को अवश्य तात्विक मानती है, क्योंकि उसने जाति व्यवस्था को अवश्य ईश्वर कृत स्वीकार किया है, फिर भी प्रारंभिक काल में जाति-व्यवस्था कट्टर नहीं थी। व्यक्ति अपने व्यवसाय को इच्छानुसार बदल सकता था। उस समय समाज में चार प्रकार के कर्त्तव्य निर्धारित किए गए थे -

ब्राह्मण-कर्म, क्षत्रिय-कर्म, वैश्य-कर्म और शुद्र-कर्म।

व्यक्ति इन सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति हेतु अपनी योग्यता, रूचि, शारीरिक गठन आदि के आधार पर कर्म का चयन कर लेता था। वह इच्छानुसार अपना कर्त्तव्य क्षेत्र बदल सकता था। इस समय कार्यप्रणाली एवं धर्मस्थली एक ही थी। यह आदर्श समाज की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

व्यवस्था थी। गीता में भी इस प्रकार की वर्णाश्रम व्यवस्था को श्रेष्ठ माना गया था। इसका पालन करना ही धर्म कहलाता था। धीरे-धीरे यह वर्ण-व्यवस्था कट्टर जाति व्यवस्था में बदल गई, क्योंकि लोग अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन वंशानुगत रूप से करने लगे। कट्टर जाति व्यवस्था ने ही ऊँच-नीच अस्पृश्यता आदि की भावना उत्पन्न की। शूद्र वर्ग पर सभी प्रकार की नियोग्यताएं थौंप दी गयी यह वर्ग उच्च वर्ग द्वारा शोषित होने योग्य मात्र रह गया। समाज का उच्च वर्ग समस्त प्रकार की सुविधाओं का उपयोग करने लगा, यही सामाजिक तनावों का जन्म हुआ। निम्न वर्ग के साथ भेदभाव पूर्ण दृष्टि रहती थी। उनको शिक्षा से वंचित किया जाता था। सामान्य अपराध करने पर भी उनको कठोर दंड दिया जाता था। महावीर, बुद्ध कालीन, वैश्य-वर्ग यद्यपि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे, तथापि उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। समाज का उत्पादक वर्ग मात्र यही था। इस वर्ग पर सभी वर्गों के भरण-पोषण का दायित्व था।

इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था से आक्रांत निम्न वर्ग अपना बहुंमुखी विकास नहीं कर पाया। उसका व्यक्तित्व सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से पूर्णत: शून्य हो गया। इस प्रकार समाज में तिरस्कृत और अविकसित वर्ग का विकसित वर्ग के प्रति आक्रोश हिंसा के रूप में फूटना स्वाभाविक था। ऐसा जनाक्रोश विस्फोट के रूप में सामने आता गया। मनुष्य में जातीय भावना आज भी प्रबल है। वह स्वजातीय बंधुओं से स्नेह तथा परजातीय बंधुओं से द्वेष करता है। जातीय कट्टरता, दंगों, हत्याओं, लूटमार इत्यादि के रूप में सामने आती है। इसमें मानव-समाज ही विखण्डित होता जा रहा है। जातीय दंगों से मानव का रक्त बहता है न कि किसी जाति विशेष के मानव का। रामकृष्ण परमहंस का कथन यहाँ पर उद्धरित करना समीचीन होगा, ''गाये भिन्न-भिन्न रंग की होती हैं, फिर भी उनमें से सफेद दूध ही निकलता है।'' इसी प्रकार मानव भले ही अलग-अलग जातियों, धर्मों एवं राष्ट्रों में विभक्त हो, उनका रक्त लाल ही होता है।

जातिवाद के भंयकर दुष्परिणाम सामने आये हैं। इससे देश की एकता और अखण्डता खतरे में पड़ गयी है। जातिगत भावनाओं ने भी क्षेत्रीयवाद को प्रोत्साहित किया है। जातिगत भावनाओं ने मानवतावाद की स्थापना में बाधाएं उत्पन्न की है। इससे भाई-भतीजावाद और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिला है। राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा हुई है। जातिगत भावनाओं की परिणति संघर्ष और टकराव में हुई है। जातीय दंगों में असंख्य व्यक्ति काल-कवलित हो चुके हैं। इसमें राष्ट्र की अमूल्य सम्पदा नष्ट हो चुकी है। जातीय दंगे भारत में ही नहीं, भारत के बाहर भी हो रहे हैं। श्रीलंका में तमिलों ओर श्रीलंका के मूल निवासियों (सिंहलियों) के मध्य प्रतिदिन भीषण नरसंहार हो रहा है। पाकिस्तान में मुसलमानों और सिन्धवासियों के मध्य जातीय संघर्ष हो रहे हैं। अफगानिस्तान, ईरान, इराक भी जातीय संघर्ष से त्रस्त हैं।

मानव-समाज को जातीय संघर्ष से मुक्त नहीं किया गया तो मानव-समाज का अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। अणुव्रत आन्दोलन इसका समाधान प्रस्तुत करता है। यह आन्दोलन विविध जातियों के अस्तित्व को तो स्वीकार करता है, परन्तु साथ ही उनमें किसी प्रकार के भेदभाव न करने का आह्वान करता है। जातीय संघर्ष की भीषणता को ध्यान में रखकर अणुव्रत अनुशास्ता ने जाति, धर्म, सम्प्रदाय में भेदभाव न रखने हेतु इसको अपना प्रमुख उद्देश्य बनाया है। इसका यहां पुन: वर्णन करना समीचीन होगा :- ''जाति, वर्ण, देश और धर्म का भेदभाव न रखते हुए मानव मात्र को सदाचार की ओर आकृष्ट करना।'' जातीय-संघर्ष का समाधान उदारवादी एवं अनाग्रहपूर्वक चिन्तन, अनेकांतिक दृष्टिकोण तथा समभाव, समन्वय, मैत्री इत्यादि तत्त्वों का विकास करके की जा सकती है। अणुव्रत आन्दोलन अपनी आचार-संहिता तथा अणुव्रत-साधना द्वारा इस प्रकार का दृष्टिकोण व्यक्ति में उत्पन्न करने की चेष्टा करता है।

5.13.4.2 अस्पृश्यता : अस्पृश्यता जाति-प्रथा का भंयकर अभिशाप है। यह हिन्दू समाज के धार्मिक व सांस्कृतिक इतिहास का एक कलंक है। महात्मा गाँधी ने उचित ही लिखा है-''अस्पृश्यता को मैं हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा कलंक मानता हूँ।'' यह सामाजिक असमानता का वह नग्न दृश्य है, जिसके आधार पर मनुष्य, मनुष्य के केवल स्पर्श मात्र से भ्रष्ट तथा अपवित्र हो जाता है। लोग उनके समीप आने एवं देखने मात्र से अपवित्र हो जाते हैं। अस्पृश्यता के दुष्परिणामों का विवेचन महात्माओं गाँधी ने अत्यन्त सुन्दर प्रकार से किया है :-''सामाजिक दृष्टि से वे कोढ़ी है। आर्थिक दृष्टि से वे गुलामों से भी बदतर है। धार्मिक दृष्टि से उन्हें उन स्थानों जिन्हें हम भगवान् का घर कहते हैं, में प्रवेश निषिद्ध है। उन्हें सार्वजनिक मार्ग, सार्वजनिक विद्यालय, सार्वजनिक अस्पताल, कुएं, नल, पार्क तथा अन्य वस्तुओं का प्रयोग निषिद्ध है। ये शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकते। भूमि के स्वामी नहीं बन सकते।''

अस्पृश्यता ने मानव-मानव को अभिजात्य वर्ग और शुद्ध वर्ग में विभक्त कर दिया है। इस प्रकार की रूढ़िवादिता नगरों की अपेक्षा ग्रामों में अधिक दृष्टिगोचर होती है। अस्पृश्यता की दशा दासों से भी बुरी थी। दास केवल एक व्यक्ति के अधीन होता है, जबकि अछुतों पर तो गाँव भर की दासता का भार होता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अस्पृश्यता की समस्या ऋग्वेद काल में नहीं थी। इसका आरम्भ गुप्त युग में हुआ। इस वर्ग को नगर प्रवेश पर प्रतिबन्ध था। नगर प्रवेश से पूर्व ये ढ़ोल बजाते थे, ताकि समाज के उच्च वर्ग को इनके आगमन का पता चल जाता था। समाज का उच्च वर्ग इनकी छाया से भी दूर रहता था। अस्पृश्यता वर्ग पर खान-पान, शिक्षा-दीक्षा, रहन-सहन इत्यादि पर प्रतिबन्ध था। इस प्रकार भारतीय समाज का एक वर्ग पूर्णत: तिरस्कृत था। इनकी न तो सामाजिक प्रतिष्ठा थी न ही राजनैतिक सम्मान। इनका कार्य था उच्च वर्ग के लोगों का मैला ढ़ोला। अस्पृश्यता के विरूद्ध समाज सुधारकों ने समय-समय पर आवाज भी उठाई। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय समाज के पतन एवं गुलामी का प्रमुख कारण माना-''छूओ मत मुझे'' अस्पृश्यता की भावना। गाँधीजी ने भी अस्पृश्यता के विरूद्ध आवाज भी उठाई और इस वर्ग को हरिजन भगवान् के प्रिय के नाम से सम्बोधित किया। संविधान की धारा 17 में भी अस्पृश्यता को व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के विरूद्ध बताया गया है।

अस्पृश्यता की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसका प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों में अत्यधिक है। वहां पर अछूत व्यक्ति ढाबे या होटल में प्रवेश नहीं कर सकता। मनोरंजन के स्थानों पर आ-जा नहीं सकते। बस में बराबर नहीं बैठ सकते। उन पर निरन्तर अत्याचार होते रहते हैं। इस वर्ग को अछूत, घृणित और तिरस्कृत समझने वाले सम्पन्न वर्ग दिन दहाड़े इनकी औरतों के साथ कुकर्म करने से नहीं चूकते।

अस्पृश्यता की गंभीर समस्या से समाज का एक वर्ग पूर्णत: उपेक्षित एवं पिछड़ा हुआ रह गया है। अणुव्रत अनुशास्ता ने उस वर्ग के उत्थान के लिये अणुव्रती को छुआ-छूत नहीं मानने का आव्हान किया। उन्होंने हरिजनों को समस्त अधिकार प्रदान करने तथा उनका सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास करने में सहयोग देने का आह्वान किया। उन्होंने हरिजनों के मन्दिर प्रवेश पर प्रतिबन्ध को अनुचित ठहराया। उन्होंने ऐसे अनेक स्थानों पर रूकना और प्रवचन देना इसलिये अस्वीकार किया, क्योंकि वहां हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध था। अणुव्रत अनुशास्ता के अनुसार अस्पृश्यता की भावना तब तक खत्म नहीं होगी, जब तक यह वर्ग आपस में अस्पृश्यता की भावना को समाप्त नहीं कर दें। यह वर्ग आपस में एक दूसरे वर्ग को हीन मानता है। उनका स्पर्श नहीं करता। उनके हाथ का पानी नहीं पाता। यदि स्वर्ण वर्ग से छूआछूत की भावना खत्म करना चाहते हैं, तो पहले परस्पर की भावना को मिटाना होगा। अस्पृश्यता की समस्या समाधान हेतु अणुव्रत-आन्दोलन दृढ़ता के साथ आगे बढ़ता जा रहा है। कालान्तर में रंगभेद नीति के निरूद्ध विश्व जनमत का निर्माण हुआ व विश्व के अनेक राष्ट्रों में रंगभेद की नीति का अन्त हुआ। अणुव्रत आन्दोलन ने इस मानव निर्मित त्रासदी के विरूद्ध अभियान चलाया। यह आन्दोलन रंगभेद नीति का विरोध कर मानवीय एकता में विश्वास करता है।

5.13.4.3 रंगभेद : अस्पृश्यता की तरह रंगभेद की समस्या भी अत्यन्त गंभीर एवं विश्वव्यापी है। अंग्रेजों ने स्वयं को अभिजात्य वर्ग का एवं भारतीयों को रंगभेद के आधार पर निम्न वर्ग का माना। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की समस्या अपने प्रचण्ड रूप में विद्यमान थी। राष्ट्र पिता महात्मा गाँधी को भी दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद नीति का शिकार होना पड़ा।

5.13.4.4 भाषावाद : भाषा विचार-संप्रेषण का माध्यम है। सांस्कृतिक, सामाजिक संबंधों, मूल्यों, आदर्शों इत्यादि की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही सर्वोत्तम ढंग से हो सकती है। व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति मातृ भाषा में ही अच्छे ढंग से कर सकता है। भाषावाद एक सीमा तक उचित भी है, यह समाज विभेदक तत्त्व के रूप में परिणत उस समय हो जाती, जबकि व्यक्ति मातृ भाषा अथवा अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं को असम्मान की दृष्टि से देखें तथा अन्य भाषा विदों के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण अपनायें।

भाषावाद एक विशेष क्षेत्र के व्यक्तियों द्वारा बोली जाने वाली भाषा के आधार पर विकसित होनी वाली वह मनोवृत्ति है। जो उस क्षेत्र के निवासियों को अपनी भाषा के प्रति अन्ध-भक्ति से जोड़ता है तथा अन्य भाषाओं की अवमानना के लिये प्रोत्साहित करती है।

भारत में भाषावाद की समस्या स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से है। भाषावाद ने भारत को उत्तर-दक्षिण में बाँट दिया है। उत्तर-भारत हिन्दी भाषी क्षेत्र है। यहाँ पर पंजाबी, कश्मीरी, उर्दू, राजस्थानी, गुजराती, बंगाली, उड़िया, असमियाँ भाषा बोली जाती हैं। दक्षिण भारत अहिन्दी भाषा क्षेत्र है। यहां पर मराठी, तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम इत्यादि भाषायें बोली जाती है। भाषावाद की प्रमुख समस्या राजभाषा के प्रश्न को लेकर है। हिन्दी को राजभाषा का दर्जा देने के पश्चात् भी उसे वास्तविक रूप से वह सम्मान प्राप्त नहीं है जिसकी वह अधिकारिणी है। दक्षिण भारतीय लोग हिन्दी का विरोध करते हैं। भाषावाद के चलते सन् 1965 में दक्षिण भारत में अनेक आत्मदाह हुए। देश के कर्णधारों ने भाषा के आधार पर राज्य की सीमा का पुन: निर्धारण किया। भाषायी आधार पर होने वाली राज व्यवस्था ने राष्ट्रीय अखण्डता को गहरा धक्का पहुंचाया। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं में भले ही सुगमता हुई हो, किन्तु इसके दुतगामी परिणाम अनिष्टकर ही सिद्ध हुये हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस भाषायी आधार ने सम्प्रदायवाद और जातिवाद को भी उकसाया। अलग-अलग प्रान्तों की स्थापना के नारे भी उसके बाद ही अस्तित्व में आये। आज स्थिति यह है कि प्रान्तों में भी हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चियन आदि अपने लिये अलग प्रान्तों की माँग कर रहे हैं। भाषावाद की समस्या से आहत भारत को शान्ति, उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिये अणुव्रत अनुशास्ता ने निम्नोक्त सुझाव दिये हैं।

1. हिन्दी को राजभाषा बनाने की उतावली न करके उसके राष्ट्र व्यापी प्रचार की ओर विशेष ध्यान दिया जाय।
2. प्रान्तीय भाषाओं का विकास किया जाय। उन भाषाओं में विज्ञान, तकनीकी, ज्ञान, शासन आदि विषयों पर साहित्य का निर्माण किया जाय और इन्हें राजभाषा का दर्जा दिया जाय।
3. हिन्दी को थोपा न जाय, किन्तु उसके लिये जनता के मानस को तैयार किया जाय।

अणुव्रत में भी भाषायी भेदभाव न मानने का आह्वान अनुशास्ता ने अणुव्रतियों से किया है।

5.13.4.5 प्रान्तवाद : इसका संबंध एक प्रान्त विशेष में रहने वाले व्यक्तियों की उस भावना से हैं, जिसके अन्तर्गत वे अपनी एक विशेष भाषा, सामान्य संस्कृति, इतिहास तथा व्यवहार प्रतिमानों के आधारों पर प्रान्त से विशेष अपनत्व महसूस करते हैं तथा प्रान्तीय आधार पर स्वयं को एक समूह के रूप में देखते हैं।

राष्ट्र अनेक राज्यों अथवा प्रान्तों में विभक्त है। राज्यों की आवश्यकता अनेक कारणों से होती है। राष्ट्र को राज्यों में विभक्त करने से राज व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने में मदद मिलती है। क्षेत्रिय संस्कृति, भाषा, कला एवं साहित्य को संरक्षण एवं प्रोत्साहन देने के लिये भी प्रान्त आवश्यक है। भौगोलिक सीमा भी राज्य को जन्म देती है। प्रान्तीयता या प्रान्तवाद की विघटनकारी प्रवृत्तियों का उदय निश्चय ही इस देश के लिये एक विकट समस्या का रूप धारण करता जाता है। यह प्रवृत्ति प्रत्येक कदम पर प्रत्येक पल में अधिकाधिक सामने आकर हमारी राष्ट्रीयता, समग्रता और सार्वभौम एकत्व के सामने एक मोटा प्रश्न-चिन्ह् अंकित कर रही है।

प्रान्तीयता एक ऐसा धीमा जहर है, जो प्रत्यक्ष रूप से न तो दिखाई ही देता है और न इतना घातक ही प्रतीत होता है। परन्तु देश और राष्ट्र की धमनियों में अलक्षित रूप से धीरे-धीरे फैलकर भीतर ही भीतर उसे नितांत खोखला और स्थितिहीन बना देता है। इस विष का उपचार है सजग एवं उदार राष्ट्रीयता की भावना का प्रबल उदय। प्रान्तीयता की भावना जब तक राष्ट्रीय एकता में बाधक न हो, तब तक उचित है अन्यथा अनुचित। आजकल प्रान्तीयता की भावना बदली जा रही है और राष्ट्रीय भावना में कमी होती जा रही है। प्रान्तीय भावना ने मानव समुदाय को विभक्त कर दिया है। प्रान्तवाद ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व को असंभव बना दिया है। प्रान्त के नाम पर मानव-मानव के रक्त का प्यासा हो चला है। पृथकवादी आंदोलन पंजाब, असम, कश्मीर, बंगाल, बिहारी, महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि राज्यों में भी चल रहे हैं। ये आन्दोलनकारी राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा क्षेत्रिय हितों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। प्रान्तीय सीमाओं तथा नदी-जल बंटवारे को लेकर राष्ट्रीय लोगों में क्षेत्रियता की भावना अत्यधिक भड़कायी जा रही है।

अणुव्रत आन्दोलन उग्र प्रान्तीय भावना को एकता के लिये खतरनाक मानता है। प्रान्तीयता की भावना हिंसा की जननी है। यह शान्ति, मैत्री, सहिष्णुता और समभाव की विरोधी है। यह आन्दोलन प्रान्तीयता के आधार पर मानव में भेदभाव न करने तथा हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग न लेने की बात करता है।

5.13.4.6 आतंकवाद : भारत जैसे शांति प्रिय राष्ट्र में भी गत वर्षो में आतंकवादी गतिविधियाँ बढ़ती जा रही है। पंजाब, कश्मीर, असम, दिल्ली, मुम्बई, मद्रास, बिहार इत्यादि आतंकग्रस्त क्षेत्र है। यहाँ पर हत्यायें होना आम बात है। हत्या, लूटमार, बम-विस्फोट, अपहरण इत्यादि आतंकवाद के विविध रूप है। आतंकवाद व्यक्ति को भौतिक दृष्टि से नुकसान पहुंचाने के साथ-साथ मानसिक स्तर पर भी भयभीत और आतंकित कर देता है। आतंकवादी अपने क्षुद्र स्वार्थों को राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण समझता है और उनकी पूर्ति हेतु अवैधानिक साधनों का सहारा लेता है।

आतंकवादी अपनी लक्ष्य-पूर्ति हेतु सरकार पर दबाव बनाये रखने के लिये मानव के अस्तित्व तक को समाप्त कर देता है। अणुव्रत आन्दोलन आतंकवादी समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है। अहिंसा का अर्थ है-व्यक्ति का क्षुद्र से भी क्षुद्र जीव के अस्तित्व में विश्वास तथा इनमें अविश्वास को ही हिंसा कहते हैं। इसे ही मानसिक अहिंसा एवं हिंसा कहा गया है। मानसिक हिंसा पाशविक हिंसा को जन्म देती है। जबकि मानसिक अहिंसा प्रेम, मैत्री, सदभाव, समानता, शांति इत्यादि को जन्म देती है। व्यक्ति पंच अणुव्रतों का पालन करें, रचनात्मक गतिविधियों में संलग्न रहे तो वह आतंकवादी बन ही नहीं सकता। आन्दोलन अणुव्रत साधना द्वारा मानसिक दृढ़ता प्राप्त करना संभव मानता है। यह आन्दोलन अणुव्रत को मानसिक धरातल पर विश्व शांति, निःशस्त्रीकरण, मानवीय एकता, धार्मिक सहिष्णुता इत्यादि का अभ्यास कराता है। मानसिक दृढ़ता प्राप्त व्यक्ति आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त नहीं हो सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.13.4.7 आर्थिक कारण : आर्थिक कारणों ने भी सामाजिक तनावों को जन्म देने में महत्ती भूमिका निभायी है। गरीबी, बेरोजगारी महँगाई इत्यादि ने वर्ग संघर्ष को प्रोत्साहन दिया है। ये सामाजिक असन्तोष के कारक है। भारत की अधिकांश आबादी गरीब है। लगभग 60 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन कर रही है। देश की 10 प्रतिशत जनसंख्या के पास भारत की 60 से 70 प्रतिशत सम्पदा है। अत: धनी एवं निर्धन वर्ग के मध्य खाई बढ़ती जा रही है। पूंजीपति वर्ग एवं व्यापारी वर्ग गरीबों का शोषण कर रहे हैं। बढ़ती हुई महँगाई ने भी जीवन यापन को अत्यन्त महंगा कर दिया है। जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं हो पा रही है।

भारत में बेरोजगारी की बढ़ती हुई जनसंख्या भी चिन्ता का कारण है। जनसंख्या में तीव्र वृद्धि, औद्योगिकरण तथा ग्रामीण अर्द्ध-रोजगार ने बेरोजगारी समस्या को बढ़ा दिया है। वर्तमान समय में लगभग तीन करोड़ युवा बेरोजगार हैं।

अणुव्रत आन्दोलन इन आर्थिक कारणों को दूर कर सामाजिक तनाव को समाप्त करने का प्रयास करता है। यह समाज में अल्प परिग्रह एवं इच्छा संयम पर बल प्रदान करके पूंजीवादी शोषण से श्रमिकों को मुक्त करता है। ब्रह्मचर्याणुव्रत को अपना कर जनाधिक्य को नियंत्रित करता है। यह समाजवाद का पूर्ण समर्थन करता हैं। सामाजिक विषमता, वैमनस्य और शोषण को मिटाने के लिये समाजवाद सहज और सरल तरीका है। साथ ही लघु एवं कुटीर उद्योगों का समर्थक है। इनमें अल्प परिग्रह एवं अल्प हिंसा होती है। जबकि बड़े-बड़े उद्योगों में महापरिग्रह एवं महाहिंसा होती है। लघु एवं कुटीर उद्योग बेरोजगारी की समस्या का समाधान करने में भी सहायक है। यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में विघटन-कारी तत्त्वों को समाहित करने तथा उसे एकता के सूत्र में बांधने के लिये अणुव्रत आन्दोलन ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है एवं अहिंसक समाज व्यवस्था के स्पष्ट स्वरुप को रेखांकित करती है।

5.13.5 अहिंसक समाज व्यवस्था

अहिंसक समाज-रचना का स्वप्न बहुत मीठा है। इस समाजवादी युग में व्यक्ति और वैयक्तिकता की अपेक्षा समाज और सामाजिकता- ये शब्द अधिक प्रिय बने हुए हैं। अहिंसक व्यक्ति निर्माण की अपेक्षा अहिंसक समाज रचना में अधिक आकर्षण है। महात्मा गांधी के अस्तित्व के पश्चात् ये शब्द और अधिक मिठास से भर गए हैं। समाजवादी अवधारणा के आधार पर समाज का निर्माण हुआ। समाज रचना के बदल जाने पर भी व्यक्ति नहीं बदल रहे हैं, फलत: समाज कठिनाइयों का अनुभव कर रहा है। अपराध, हत्या, अन्याय और क्रूरतापूर्ण व्यवहार समाज नहीं करता, व्यक्ति करता है। नियन्त्रण सामाजिक हो सकता है किन्तु आचरण वैयक्तिक होता है। नियंत्रण और आचरण- इन दोनों में एकता स्थापित हो जाए तो सचमुच नए समाज-रचना की बात सोची जा सकती है। ऐसा इतिहासकाल में हुआ नहीं है और आज भी नहीं हो रहा है। इस परिस्थिति में अहिंसक समाज-रचना का स्वप्न कैसा साकार हो सकता है?

जॉन रस्किन ने एक किताब लिखी- अन्टू दि लास्ट। उन्होंने इसमें प्राचीन अर्थशास्त्रियों की समालोचना की है। पुराने अर्थशास्त्री मानते थे कि मजदूरों को अधिक वेतन देना गलत है। क्योंकि वे सुसंस्कृत नहीं हैं। यदि उन्हें अधिक वेतन मिलेगा तो वे शराब पीएँगे तथा अन्यान्य व्यसनों में फँसेंगे। जीवन को वे बर्बाद कर देंगे। रस्किन ने एक प्रश्न उपस्थित किया कि उन व्यक्तियों को असंस्कृत रखने का उत्तरदायित्व किन पर है? यदि समाज का बहुत बड़ा भाग असंस्कृत रहता है तो उसका उत्तरदायी कौन है?

समाज के दो चित्र सामने आते हैं। एक है पदार्थ-प्रतिबद्ध समाज और दूसरा है पदार्थ मुक्त समाज। जब तक जीवन है, शरीर है, जीवनयात्रा को चलाना है, जब तक पदार्थ नहीं छूट सकता। पदार्थ रहेगा। पदार्थ का होना एक बात है और पदार्थ-प्रतिबद्ध होना दूसरी बात है। पदार्थ-प्रतिबद्ध समाज वह होता है जहाँ धन साधन नहीं रहता, साध्य बन जाता है। धन साधन है जीवनयापन के लिए, किन्तु जब वह साध्य बन जाता है तो पदार्थ की प्रतिबद्धता आती है और सारे समाज में प्रतिबद्धता होती है। एक व्यक्ति क्रूर है, हिंसक है, सृजनात्मक शक्ति को खो बैठता है, ऐसा क्यों होता है? इसमें व्यक्ति के अपने दोष या कर्म-संस्कार माने जा सकते हैं, पर केवल व्यक्ति ही इसमें दोषी नहीं है, समाज-व्यवस्था भी दोषी है। समाज की जैसी अवधारणा होती है, उसी के अनुरूप व्यक्ति का रूप बनता है।

जो पदार्थ- प्रतिबद्ध समाज होता है, उसका पहला लक्षण होता है- उत्सुकता। पदार्थ के प्रति उत्सुकता निरन्तर बनी रहती है और वह वृद्धिगत होती रहती है। उत्सुकता असीम बन जाती है। अति उत्सुकता असन्तुलन पैदा करती है। और यह असन्तुलन बहुत लम्बी कार्य-कारण की श्रृंखला को जन्म देती है। पदार्थ-प्रतिबद्ध समाज में पदार्थ साध्य बन जाता है और तब प्रत्येक पदार्थ के प्रति उत्सुकता बढ़ती है, असन्तुलन बढ़ता है और मन की चंचलता बढ़ती जाती है। जिस समाज-व्यवस्था में चंचलता के बीज अधिक हैं, उस समाज-व्यवस्था में अच्छे परिणाम नहीं आ सकते। समाज में जो असंस्कृत वर्ग है उसका उत्तरदायित्व किस पर है। समाज की व्यवस्था ही इसके

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्तरदायी है। व्यक्ति अपने लिए, अपने आचरण के लिए उत्तरदायी हो सकता है, पर एक सीमा तक। व्यक्ति का अपना कर्म-संस्कार, आनुवंशिकता आदि वैयक्तिक कारण निमित्त बन सकते हैं, किन्तु समाज-व्यवस्था भी एक निमित्त है। उसकी प्रतिक्रिया होती है। जहाँ समाज की स्थितियाँ प्रतिक्रियात्मक बनती हैं, पदार्थ-प्रतिबद्धता का विकास होता है, पदार्थ सब कुछ बन जाता है, यहाँ पहला वरदान मिलता है हिंसा का, विध्वंस का और दूसरा वरदान मिलता है विध्वंसक शस्त्रास्त्रों के निर्माण का। तीसरे वरदान की पारिकल्पना नहीं की जा सकती। व्यक्ति प्रस्तर युग से चला और आज अणुयुग तक पहुँच गया। अब आगे कहाँ पहुँचेगा, कहा नहीं जा सकता। अनेक वैज्ञानिकों ने कहा है कि कि अब जब कभी युद्ध होगा, वह प्रस्तरों से लड़ा जाएगा। वहाँ हम जैसे थे वैसे बन जाएँगे। ये सारी प्रतिक्रियाएँ पदार्थ-प्रतिबद्धता के कारण होती हैं। आज दृष्टिकोण बदल गया। चंचलता, आवेश, प्रमाद और इच्छा-इनके निमित्त से समाज का दृष्टिकोण बदल गया। आज यह मानदण्ड बन गया कि अधिक उत्पादन, अधिक क्षमता का विकास और अधिक भोग।

अब हम पदार्थ मुक्त समाज की कल्पना करें। पर प्रश्न होता है कि जब तक शरीर है तब तक पदार्थ मुक्त कैसे हुआ जा सकता है? पदार्थ से कोई छूट नहीं सकता, चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी। सब पदार्थ का उपभोग करते हैं। पदार्थ से सर्वथा छुटकारा असम्भव है। इस स्थिति में पदार्थमुक्त समाज की कल्पना कैसे की जा सकती है? हम इसे समझें। पदार्थमुक्त समाज में पदार्थ जीवनयापन का साधन मात्र बन रहता है, साध्य नहीं बनता। उसमें साध्य होता है- चारित्र और नैतिकता का विकास, आध्यात्मिकता का विकास। पदार्थ साधन मात्र रहता है। इसके प्रतिकूल स्थितियों में आकांक्षा इतनी तीव्र बनी रहती है कि उनका अन्त ही नहीं आता। इसका मूल कारण है दृष्टिकोण का परिर्वतन। दृष्टिकोण का परिवर्तन होना अत्यन्त आवश्यक है और इसके लिए आध्यात्मिक विकास बहुत जरूरी है। आज समाज-व्यवस्था की सबसे बड़ी कमी यही है कि इसमें पदार्थ-व्यवस्था अर्थात् उत्पादन, वितरण और विनिमय पर बहुत ध्यान दिया गया किन्तु उत्पादक, वितरक और विनिमायक पर बहुत कम ध्यान दिया गया। इसीलिए इतनी विषमताएं और अव्यवस्थाएँ उत्पन्न हुई है। जब तक व्यक्ति को बदलने की बात प्राप्त नहीं होती तब तक समस्याएँ सुलझती नहीं हैं। जब तक यह चेतन जो कर्त्ता है, जो करने वाला है, वह नहीं बदलेगा तो प्रणलियों के परिवर्तन से कुछ नहीं बनेगा, स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहेगी।

अहिंसक समाज-रचना की पहली शर्त है- हृदय परिवर्तन। वह हमारी दुनिया की सबसे जटिल समस्या है। कानून और दंड-व्यवस्था को सामूहिक बनाया जा सकता है। हृदय-परिवर्तन को सामूहिक नहीं बनाया जा सकता। उसके लिए कोई कानून या दंड-व्यवस्था नहीं हो सकती। उसका आधार एकमात्र व्यक्ति की अपनी इच्छा है। इस स्वेच्छा के आधार पर कुछ व्यक्ति बदल सकते हैं, समाज का एक भाग बदल सकता। पूरा समाज बदल जाए, यह सोचना सहज नहीं है। इस असहजता कारण है- मानवीय प्रकृति। उसमें बहुत अधिक तरतमता है। उनमें लोभ का तारतम्य मिलेगा, स्वार्थ का तारतम्य मिलेगा। महत्त्वाकांक्षा, सत्ता व अधिकार की भूख आदि में कल्पनातीत तरतमता मिलेगी। इस तरतमता की स्थिति में समीकरण कैसे हो सकता है? समाज में दिव्यता की स्थापना कैसे हो सकती है?

समाज के लिए तीन बातें अपेक्षित हैं-(1) स्वार्थ मुक्ति, (2) परस्परता और (3) अहिंसा। समाज बनता है अहिंसा के आधार पर। अहिंसा की चेतना जागे बिना समाज का निर्माण नहीं होता है। यदि हिंसा की चेतना वालों का समाज बनता है तो हिंसक पशुओं का ही समाज बनेगा। पर आज तक बना नहीं। समाज के लिए पहली शर्त है-अहिंसा। जिस दिन मनुष्य ने अहिंसा को समझा, उसी दिन से उसका समाज बनना शुरू हुआ। अहिंसा के बिना समाज बन नहीं सकता। समाज की नींव में अहिंसा बराबर काम करती है। अहिंसा की चेतना जितनी विकसित होती है उतनी ही सामाजिक चेतना विकसित होती है। जहाँ-जहाँ अहिंसा की चेतना कम होती है, वहाँ-वहाँ सामाजिक चेतना का भी ह्रास हो जाता है। वह मूर्छित हो जाती है। भारतीय इतिहास से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जब-जब अहिंसा की बात भुला दी गई, तब-तब समस्याएं और कठिनाइयाँ उभरी हैं, रक्त-क्रान्तियां हुई हैं। आज भी भ्रष्टाचार करने वाले, अनैतिकता करने वाले, दूसरों को ठगने वाले क्रूर, व्यवहार करने वाले अहिंसा की अपेक्षा करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि समाज में विच्छृंखलता पनपती है, रक्त-क्रान्ति की सम्भावना बढ़ जाती है। जब आदमी क्रूर बन जाता है, दूसरों की निरन्तर उपेक्षा करता जाता है तब समस्याएं पैदा होती हैं। आज के तथाकथित धार्मिक समाज में भी करुणा सूख-सी गई है, क्रूरता और निर्दयता बढ़ी है। सामाजिक चेतना और धर्म की चेतना-दोनों का गहरा सम्बन्ध है। जब इनको भुला दिया जाता है तब समस्या पैदा होती है। सामाजिक चेतना के जागरण का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है- अहिंसा और करुणा का विकास। इस बिन्दु पर दोनों का सम्बन्ध जुड़ जाता है।

आदमी इतना स्वार्थी होता है, इतना छलावा और प्रवंचना करने वाला होता है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। समाज के विकास का एक सूत्र हैं- संवेदनशीलता। यही धर्म का सूत्र है। संवेदनशीलता का अर्थ है- जैसा व्यवहार अपने साथ नहीं चाहते, वैसा व्यवहार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दूसरो के साथ मत करो। जिस व्यवहार से प्रियता या अप्रियता की अनुभूति होती है, वैसे व्यवहार से दूसरे को प्रियता और अप्रियता का अनुभव होता है। इसलिए जैसा हमारा प्रियता या अप्रियता का संवेदन है, वैसा ही तुम समाज के साथ अनुभव करो। यह संवेदनशीलता धर्म का सूत्र है, सामाजिक चेतना का सूत्र है। जो व्यक्ति समाज के प्रति जितना संवेदनशील होता है, उतना ही वह समाज को लाभ पहुँचाता है। जिस समाज में संवेदनशीलता नहीं रहती और व्यक्ति के मन में स्वार्थ भावना काम करती है। वहाँ सामाजिक चेतना नहीं जागती। समाज का अर्थ केवल एकत्रित हो जाना नहीं है। समाज एकसूत्रता से जुड़ा हुआ है। एकसूत्रता का मूल आधार है– संवेदनशीलता। जिस समाज के सदस्य एक–दूसरे की पीड़ा का अनुभव करते हैं, कठिनाइयों का अनुभव करते हैं, वहीं वास्तव में समाज बनता है। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी चिन्ता करता है, वहाँ समाज कैसे बनेगा? वह तो केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र है। शरीर में एकसूत्रता होती है प्राण की। प्राण होता है तो शरीर के सभी अवयव साथ मिलकर काम करते हैं, सबका ठीक संचालन होता है। प्राण के निकल जाने पर केवल अस्थियों का ढांचा मात्र रह जाता है। संवेदनशीलता के अभाव में समाज भी कोरा अस्थियों का ढांचा मात्र रह जाता है। वह स्वस्थ चेतनावान् समाज नहीं बनता।

वास्तव में अहिंसक समाज वह होता है, जिसमें संकल्पजा अथवा आक्रामक हिंसा के दरवाजे बन्द हो जाएं। जातीय उन्माद, साम्प्रदायिक अभिनिवेश, शोषण, दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण, अधिकार और स्वत्व का अपहरण, जीविका का विच्छेद और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति – यह सारा आक्रामक हिंसा का परिणाम है। आक्रामक हिंसा से मुक्त समाज को अहिंसक समाज की अभिधा से अभिहित किया जा सकता है।

5.13.6 अहिंसक समाज व्यवस्था : स्वरूप

जीवन की आवश्यकता नहीं छूटती– यह निर्विकल्प है। विकल्प उनके पूर्ति–क्रम में होते हैं। पूर्ति की पद्धति सामाजिक होती है। निर्वाह की जिस पद्धति को समाज उचित या अनुचित मानता है, उसके पीछे उसकी दार्शनिक मान्यताएं होती हैं। इच्छा पर नियन्त्रण करना सभी समाजों में मान्य होता है। यह समाज की एकरूपता है। नियंत्रण का तारतम्य और उसमें प्रेरक हेतु सबमें एकरूप नहीं होते। नियंत्रण के चार प्रकार है– (1) भौतिक, (2) राजनीतिक, (3) सामाजिक (4) नैतिक या आध्यात्मिक । उनके प्रेरक हेतु क्रमशः– प्रकृति–भय, राज्य–भय, समाज–भय और आत्मपतन–भय हैं। इनमें पहले तीन भय बाहरी हैं और आखिरी आंतरिक है। प्रकृति, राज्य और समाज की मर्यादा का उल्लंघन करने वाला उनके द्वारा दण्ड पाता है। इसलिए दंड की आशंका हो, वहां उनकी मर्यादा का पालन और जहां वह न हो वहां मर्यादा की अवगणना भी हो जाती है।

आत्मिक–नियन्त्रण दंड–प्रेरित नहीं होता। वह व्यक्ति का अपना आन्तरिक विवेक–जागरण है। इसलिए उसमें बाहर–भीतर का द्वैध नहीं होता। प्रकाश या तिमिर, परिषद् या एकांत में बुराई से बचने की समवृत्ति हो जाती है, यही आध्यात्मिक भय है। वह भय रखने वाला बाहर की किसी भी शक्ति से नहीं डरता, इसलिए सही माने में वह अभय है। अहिंसक समाज–व्यवस्था में नियन्त्रण का प्रेरक हेतु आत्म–पतन का भय है। उसमें वही व्यवस्था या विधि उचित मानी जाती है, जो आत्म–पतनकारक नहीं होती। आवश्यकता–पूर्ति का क्रम हिंसा को उत्तेजना देने वाला नहीं होता। वासना उसे उत्तेजित करती है। आवश्यकता और वासना का पृथक्करण करना ही अहिंसक समाज–व्यवस्था का लक्ष्य है। आवश्यकताएं अधिक रहे, वैसी दशा में नैतिक निष्ठा बन जाती सकती। उसके बिना अहिंसा केवल औपचारिक हो जाती है। इसलिए आवश्यकताएं कम करना भी अहिंसक समाज–व्यवस्था का लक्ष्य है।

अधिक आवश्यकताएं निर्वाहमूलक नहीं होतीं। वे इच्छा पर नियन्त्रण न कर सकने की स्थिति में होती हैं। यह रोग का मूल है। इच्छा पर नियन्त्रण नहीं होता है, तब आवश्यकताएं बढ़ती हैं। जब आवश्यकताएं बढ़ती हैं, नैतिक निष्ठा कम होती है। नैतिक निष्ठा कम होती है, अहिंसा औपचारिक बन जाती है। औचारिक अहिंसा से वह शांति नहीं मिलती, जो उससे मिलनी चाहिए। इसलिए अहिंसक समाज–व्यवस्था का सबसे पहला या प्रधान लक्ष्य है– इच्छा का नियन्त्रण।

5.13.7 अहिंसक समाज-व्यवस्था : तीन भूमिकाएं

कानून या विधि–विधान व्यक्ति को विकार–पक्ष से स्वभाव–पक्ष की ओर अग्रसर करता है। व्रत स्वभाव–पक्ष से हित–पक्ष की ओर जाने की साधना है या यूं कहना चाहिए– विकार और स्वभाव के विरोध होता है, तब सामाजिक विधि का निर्माण होता है तथा स्वभाव और हित में विरोध होता है तब आध्यात्मिक, नैतिक या व्रतों की साधना अपेक्षित होती है। विकार, स्वभाव और हित को परिभाषा की संज्ञा में अति मात्रा, मात्रा और अमात्रा कहा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप वासना की अति–मात्रा–पूर्ति विकार है। वासना की परिमित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मात्रा-पूर्ति शरीर का स्वभाव है। वासना-विजय या वासना की अमात्रा हित है। स्वभाव की दृष्टि से विकार अकर्त्तव्य है और हित की दृष्टि से स्वभाव अकर्त्तव्य है। शरीर-स्वभाव की दृष्टि से अति मात्रा में खाना अकर्त्तव्य है, पर आवश्यक व उपयोगी खाना अकर्त्तव्य नहीं है। परन्तु हित की दृष्टि से परिमित खाना भी अकर्त्तव्य हो जाता है। दूसरे के लिए पहले का त्याग (उत्तरवर्ती के लिए पूर्ववर्ती का त्याग) कर्त्तव्य की विशेष प्रेरणा से ही होता है। व्यक्ति में विवेक-जागरण का उत्कर्ष होता है, तभी वह स्वभाव के लिए विकार का और हित के लिए स्वभाव का त्याग करता है। जिस ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा हो, वही उसका कर्त्तव्य माना जाए तो अकर्त्तव्य जैसा कुछ शेष ही नहीं रहता। शोषण, संग्रह और सत्ता की ओर मनुष्य की जैसी स्वतः स्फूर्त प्रेरणा होती है, वैसी असंग्रह के प्रति नहीं होता। किन्तु यह विकार के मोहक आवरण से ढंकी हुई स्वाभाविक प्रेरणा है, इसलिए यह अकर्त्तव्य है। वैध ढंग से व्यापार, परिग्रह और अधिकार-प्राप्ति की ओर जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है, उसके पीछे आवश्यक या उपयोगिता की सामान्य भावना होती है, इसलिए वह सामान्य कर्त्तव्य है। अपरिग्रह और असत्ता समाज के वर्तमान मानस से स्वाभाविक प्रेरणा-लक्ष्य नहीं है, इसलिए ये प्रधान कर्त्तव्य हैं। अणुव्रत समाज-व्यवस्था में- अकर्त्तव्य का वर्जन, सामान्य कर्त्तव्य का नियन्त्रण और प्रधान का विकास- ये तीन भूमिकाएं होगी।

5.13.8 शासनमुक्त या शासनयुक्त समाज

साम्यनिष्ठ और शासनमुक्त समाज-रचना का आधारभूत तत्त्व है- मानसिक विकास। यह मानसिक विकास क्रोध, अभिमान, माया और लोभ के उपशमन से होता है। इसकी ओर पर्याप्त ध्यान दिये बिना साम्यनिष्ठ शासनमुक्त समाज-रचना की आशा नहीं की जा सकती। मार्क्स ने शासनमुक्त समाज की कल्पना की। उनके अनुसार साम्यवाद की चरम परिणति शासनमुक्त समाज है। पर साम्यवाद में वह हो नहीं सकी। साम्यवादी राष्ट्रों में शासन का नियन्त्रण अधिक कठोर हुआ है। मेरी समझ में इसका कारण है- मानसिक विकास की उपेक्षा। साम्यवादी राष्ट्रों ने समाज के भौतिक आधार में साम्य लाने का प्रयत्न किया, किन्तु उसके मानसिक विकास की ओर ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप उनकी जनता साम्यवादी हो गयी, किन्तु साम्यनिष्ठ नहीं हुई। जिसमें साम्य की निष्ठा नहीं होती, वह शासनमुक्त नहीं हो सकता। जिनका क्रोध उपशांत नहीं है वे लोग झगड़ालू होने के कारण समाज को शासनमुक्त होने में सहयोग नहीं दे पाते। अभिमानी मनुष्य दूसरों को हित मारकर वर्गभेद उत्पन्न कर देते हैं। मायावी मनुष्य दूसरों को ठगते रहते हैं। लोभी मनुष्य अपने हितों की पूर्ति के लिए दूसरों के हितों का विघटन कर डालते है। जिस समाज में उच्चता और हीनता, ठगाई और अपने स्वार्थों को प्राथमिकता देने की मनोवृत्ति होती है, वह शासनमुक्त कैसे हो सकता है? यदि मार्क्स भौतिक व्यवस्थाओं के समीकरण के साथ आंतरिक परिवर्तन की आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को जोड़ देते तो अवश्य ही साम्य का वाद साम्य की निष्ठा में बदलकर शासनमुक्त होने की ओर अग्रसर हो जाता। अहिंसक समाज में भौतिक व्यवस्थाओं के समीकरण के साथ आंतरिक परिवर्तन की आध्यात्मिक प्रक्रिया समन्वित होगी, इसलिए वह शासनमुक्ति की ओर सतत गतिशीत होगा।

5.13.9 व्यक्तिगत स्वामित्व

शासनमुक्त समाज की रचना में सबसे बड़ी बाधा है व्यक्ति की संग्रह-परायण मनोवृत्ति। हर आदमी अर्थ का संग्रह करता है और उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करता है। क्या अहिंसक समाज में यह व्यक्तिगत स्वामित्व मान्य हो सकता है? प्रवृत्ति का विकास प्रेरणा से होता है। अपने सुख और अपने स्वत्व की प्रेरणा बहुत प्रबल होती है। वैयक्तिकता को विलुप्त करने से विकास की प्रेरणा क्षीण हो जाती है और उसे अमर्यादित छूट देने से वह उच्छृंखल हो जाती है। अतः अहिंसक समाज में व्यक्तिगत स्वामित्व एक सीमित अर्थ में ही मान्य हो सकता है। अहिंसक समाज का दूसरा पहलू होगा अपरिग्रही समाज। अहिंसा और अपरिग्रह एक-दूसरे से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। अहिंसक समाज का मुख्य सूत्र है- इच्छा-संयम, संग्रह-संयम और प्रवृत्ति का विकेन्द्रीकरण। इच्छा का विस्तार, अर्थ का विकेन्द्रीकरण और हिंसा -ये सब साथ-साथ चलते हैं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा क्या होगी? अहिंसक समाज का सदस्य व्यक्तिगत धन कितना रखे, यह संख्या निर्धारित करना बड़ा जटिल है। इसका सरल सूत्र यह हो सकता है- जितनी आवश्यकता उतना संग्रह। एक मनुष्य श्रम कर धन का अर्जन करता है, वह बहुत बड़ा संग्रह नहीं कर पाता। किसी मनुष्य में व्यावसायिक बुद्धि प्रबल होती है। वह बुद्धि-बल के सहारे विपुल धन कमा लेता है। श्रमिक की आवश्यकता श्रम से नियमित होती है, अतः वह यथार्थ होती है। बौद्धिक की आवश्यकता भी बौद्धिक हो जाती है। उसकी कहीं कोई सीमा नहीं होती। अहिंसक समाज का सदस्य श्रमिक या बौद्धिक होने से पहले संयमी होगा। अतः वह वास्तविक आवश्यकताओं का अंबार खड़ा नहीं करेगा। उसका संग्रह दो नियामक तत्त्वों से नियंत्रित होगा-1. अर्जन के साधनों की शुद्धि, 2. विसर्जन।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अहिंसक समाज में साधन-शुद्धि का साध्य से कम मूल्य नहीं होगा। अत: अहिंसक समाज का सदस्य अर्जन के साधनों की शुद्धि का पूर्ण विवेक रखेगा। तथा व्यवहार में प्रमाणिक रहेगा - अर्जन के साधनों की शुद्धि रखते हुए उसे जो अर्थ प्राप्त होगा, वह उसके लिए अग्राह्य नहीं होगा। अहिंसक समाज की आवश्यकता व्यक्तिगत संयम के द्वारा नियंत्रित होगी। अत: उसका सदस्य अतिरिक्त अर्थ का विसर्जन कर देगा। वह विसर्जित अर्थ सामाजिक कोष के रूप में संगृहीत होगा। समाज-कल्याण के लिए उसका उपयोग होता रहेगा। भगवान् महावीर ने अहिंसा व्रतों के दो सूत्रों का प्रतिपादन किया था-(1) अल्प आरम्भ, (2) अल्प-परिग्रह। वर्तमान की भाषा में अल्प-आरम्भ लघु व्यवस्था या लघु उद्योग और अल्प-परिग्रह का अर्थ आवश्यकतापूरक व्यक्तिगत स्वामित्व हो सकता है। अहिंसक समाज में महाआरम्भ (वृहत व्यवसाय या वृहत् उद्योग) और महापरिग्रह (विपुलसंग्रह) व्यक्तिगत नहीं होंगे। उसका समाजीकरण दण्डशक्ति के आधार पर नहीं, किन्तु विसर्जन के आधार पर रहेगा।

5.13.10 सुरक्षा की निर्भरता

क्या अहिंसक समाज रक्षा के लिए पुलिस और सेना पर निर्भर होगा या उसे उनकी अपेक्षा नहीं होगी? इस प्रश्न पर मानवीय प्रकृति तथा समग्र विश्व के संदर्भ में विचार किया जा सकता है।

देश की आंतरिक सुरक्षा का दायित्व पुलिस पर और बाहरी आक्रमण की सुरक्षा का दायित्व सेना पर होता है। अहिंसक समाज की स्थापना होने पर आंतरिक मामलों से सेना के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होगी और पुलिस की आवश्यकता भी कम-से-कम होगी। अहिंसक समाज में अणुव्रत का यह व्रत अनिवार्यत: पालनीय होगा- ''मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और आक्रामक नीति का समर्थन भी नहीं करूंगा।'' अहिंसक समाज में सेना आक्रमणकारी नहीं होगी। उसका काम केवल अपनी सीमा की सुरक्षा करना ही होगा। पुलिस और सेना से मुक्त समाज की कल्पना प्रिय बहुत हैं, पर व्यवहार की भूमिका में उसका अवतरण अल्पकाल और साधारण प्रयत्न-साध्य नहीं है। निष्कर्ष की भाषा में निकट भविष्य में उसकी संभावना नहीं है। किन्तु आदर्श को साध्य के रुप में पाने के लक्ष्य के दायित्व का निवर्हण करना वर्तमान मानव समाज की आवश्यकता भी है।

5.13.11 मूल्य परिवर्तन

अहिंसक समाज की संरचना के सामने सबसे बड़ी समस्या है मूल्यों का परिवर्तन। श्रम, वस्तु और संग्रह के मूल्य बदले बिना अहिंसक समाज-रचना की संभावना नहीं की जा सकती। अहिंसक समाज की स्थापना में सबसे बड़ी बाधा है स्वार्थ। वह वैयक्तिक बड़प्पन और सुखानुभूति की प्रेरणा है। उसे कैसे बदला जाये? क्या जनसाधारण किसी सैद्धान्तिक प्रेरणा को सामाजिक स्तर पर स्वीकार करने को तैयार हो सकता है? इसमें भी सर्व हित-साधना की भावना कुछ ही लोगों में जागृत होती है। अधिकांश लोग अपने हित-साधन की चेष्टा में ही लगे रहते हैं। निष्कर्षत: इस समस्या का आधारभूत आश्वासन यह है कि मानव-स्वभाव सतत गतिशील और विकासशील है।

5.14 सारांश

यदि समाज की धारा को एक ही धारा में प्रवाहित किया जाए तो स्वार्थ-संयम की बात उसके संस्कारों में रूढ़ हो सकती है। इस कार्य की निष्पत्ति में आध्यात्मिक वातावरण, आंशिक रूप में सामाजिक दबाव और सत्याग्रह अत्यन्त उपयोगी हो सकते हैं। स्वार्थशासित समाज में नैतिकता, श्रम और स्वावलम्बन का अवमूल्यन हो जाता है। करुणाशसित समाज में नैतिकता, श्रम और स्वावलम्बन का मूल्य बढ़ जाता है।

5.15 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. सम शब्द कितने रूप में व्याख्यायिम हुआ है? (अ) 3 (ब) 4 (स) 5
2. समता का आधार क्या है?
   (अ) सब जीवों के प्रति सम की अनुभूति
   (ब) सब जीवों को समान न समझना
   (स) सब जीवों को निम्नतश्रेष्ठता के आधार पर वर्गीकरण करना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. अणुव्रत आन्दोलन अहिंसा प्रधान संस्कृति को प्रतिष्ठित करने के लिए कितने सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत करता है?
(अ) 5 (ब) 3 (स) 7

4. हिंसक समाज में कितने तत्व फलते-फूलते हैं? (अ) 5 (ब) 8 (स) 7

5. दर्शनशास्त्र में विरोध के कितने कारण बतलाएं गये हैं? (अ) 3 (ब) 9 (स) 11

(ब) लघु निंबधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय एकता की समस्या क्या है?
2. आध्यात्मिक समतावाद पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।
3. आत्मतुला का विस्तार क्या है?
4. अहिंसक समाज क्या है?
5. व्यक्ति और समाज के सन्दर्भों में अपने विचारों को व्यक्त करें।

(स) निंबधात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय एकता की बाधा के निवारण हेतु अणुव्रत आन्दोलन की क्या भूमिका भूमिका है?
2. समता के सन्दर्भ में आपके क्या विचार है?
3. अहिंसक समाज संरचना की संभावना कैसे व्यक्त की जा सकती है?
4. हिंसक और अहिंसक समाज के सन्दर्भ में एक निंबध लिखे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ –341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (द्वितीय वर्ष)

विषय : अहिंसा एवं शांति

द्वितीय पत्र :

अहिंसा एवं अणुव्रत

संवर्ग–1

संवर्ग–1 अणुव्रत दर्शन, व्रत अणु क्यों, व्रतों की भाषा और भावना, व्रत और अन्नमाद, व्रत का आधार, अणुव्रत रचनात्मक या निषेधात्मक, अणुव्रत और प्रतिरोधात्मक शक्ति, अणुव्रत की प्रेरणा, व्रत साधना : सामाजिक मूल्य

संवर्ग–2 अणुव्रत आन्दोलन क्यों? व्यवस्था सुधार या व्यक्ति सुधार, अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक, अणुव्रती का पात्रता।

संवर्ग–3 नैतिकता क्या? अनैतिकता का मूल, नैतिक विकास क्यों? अध्यात्मक और नैतिकता, अहिंसा एवं मूल्य मीमांसा, क्रान्ति का नया आयाम।

संवर्ग–4 अणुव्रत अन्दोलन का प्रसार एवं कार्यक्रम

संवर्ग–5 राष्ट्रीय एकता की समस्या और समाधान की दिशा, आध्यात्मिक समतावाद, आत्मतुला का विस्तार, अहिंसक समाज रचना की संभावना, अहिंसक समाज व्यवस्था

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेषज्ञ समिति

1. प्रो. राधाकृष्ण, दिल्ली
2. प्रो. जयप्रकाशम, मदुरई
3. प्रो. जे.एन. शर्मा, चण्डीगढ़
4. प्रो. बच्छराज दूगड़, लाडनूँ
5. डॉ. अनिल धर, लाडनूँ
6. डॉ. सत्यप्रज्ञा, लाडनूँ

लेखक

डॉ. अनिल धर

संपादक

प्रोफेसर शिवनारायण जोशी

कॉपीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2014

मुद्रित प्रतियां : 500

प्रकाशक :

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ–341 306 (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पाठ्यक्रम

स्नातक (बी.ए.) द्वितीय वर्ष

विषय – अहिंसा एवं शान्ति

द्वितीय पत्र – अहिंसा एवं अणुव्रत

पूर्णांक – 100

संवर्ग–1 अणुव्रत दर्शन, व्रत अणु क्यों, व्रतों की भाषा और भावना, व्रत और अन्नमाद, व्रत का आधार, अणुव्रत रचनात्मक या निषेधात्मक, अणुव्रत और प्रतिरोधात्मक शक्ति, अणुव्रत की प्रेरणा, व्रत साधना : सामाजिक मूल्य

संवर्ग–2 अणुव्रत आन्दोलन क्यों? व्यवस्था सुधार या व्यक्ति सुधार, अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक, अणुव्रती का पात्रता।

संवर्ग–3 नैतिकता क्या? अनैतिकता का मूल, नैतिक विकास क्यों? अध्यात्मक और नैतिकता, अहिंसा एवं मूल्य मीमांसा, क्रान्ति का नया आयाम।

संवर्ग–4 अणुव्रत अन्दोलन का प्रसार एवं कार्यक्रम

संवर्ग–5 राष्ट्रीय एकता की समस्या और समाधान की दिशा, आध्यात्मिक समतावाद, आत्मतुला का विस्तार, अहिंसक समाज रचना की संभावना, अहिंसक समाज व्यवस्था

उद्देश्य –

(अ) शांति आन्दोलनों के सन्दर्भ में अणुव्रत आन्दोलन के दर्शन को समझना

(ब) दर्शन के प्रयोगात्मक एवं सामाजिक स्वरूप की विवेचना करना

(स) भारतीय शान्ति आन्दोलनों की श्रंखला के अन्तर्गत अणुव्रत आन्दोलन के स्वरूप, लक्ष्य तथा प्रवर्तक का परिचय प्राप्त करना तथाा इस महायज्ञ में सम्मिलित होने को पात्रता का ज्ञान करना

(द) अणुव्रत आन्दोलन की सामाजिकता एवं नैतिकता दर्शन के चिंतन से साक्षात्कार करना एवं सामाजिक क्रान्ति के रूप में एक नवीन क्रान्ति का दर्शन करना।

(य) अणुव्रत आन्दोलन को प्रसार यात्रा एवं समाज उत्थान हेतु कल्याणकारी कार्यक्रमों का परिचय प्राप्त करना

(र) वर्तमान मनुष्य को सीमित समताओं के सन्दर्भ में एक नवीन दिशा–पथ प्राप्त करना।

(ल) गांधी पश्चात अहिंसा की प्रतिष्ठा हेतु किये प्रयासों के बारे में जानना।

(व) वर्तमान सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भों में अणुव्रत आन्दोलन की सार्थकता का परीक्षण करना।

(क) समस्याओं के उन्मूलन हेतु एक नवीन अहिंसक विचारधारा का परिचय प्राप्त करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुक्रमणिका

इकाई संख्या	इकाई का नाम	पृष्ठ
इकाई–1	अणुव्रत दर्शन, व्रत अणु क्यों, व्रतों की भाषा और भावना, व्रत और अन्नमाद, व्रत का आधार, अणुव्रत रचनात्मक या निषेधात्मक, अणुव्रत और प्रतिरोधात्मक शक्ति, अणुव्रत की प्रेरणा, व्रत साधना : सामाजिक मूल्य	1
इकाई–2	अणुव्रत आन्दोलन क्यों? व्यवस्था सुधार या व्यक्ति सुधार, अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक, अणुव्रती का पात्रता।	36
इकाई–3	नैतिकता क्या? अनैतिकता का मूल, नैतिक विकास क्यों? अध्यात्मक और नैतिकता, अहिंसा एवं मूल्य मीमांसा, क्रान्ति का नया आयाम।	57
इकाई–4	अणुव्रत अन्दोलन का प्रसार एवं कार्यक्रम	88
इकाई–5	राष्ट्रीय एकता की समस्या और समाधान की दिशा, आध्यात्मिक समतावाद, आत्मतुला का विस्तार, अहिंसक समाज रचना की संभावना, अहिंसक समाज व्यवस्था	120

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun